BAPA(N)- 120

प्रबन्ध के सिद्धान्त

Principle of Management

(प्रथम सेमेस्टर)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139
फोन नं0 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री नं0 18001804025
ई-मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन मंडल

प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रोफेसर अल्का धमेजा, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रोफेसर उमा मैदुरी, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली	प्रोफेसर बी0 अरूण कुमार, लोक प्रशासन विभाग वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
डॉ0 घनश्याम जोशी (असिस्टेन्ट प्रोफेसर) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री सुमित सिंह (असिस्टेन्ट प्रोफेसर- एसी) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
श्री शुभांकर शुक्ला (असिस्टेन्ट प्रोफेसर- एसी) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री प्रमोद चन्याल (असिस्टेन्ट प्रोफेसर- एसी) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन डॉ0 घनश्याम जोशी(असिस्टेन्ट प्रोफेसर) कार्यक्रम समन्वयक, लोक प्रशासन लोक प्रशासन विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ0 भुवन राजकीय महाविद्यालय कोटाबाग, रामनगर, उत्तराखण्ड	7, 8, 15, 16, 17 18
डॉ0 कमल कुमार लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ0प्र0	3, 4, 5, 6
डॉ0 अजित प्रताप सिंह आर0 आर0 पी0 जी0 कालेज, अमेठी, उ0प्र0	12, 13, 14
डॉ0 घनश्याम जोशी, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	1, 2, 9, 10
डॉ0 शिव प्रकाश राय, राजकीय महाविद्यालय, गरूण, बागेश्वर, उत्तराखण्ड	11

प्रकाशन वर्ष- 2023

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन- निदेशालय अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

अनुक्रम

खण्ड- 1 प्रबन्ध का अर्थ एवं प्रकृति		
1	प्रबन्ध का अर्थ एवं प्रकृति	1 – 15
2	सहभागी प्रबन्ध, अच्छे प्रबन्ध की कसौटियां	16 – 24
3	प्रबन्ध एवं लोक प्रशासन	25 – 44
खण्ड- 2 नेतृत्व एवं नीति निर्माण		
4	नेतृत्व: आवश्यकता, अर्थ, स्वरूप, नेतृत्व के गुण, नेतृत्व का विकास	45 – 54
5	नीति निर्धारण: महत्व, अर्थ, नीति और प्रशासन	55 – 66
6	नीति का निर्माण, भारत में नीति निर्माण	67 – 84
खण्ड- 3 निर्णयन		
7	निर्णय करना: महत्व, अर्थ, प्रकृति, निर्णय के आधार	85 – 94
8	निर्णय करने की समस्याऐं, नीति निर्धारण एवं हर्बर्ट साइमन	95 – 103
खण्ड- 4 नियोजन		
9	नियोजन क्यों? नियाजन- अर्थ, नियोजन के प्रकार, नियोजन की प्रक्रिया	104 – 113
10	योजना का निर्धारण- नीति आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद	114 – 123
11	भारत में नियोजन की प्रशासनिक समस्याऐं	124 – 135
12	योजना का प्रशासनिक पक्ष- परिवर्तन की रूपरेखा, जन सहयोग	136 – 141
खण्ड- 5 लोक सम्बन्ध		
13	लोक सम्बन्ध- आवश्यकता, अर्थ एवं प्रकृति	142 – 148
14	लोक सम्बन्ध के उपकरण एवं प्रविधियां- प्रचार, व्यक्तिगत सम्पर्क तथा सीधा पत्राचार	149 – 155
खण्ड- 6 समन्वय, प्रत्यायोजन, संचार और पर्यवेक्षण		
15	समन्वय	156 – 163
16	प्रत्यायोजन	164 – 172
17	संचार	173 – 184
18	पर्यवेक्षण	185 – 193

इकाई- 1 प्रबन्ध का अर्थ, स्वरूप और कार्य

इकाई की सरंचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 प्रबन्ध का अर्थ परिभाषा
1.3 प्रबन्ध का स्वरूप
1.3.1 क्या प्रबन्ध एक कला है?
1.3.1.1 प्रबन्ध की कला के रूप में कसौटी
1.3.2 क्या प्रबन्ध एक विज्ञान है?
1.3.2.1 प्रबन्ध विज्ञान की स्वरूप
1.3.2.2 प्रबन्ध विज्ञान को शुद्ध विज्ञान ना मानने के कारण
1.3.3 प्रबन्ध कला या विज्ञान दोनों रूपों में
1.4 प्रबन्ध के कार्य
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

प्रबन्ध एक ऐसी रणनीति है, जिसके सुव्यवस्थित क्रियान्यवयन से विकासशील होने की अवधारणा को विकसित अवधारणा में परिवर्तित किया जा सकता है। भारत में प्रबन्ध को कला एवं विज्ञान दोनों ही दृष्टिकोणों से मान्यता दी जाती है। ऐसी मान्यता है कि प्रबन्ध प्रशासन के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये आवश्यक कारकों में अनुकूल समन्वय स्थापित करता है, जिससे कार्य निष्पादन उचित परिणाम दे सकें। प्रस्तुत इकाई प्रबन्ध की इस अवधारणा को विस्तार से प्रस्तुत करेगी, साथ ही सहभागी प्रबन्ध एवं सुव्यवस्थित प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों को भी प्रस्तुत करने का प्रयास करेगी।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रबन्ध क्या है, इसके अर्थ को जान पायेंगे।
- प्रबन्ध की स्वरूप और उसके कार्यों के विषय में जान पायेंगे।

1.2 प्रबन्ध का अर्थ और परिभाषा

प्रबन्ध एक नया विषय है। विकसित और विकासशील राष्ट्रों को प्रबन्ध ने एक नया आयाम दिया है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद प्रबन्धकीय महत्व बहुत बढा है, किन्तु औपचारिक अध्ययन की दृष्टि से प्रबन्धन का क्षेत्र नया ही है। संकीण अर्थ में प्रबन्ध का आशय अन्य लोगों से कार्य करवाने की कला से है। विस्तृत अर्थों में प्रबन्ध,

निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय व्यवहार एवं क्रियाओं का निर्देशन करने से है। दूसरे अर्थों में किसी संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सामूहिक प्रयासों के नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन एवं नियंत्रण की प्रक्रिया को प्रबन्धन कहा जाता है।

आइये प्रबन्ध की इन परिभाषाओं को समझने तथा विश्लेषित करने का प्रयास करें-

पीटर एफ0 ड्रकर के अनुसार, ''प्रबन्ध प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक तथा जीवन प्रदायिनी अवयव है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पत्ति के साधन केवल साधन-मात्र रह जाते हैं, कभी भी उत्पादन नहीं बन पाते हैं।''

अमरीकी प्रबन्ध समिति के अनुसार, "प्रबन्ध मानवीय तथा भौतिक साधनों को क्रियाशील संगठनों की इकाइयों में लगाता है, जिसका उद्देश्य व्यक्तियों को संतोष प्रदान करना तथा सेवकों में नैतिक स्तर तथा कार्य पूरा करने का उत्तर दायित्व उत्पन्न करना है।"

प्रोफेसर एडविन एम0 रोबिन्सन के अनुसार, ''कोई भी व्यवसाय स्वयं नहीं चल सकता, चाहे वह की स्थिति में ही क्यों न हो। उसके लिए इसे नियमित उद्दीपन की आवश्यकता पड़ती है।''

टेलर के अनुसार, ''प्रबन्ध के मूल सिद्धान्त समस्त मानवीय क्रियाओं पर सरल व्यक्तिगत कार्यों से लेकर महान नियमों के कार्यों तक लागू होते हैं।''

हेनरी फेयोल के अनुसार, "प्रबन्ध एक सार्वभौमिक किया है, जो प्रत्येक संस्था में, चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या राजनीतिक, पारिवारिक हो या व्यावसयिक, समान रूप से सम्पन्न की जाती है।"

एफ0 डब्ल्यू0 टेलर के अनुसार, ''प्रबन्ध यह जानने की कला है कि आप क्या करना चाहते हैं, तत्पश्चात यह देखना कि वह सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण सम्पन्न किया जाता है।''

किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, "प्रबन्ध कार्य निष्पादन की सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण विधि की खोज करता है। इसके अनुसार प्रबन्ध का प्रमुख कार्य उत्पादन के साधनों का कुशलतम उपयोग करते हुए न्यूनतम लागत पर अधिकाधिक कार्य कराना है।"

विलियम एफ0 ग्लूक के अनुसार, ''उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का प्रभावी उपयोग ही प्रबन्ध है।''

प्रो0 जॉन एफ0 मी के शब्दों में ''प्रबन्ध न्यूनतम प्रयास द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने की कला है, जिससे नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों के लिए अधिकतम समृद्धि एवं खुशहाली प्राप्त की जा सके तथा जनता को सर्वश्रेष्ठ सम्भव सेवा प्रदान की जा सके।''

उपरोक्त परिभाषाओं की विवेचना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबन्ध एक कलात्मक एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो संस्था के निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय सामूहिक प्रयासों का नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण वातावरण की अपेक्षाओं के अनुरूप दक्षतापूर्वक एवं प्रभावी ढंग से करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवसाय के कुशल संचालन तथा उत्पत्ति के भौतिक एवं मानवीय साधनों के सर्वोत्तम उपयोग के लिए स्वस्थ प्रबन्ध अति आवश्यक है। यह एक सतत प्रक्रिया है, जिसमें निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नियोजन, संगठन, नेतृत्व, भर्ती एवं नियंत्रण के द्वारा संस्था के मानवीय एवं भौतिक साधनों के मध्य समन्वय स्थापित किया जाता है। वास्तव में यह प्रशासन का हृदय होता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रबन्ध के सम्बन्ध में दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से इसकी निम्नलिखित विशेषताओं का निरूपण किया जा सकता है। आइये इन्हें क्रमबद्ध ढंग से समझने का प्रयास करें-

1. प्रबन्ध एक ऐसी क्रिया है जो कि मनुष्य द्वारा सम्पन्न की जाती है एक यह सतत् चलने वाली प्रक्रिया है।
2. प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो आम आदमी से सम्बन्धित होती है।
3. प्रबन्ध के अन्तर्गत एक व्यक्ति विशेष को महत्व न देकर समूह को महत्व दिया जाता है, अतः प्रबन्ध एक सामूहिक प्रक्रिया है।

4. प्रबन्ध में कला तथा विज्ञान दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं।
5. प्रबन्ध एक पेशा है, क्योंकि इसका का भी अपना एक शास्त्र है, जिसके सिद्धान्त, नीतियाँ एवं नियम हैं। इनका ज्ञान शिक्षण एवं पूर्व प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है तथा प्रबन्धक इस उस ज्ञान का प्रयोग अपने उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते है।
6. समूह के प्रयासों से संस्था द्वारा पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्देशित किया जाता है।
7. प्रबन्ध का अस्तित्व अलग होता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत स्वयं कार्य नहीं किया जाता, अपितु दूसरों से कार्य कराया जाता है।
8. प्रबन्ध की आवश्यकता सभी स्तरों पर होती है, यथा उच्चस्तरीय, मध्यस्तरीय व निम्नस्तरीय।
9. प्रबन्धकीय सिद्धान्त तथा कार्य सभी प्रकार के संगठनों में समान रूप से लागू होते हैं।
10. प्रबन्ध को सार्वभौमिक प्रक्रिया इसलिए भी कहा जाता है कि प्रबन्धकीय ज्ञान के सीखने तथा सिखाने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।
11. प्रबन्धक का स्वामी होना अनिवार्य है। पेशेवर प्रबन्ध की स्थिति में प्रबन्धक प्रायः स्वामी नहीं होते।
12. प्रबन्ध की उपस्थिति को उपक्रम के प्रयासों के परिणाम, व्यवस्था, अनुशासन उत्पादन के रूप में अनुभव किया जा सकता है। अतः यह एक अदृश्य पक्रिया है।
13. 'समन्वय, प्रबन्ध का सार है' अतः प्रबन्ध को समन्वयकारी क्रिया कहा जा सकता है।
14. यह एक साधारण कला नहीं है। इसके लिए अनुभव, ज्ञान एवं चातुर्य की आवश्यकता होती है, प्रबन्ध का पृथक एवं भिन्न अस्तित्व है।
15. प्रबन्ध क्रिया को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। तकनीकी दृष्टि से निपुण एवं अनुभवी व्यक्ति ही किसी संस्था की व्यवस्था का संचालन कर सकते हैं।
16. प्रबन्ध पारिस्थितिक होता है। यह आन्तरिक तथा वाह्य दोनों ही वातावरण से निरन्तर प्रभावित होता हैं।
17. प्रबन्ध सृजनात्मक कार्य है जो अपेक्षित परिणामों को प्राप्त करने के लिए साधन जुटाता है ।
18. प्रबन्ध केवल किसी विशिष्ट कार्य, उपक्रम अथवा देश तक सीमित न रहकर सभी कार्य, उपक्रमों एवं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। जिसके कारण यह सार्वभौमिक पद्धति है।

1.3 प्रबन्ध का स्वरूप

प्रबन्ध की स्वरूप कि जब हम बात करते हैं तो स्वरूप से तात्पर्य यह है कि प्रबन्धन है क्या? क्या यह विज्ञान है या कला? प्रबन्ध को विज्ञान माना जाय या कला या इसे कला या विज्ञान दोनों माना जाय। आइये इसे समझने का प्रयास करते हैं ।

प्रबन्ध कला है अथवा विज्ञान, यह एक विवाद का विषय रहा है। किन्तु प्रबन्ध के वर्तमान स्वरूप एवं परिस्थितियों से अब यह निश्चित सा हो गया है कि प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान दोनों ही है। कला एवं विज्ञान के रूप में प्रबन्ध का विवेचन निम्न प्रकार है-

1.3.1 क्या प्रबन्ध एक कला है?

प्रबन्ध एक कला है अथवा नहीं, इस बात की जांच करने के पूर्व हमें कला का आशय जान लेना चाहिए। कला किसी भी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने की एक विधि है ताकि निर्धारित लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके। थयो हेमैन के अनुसार कला कार्य करने का एक ढंग है, व्यवहार करने की विधि है। जार्ज आर0 टेरी लिखते हैं कि कला का आशय व्यक्तिगत सृजनात्मक शक्ति एवं निष्पादन कौशल से है। चेस्टर आई0 बर्नार्ड ने कला को व्यावहारिक ज्ञान कहा है। कला की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. कला हमें इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ज्ञान एवं चातुर्य का प्रयोग करना बताती है। यह कार्य के क्रियान्वयन पक्ष से सम्बन्ध रखती है।
2. कला व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करती है, जिसे अभ्यास, लगन, परिश्रम व अनुभव द्वारा निखारा जा सकता है।
3. कला व्यक्तिगत पूँजी होती है। यह हस्तान्तरण योग्य कौशल नहीं है, क्योंकि जन्मजात योग्यता है।
4. कला में अभ्यास पक्ष महत्वपूर्ण होता है। केवल मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यक्ति कुशल कलाकार नहीं बन सकता। सफलता के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है।
5. कला का संचय सम्भव नहीं है।
6. मानवीय उद्यमों में कला सबसे अधिक सृजनात्मक होती है। वह व्यक्ति की कल्पना शक्ति, विवके व दूरदर्शिता का परिणाम है।
7. कला का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता है। किन्तु इसे सीखा जा सकता है।
8. कला एक मानवीय गुण है।
9. कला कार्य के निष्पादन से सम्बन्धित है।
10. कला सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का कौशल है। कला के शत-प्रतिशत सिद्धान्त नहीं होते।
11. कला परिस्थितियों को उपयोग में लाने का कौशल है।

1.3.1.1 प्रबन्ध की कला के रूप में कसौटी

कला की सभी विशेषताऐं प्रबन्ध में मिलती हैं। निम्न बातों से स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक कला है-

1. **ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग-** प्रबन्ध संगठन की समस्याओं को हल करने के लिए अपने प्रबन्धीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करता है। वह प्रबन्धीय सिद्धान्तों एवं तकनीकी को समस्या के सन्दर्भ में व्यावहारिक रूप में प्रदान करता है।
2. **व्यक्तिगत योग्यता-** संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रबन्ध के व्यक्तिगत गुण जैसे रचनात्मक चिन्तन, आत्मविश्वास, दूरदर्शिता, गतिशीलता, नेतृत्व एवं निर्णय क्षमता, आशावादिता आदि अत्यन्त सहायक होते हैं।
3. **संयोगिक दृष्टिकोण-** प्रबन्ध की शैली एवं तकनीकी परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रहती है। प्रबन्ध का दृष्टिकोण एवं विधि सदैव समस्या के अनुसार होती है। इसलिए प्रबन्ध की कोई एक क्षेत्र-प्रणाली अथवा त्रुटिहीन सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया जा सकता है।
4. **सृजनात्मकता-** प्रबन्ध सृजानात्मक कला है, क्योंकि इसमें निरन्तर नयी तकनीकी के साथ-साथ नये सामाजिक मूल्यों, आदर्शों व संस्कृति का निर्माण भी किया जाता है। टैरी के अनुसार, ''प्रबन्ध सब कलाओं में सबसे अधिक सृजानात्मक है। यह कलाओं की कला है, क्योंकि यह मानवीय प्रतिभा की संगठनकर्ता एवं प्रयोगकर्ता है।''
5. प्रबन्ध कला का हस्तान्तरण सम्भव नहीं है, क्योंकि यह व्यक्तिपरक होती है। प्रत्येक प्रबन्धक इसे अपने प्रयासों से विकसित करता है।
6. **अभ्यास-** प्रबन्ध कला काफी सीमा तक अभ्यास एवं अनुभव पर निर्भर करती है। पीटर ड्रकर लिखते हैं कि प्रबन्ध एक व्यवहार है। इसका सार तत्व जानना नहीं वरन् करना है। इसका विकास व्यवहार से ही हुआ है और यह व्यवहार पर ही केन्द्रित है।
7. **अनुभव परक-** प्रबन्ध में अनुभव एवं चातुर्य का उपयोग किया जाता है।

8. **सफलता का आधार-** प्रबन्ध कला की सफलता का आधार प्रबन्धक का निजी चातुर्य, ज्ञान एवं अनुभव होता है, अतः स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक कला है।
9. **लोचपूर्ण सिद्धान्त-** प्रबन्ध के सिद्धान्त विकसित किये जा सकते हैं, किन्तु उनके शत-प्रतिशत रूप से खरे उतरने की सम्भावना परिस्थितियों पर निर्भर करती है।
10. **निर्णयों का प्रभाव नहीं-** प्रबन्धकों द्वारा निर्णय कुछ सिद्धान्तों के आधार पर लिए जा सकते हैं, किन्तु परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण उन निर्णयों का प्रभाव सदैव समान नहीं होता है।
11. **कार्य लेने की कला-** प्रबन्ध वास्तव में कर्मचारियों को प्रभावित एवं अभिप्रेरित करके उनसे कार्य लेने की कला ही है।

इन सभी कारणों से प्रबन्ध को एक कला माना जा सकता है।

1.3.2 क्या प्रबन्ध एक विज्ञान है?

सर्वप्रथम हमें विज्ञान का अर्थ जान लेना आवश्यक है। विज्ञान संगठित एवं सुव्यवस्थित ज्ञान का समूह है जो तथ्यों, अवलोकनों, परीक्षणों एवं प्रयोगों पर आधारित होता है। विज्ञान सम्बन्धित घटना के कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध बताते हुए इसकी व्याख्या करता है। विज्ञान के सार्वभौमिक नियम, निष्कर्ष, एवं मूलाधार होते हैं जो कि प्रामाणिक एवं जांचे हुए होते हैं। विज्ञान, समस्या के अध्ययन हेतु वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करता है। वैज्ञानिक ज्ञान समूह का परीक्षण एवं हस्तातरण सम्भव होता है। विज्ञान की विशेषताऐं हैं-

- विज्ञान किसी भी विषय का उद्देश्यपरक अध्ययन है।
- यह किसी विषय का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है।
- यह ज्ञान का वर्गीकरण है।
- विज्ञान के सिद्धान्त शोध एवं परीक्षणों पर आधारित होते हैं।
- विज्ञान के सिद्धान्त सार्वभौमिक होते हैं।
- विज्ञान को सीखा एवं हस्तान्तरित किया जा सकता है।
- विज्ञान प्रत्येक कार्य के कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध दर्शाता है।
- विज्ञान के द्वारा भावी परिणामों का अनुमान लगाना सम्भव है।

प्रबन्ध की उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर प्रबन्ध के वैज्ञानिक स्वरूप की जांच की जा सकती है-

1. **सुव्यवस्थित ज्ञान-** आज प्रबन्ध का ज्ञान सुव्यवस्थित एवं संगठित है जिसका विधिवत् अध्ययन किया जा सकता है। प्रबन्ध का विकास क्रमबद्ध है। यह विभिन्न शाखाओं- उत्पादन प्रबन्ध, वित्त प्रबन्ध, विपणन प्रबन्ध, सेवीवर्गीय प्रबन्ध, कार्यालय प्रबन्ध आदि में विभाजित है। प्रबन्ध पूर्णतः विशिष्टीकरण एवं अनुसंधान पर आधारित है।
2. **सिद्धान्तों का प्रतिपादन-** विभिन्न प्रयोगों व अवलोकनों के पश्चात विद्वानों ने प्रबन्ध सिद्धान्तों, विधियों व तकनीकों का प्रतिपादन किया है। इस दिशा में फेयोल के प्रशासनिक सिद्धान्त, टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त व इल्टन मेयो के हॉथोर्न प्रयोग, उर्विक के संगठन के सिद्धान्त सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित हैं।
3. **कारण एवं परिणाम सम्बन्ध-** वर्तमान प्रबन्ध व्यवस्था प्रणाली विचारधारा पर आधारित है, जो प्रत्येक परिस्थिति के कारण एवं परिणाम पर बल देती है। अपने विभिन्न निर्णयों-अभिप्रेरण, सन्तुष्टि, नियंत्रण,

मनोबल सर्वेक्षण, कार्य निष्पादन, लागत-लाभ विश्लेषण आदि में प्रबन्धक कारण एवं परिणाम के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर कार्य करता है।

4. **सार्वभौमिकता-** प्रबन्ध के सिद्धान्त देशों व सभी संगठनों में समान रूप से लागू होते हैं। प्रबन्धकीय ज्ञान की समस्त कार्य-समूहों व मानवीय समाज में आवश्यकता होती है। यह संगठित जीवन का सार्वभौमिक तत्व है।
5. **औपचारिक शिक्षण-** आज विश्व के सभी देशों में प्रबन्धशास्त्र की औपचारिक शिक्षा प्रदान की जाती है। प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्राप्त करके अनेक व्यक्ति पेशेवर प्रबन्धक के रूप में कार्य कर रहे हैं। प्रबन्ध अब एक अर्जित प्रतिभा का विषय है।
6. **वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग-** आधुनिक प्रबन्धक की कार्य विधियां अन्तर्ज्ञान, तीर या तुछचे या परम्पराओं पर आधारित न होकर पूर्णतः प्रयोगों, परीक्षणों एवं अवलोकन पर आधारित है। प्रबन्धक अपने निर्णयों में तर्क, विश्लेषण एवं कई वैज्ञानिक विधियों जैसे क्रियात्मक अनुसंधान, अर्थमिति, सांख्यिकीय सूत्रों आदि का प्रयोग करता है। उपरोक्त विवेचन के आधार पर प्रबन्ध को विज्ञान की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है।
7. **उद्देश्यपूर्ण या विषयपरक अध्ययन-** प्रबन्ध निश्चित उद्देश्यों को लेकर किया जाता है। प्रबन्धकों के अधिकांश निर्णय भी सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं।
8. **निरन्तर प्रयोग-** प्रबन्ध के क्षेत्र में लगातार शोध, प्रयोग एवं परीक्षण हो रहे हैं।
9. **पूर्वानुमान सम्भव-** प्रबन्ध विज्ञान के द्वारा सीमित क्षेत्रों में परिणामों का पूर्वानुमान करना भी सम्भव है।

1.3.2.1 प्रबन्ध विज्ञान की स्वरूप

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि प्रबन्ध भी एक विज्ञान है, यद्यपि इसे प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। वास्तव में, प्रबन्ध की वैज्ञानिक स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं-

1. **सामाजिक विज्ञान-** प्रबन्ध एक प्राकृतिक विज्ञान नहीं वरन् सामाजिक विज्ञान है, क्योंकि इसका सम्बन्ध मानवीय एवं सामाजिक घटनाओं से है। यह मानव व समाज के लक्ष्यों, आवश्यकताओं, दशाओं व मूल्यों से जुड़ा है।
2. **व्यवहारवादी विज्ञान-** प्रबन्ध एक व्यवहारात्मक विज्ञान है, क्योंकि यह मानवीय व्यवहार, वृत्तियों, आचरण, धारणाओं, भावनाओं एवं उनकी कार्यशैली से सम्बन्ध रखता है। यह कार्य व्यवहार प्रेरणा, संतुष्टि, असन्तुष्टि, तनाव, नैराश्य, मनोबल आदि घटकों का प्रबन्ध करता है।
3. **अनिश्चित विज्ञान-** प्रबन्ध मानव व्यवहार से सम्बन्ध रखता है जो निरन्तर गतिशील एवं परिवर्तनशील है तथा जिसके बारे में कोई पूर्वानुमान करना सम्भव नहीं होता। अतः इसके परिणाम, भविष्यवाणी व प्रभाव निश्चित नहीं होते। कूंज एवं डोनेल के शब्दों में प्रबन्ध सम्भवतः सामाजिक विज्ञानों में सबसे अधिक अनिश्चित विज्ञान है। शायद इसी कारण टैरी ने प्रबन्ध को आभासी विज्ञान का दर्जा दिया है।
4. **व्यवहारिक विज्ञान-** प्रबन्ध की अपनी मौलिक अवधारणाऐं एवं सिद्धान्त अभी तक पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। प्रबन्ध ने अपने सिद्धान्त एवं तकनीकें दूसरे विषयों से ग्रहण किए हैं। प्रबन्ध में मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के ज्ञान का प्रयोग किया जा रहा है। यही कारण है कि इसे अन्तर्विषयक विज्ञान भी कहा जाता है।
5. **विकासशील विज्ञान-** इसका विकास पिछले 50 वर्षों में ही हुआ है। यही कारण है कि प्रबन्ध की शब्दावली, अध्ययन पद्धति एवं सिद्धान्तों में निश्चितता नहीं पायी गयी। प्रबन्ध की विचारधाराओं एवं अर्थ के बारे में भी प्रबन्धशास्त्री एकमत नहीं हैं। प्रबन्ध अभी पूर्ण रूप से विज्ञान का स्वरूप ग्रहण नहीं

कर सका है। इसके क्षेत्र में अभी निरन्तर अध्ययन एवं प्रयोग किये जा रहे हैं। यह अभी पूर्णरूप से विकसित विज्ञान नहीं है।

6. **सरल विज्ञान-** अर्नेस्ट डेल ने प्रबन्ध को एक सरल या मुलायम विज्ञान माना है, जिसमें कोई कठोर नियम नहीं होते। इसके सिद्धान्त परिस्थिति एवं समय के अनुसार बदले या समायोजित किये जा सकते हैं। इसकी मान्यताएं व दृष्टि लोचशील होती है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने प्रबन्ध को परिस्थितिगत विज्ञान भी कहा है।
7. आ**दर्श विज्ञान-** यह सामाजिक उत्तर दायित्वों उच्च नैतिक स्तर, न्यायोचित लाभ, सामाजिक हितों, मधुर श्रम सम्बन्धों व सांस्कृतिक मूल्यों पर अधिक बल देता है।
8. **शुद्ध विज्ञान नहीं-** प्रबन्ध एक विज्ञान है, किन्तु इसे भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, गणित आदि प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। प्रबन्ध शुद्ध अथवा वास्तविक विज्ञान नहीं है, क्योंकि यह मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित है। प्रबन्ध की विषय सामग्री मनुष्य है, जिसके व्यवहार एवं स्वभाव के बारे में ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन होता है। फिर प्रबन्धक को निरन्तर बदलते हुए मूल्यों, नये सामाजिक परिवेश एवं परिवर्तित दशाओं में कार्य करना होता है। अतः उसकी प्रबन्धकीय शैली एवं पद्धति स्थिर नहीं वरन् परिस्थितिजन्य होती है। अतः प्रबन्ध एक सामाजिक एवं व्यावहारिक विज्ञान है। पीटर ड्रकर ने लिखा है कि प्रबन्ध कभी शुद्ध विज्ञान नहीं हो सकता।

1.3.2.2 प्रबन्ध विज्ञान को एक शुद्ध विज्ञान नहीं मानने के कारण

1. प्रबन्ध विज्ञान मानव से सम्बन्धित है। मानवीय व्यवहार एवं स्वभाव प्रत्येक परिस्थिति में भिन्न होता है। अतः व्यक्ति की परिवर्तनशीन मनोदशा के कारण प्रबन्धकीय शैली भी एक समान नहीं होती।
2. प्रबन्ध के सिद्धान्त लोचपूर्ण होते हैं। वे स्थिर एवं निरपेक्ष नहीं होते। उनके क्रियान्वयन में पर्याप्त विवके एवं विश्लेषण की आवश्यकता होती है। हेनरी फेयोल ने लिखा है कि 'प्रबन्ध के सिद्धान्त लचीले होते हैं। ये प्रबन्ध के लिए मार्गदर्शक तत्व मात्र होते हैं।'
3. प्रबन्धशास्त्र में प्रयोग एवं परीक्षणों के आधार पर प्राप्त परिणामों की पुनर्रावृत्ति सम्भव नहीं है। मानवीय व्यवहार पर नियंत्रण न होने के कारण प्रत्येक प्रयोग के परिणाम भिन्न-भिन्न होंगे, प्रयोगशाला के निष्कर्षों की भाँति एक जैसे नहीं।
4. प्रबन्ध विज्ञान प्रत्येक घटना के कारण एवं परिणाम के सम्बन्ध की पूर्णतया व्याख्या नहीं करता। अतः इसमें निश्चित एवं सही भविष्यवाणियां करना अत्यन्त कठिन होता है।
5. प्रबन्धकीय निर्णयों एवं पद्धति पर प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, प्रबन्ध विज्ञान में सार्वभौमिकता का तत्व विद्यमान होने के बावजूद भी प्रबन्ध संस्कृतिबद्ध एवं परिस्थितिजन्य होता है। प्रत्येक प्रबन्धकीय शैली एवं तकनीक सांयोगिक होती है।
6. प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति प्रबन्धकीय कार्य का यथार्थ माप एवं परिशुद्ध मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। अदृश्य शक्ति होने के कारण प्रबन्ध की सफलता का कोई निश्चित मापन नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके प्रयासों के परिणाम देखे जा सकते हैं।
7. प्रबन्धक को सदैव गतिशील परिवेश में कार्य करना होता है। उसके दृष्टिकोण एवं चिन्तन को व्यावसायिक गतिशीलता प्रभावित करती है।
8. प्रबन्ध का अध्ययन आत्मपरक(Subjective) है, वस्तुपरक (Objective) नहीं। प्राकृतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु निर्जीव होने के कारण मानवीय भावनाओं से अछूती रहती है, जबकि प्रबन्ध कार्य पर मानवीय उद्वेगों, उत्तेजनाओं, भावनाओं, आवेशों, अभिलाषा, क्रोध, प्रेम आदि का गहरा प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक प्राकृतिक एवं विशुद्ध विज्ञान नहीं है, वरन् इसे एक सामाजिक एवं व्यावहारिक विज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। प्रबन्ध सर्जन अथवा मनोचिकित्सक के लिए व्यावहारिक ज्ञान, मानवीय कौशल एवं सूझ-बूझ का होना अत्यन्त आवश्यक होता है, मात्र पुस्तकीय ज्ञान से रोग का निदान करना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार एक सफल प्रबन्धक के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता, उसमें व्यावहारिक समझ, सृजानात्मक कौशल एवं व्यक्तिगत निपुणता का भी होना आवश्यक है। उसे सदैव व्यावहारिक यथार्थताओं को ध्यान में रखकर कार्य करना होता है। अतः प्रबन्ध को एक व्यावहारिक विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है।

1.3.3 प्रबन्ध, कला एवं विज्ञान दोनों रूपों में

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध में कला और विज्ञान दोनों के लक्षण विद्यमान हैं। स्टेनले टीली के अनुसार वर्तमान में प्रबन्ध 10 प्रतिशत विज्ञान एवं 90 प्रतिशत कला है तथा आधुनिक युग में विज्ञान दिन-प्रतिदिन विकास कर रहा है। प्रबन्ध अगली पीढ़ी तक निश्चित रूप से 80 प्रतिशत विज्ञान एवं 20 प्रतिशत कला हो जाएगा। टेलर ने प्रबन्ध को 75 प्रतिशत विश्लेषण (विज्ञान) एवं 25 प्रतिशत सामान्य ज्ञान (कला) माना है। वस्तुतः प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का सम्मिश्रण है, अनुपात तो परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। जार्ज टैरी ने कहा है कि एक प्रबन्धक, वैज्ञानिक एवं कलाकार दोनों है। किसी विशेष परिस्थिति में प्रबन्ध विज्ञान प्रबन्धीय कला की मात्रा को कम कर सकता है, किन्तु यह कला की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर सकता। प्रबन्ध में कला सदैव विद्यमान रहती है। कई बार प्रबन्धक को समस्याओं के सामाधान में विज्ञान नहीं, अपितु प्रबन्धकीय कला- सृजनात्मक, अनुमान, विश्वास, ज्ञान के चातुर्यपूर्ण प्रयोग आदि की आवश्यकता होती है।

यहाँ यह जान लेना महत्वपूर्ण है कि कला एवं विज्ञान अलग-अलग नहीं हैं, वरन् दोनों अन्योन्याश्रित एवं एक-दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान में वृद्धि होने से कला भी विकसित होती है, राबर्ट एन0 हिलकर्ट ने कहा है कि प्रबन्ध क्षेत्र में कला एवं विज्ञान दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कून्टज एवं ओ डोनेल लिखते हैं कि बिना विज्ञान के चिकित्सक केवल ओझा बनकर ही रह जाता है, किन्तु वैज्ञानिक ज्ञान से वह कुशल सर्जन बन जाता है। इसी प्रकार बिना सिद्धान्तों के कार्य करने वाले प्रबन्धक को भाग्य, अन्तर्ज्ञान व भूतकालीन कार्यों पर निर्भर रहना होता है। किन्तु संगठित ज्ञान से वह प्रबन्धकीय समस्या का व्यावहारिक एवं सुदृढ़ हल खोज सकता है। प्रबन्धक को ज्ञान का कौशलपूर्ण उपयोग करना जानना चाहिए।

अक्सर यह कहा जाता है कि ज्ञान शक्ति है। किन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि कुशल उपयोग के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं होता। अतः यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि व्यावहारिक ज्ञान ही शक्ति है। स्पष्ट है कि प्रबन्ध कला एवं विज्ञान दोनों का सम्मिश्रण है। रीस, मिन्ट्जबर्ग आदि ने ठीक ही कहा है कि प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का व्यावहारिक संयोजन है, जो निरन्तर किसी के रचनात्मक संसाधनों को नई पहेलियों के साथ हल करने की चुनौती देता रहता है।

1.4 प्रबन्धन के कार्य

प्रबन्ध विभिन्न कार्यों का निष्पादन करते हुए संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है। प्रबन्ध कुछ मूलभूत कार्यों से मिलकर बनी एक प्रक्रिया है। पीटर ड्रकर लिखते हैं कि ''प्रबन्ध व्यावसायिक उपक्रम का एक विशिष्ट अंग है तथा अंगों की परिभाषा तथा वर्णन उनके कार्यों द्वारा ही श्रेष्ठ ढंग से हो सकता है। ''प्रबन्ध अन्य व्यक्तियों के द्वारा तथा उनके साथ मिलकर कार्य करवाने की प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में, प्रबन्धक को कार्य का निष्पादन करवाने एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्या कार्य करने होते है, यह जानना महत्वपूर्ण है। विभिन्न विद्वानों ने

प्रबन्धकों के कार्यों की संख्या एवं नाम अलग-अलग बताये हैं, यद्यपि प्रबन्धक के मूलभूत कर्तव्यों के सम्बन्ध में वे एकमत हैं।

विभिन्न प्रबन्धक विद्वानों के मत के आधार पर प्रबन्ध कार्यों को निम्नलिखित तीन वर्गों में बांटा जा सकता है- प्रमुख कार्य- नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय और नियंत्रण। सहायक कार्य- निर्णय, कर्मचारी व्यवस्था, सम्प्रेषण, नव-प्रवर्तन और प्रतिनिधित्व। आधुनिक कार्य- व्यक्तियों का विकास, सृजनता, उद्यमिता, ज्ञान का उत्पादन उपयोग तथा समय प्रबन्धन।

प्रबन्ध के इन कार्यों को समझने का प्रयास करते हैं-

1. **नियोजन-** नियोजन प्रबन्ध का सबसे महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक कार्य है। प्रबन्ध इसके द्वारा भविष्य में किये जाने वाले कार्यों का अग्रिम रूप से निर्धारण करता है। नियोजन, कार्यक्रमों नियमों, कार्यपद्धतियों, बजटों व व्यावसायिक व्यूहरचना का निर्माण करता है। नियोजन भविष्य में झाकने, भावी दशाओं का मूल्यांकन करने व वैकल्पिक गतिविधियों को खोजने की प्रक्रिया है।

   मैरी कुशिंग नाइन्स के अनुसार ''नियोजन एक उद्देश्य की पूर्ति हेतु श्रेष्ठ कार्यविधि का चयन एवं विकास करने की जागरूक प्रक्रिया है।''

   गोट्ज ने लिखा है कि ''नियोजन एक मूल रूप से एक चयन प्रक्रिया है तथा नियोजन की समस्या का जन्म कार्य के वैकल्पिक तरीकों की खोज के साथ होता है।''

   नियोजन के लिए सामान्यतः निम्न कदम उठाये जाते हैं- वातावरण तथा संस्था के साधनों का मूल्यांकन करना, उद्देश्यों का निर्धारण करना, नियोजन की आधारभूत मान्यताओं को निर्धारित करना, वैकल्पिक उपायों का चयन करना, किसी श्रेष्ठ विकल्प का चयन करना, आवश्यक सहायक योजनाओं का निर्माण करना तथा योजना का क्रियान्वयन एवं अनुवर्तन करना। नियोजन करने लिए अनेक तत्वों व घटकों को भी निर्धारित करना होता है। ये निम्नानुसार हैं- उद्देश्य, नीतियां, कार्यविधियां, प्रविधियां, नियम, बजट, व्यूहरचना, परियोजना, प्रमाप और समय-सूचियां।

2. **संगठन-** नियोजन के अन्तर्गत प्रबन्धक उपक्रम के लक्ष्य निर्धारित करता है, किन्तु इनकी पूर्ति के लिए विभिन्न साधनों को एकत्रित करने तथा उनमें कार्यकारी सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य संगठन के अन्तर्गत किया जाता है। संगठन विभिन्न कार्यों का समूहीकरण करने कार्यों का वितरण करने तथा सम्बन्धित व्यक्तियों को अधिकार एवं दायित्व सौंपने की प्रक्रिया है। संगठन कार्य-स्थितियों का निर्माण करने व औपचारिक सह-सम्बन्धों का ढ़ाँचा तैयार करने की विधि है।

   जी0ई0 मिलवर्ड के अनुसार, ''कर्मचारी और उनके कार्यों में एकीकरण और सामंजस्य स्थापित करने की क्रिया को संगठन कहते हैं। ''ई0एफ0एल0 बैरच के शब्दों में ''संगठन, प्रबन्ध का ढ़ाँचा है।'' चेस्टर बर्नार्ड के अनुसार ''समन्वित क्रियाओं तथा शक्तियों की प्रणाली को संगठन कहते हैं।''

   संस्था के संगठन के लिए प्रबन्धकों को निम्न कार्य करने पड़ते हैं- क्रियाओं का निर्धारण करना। क्रियाओं का समूहीकरण करना। क्रिया-समूहों को विभागों को सौंपना। क्रियाओं के लिए अधिकारों व दायित्वों का निर्धारण करना। आपसी कार्य-सम्बन्धों का निर्धारण करना।

   बर्नार्ड ने संगठन की प्रणाली के तीन आवश्यक तत्व बताये हैं- सदस्यों द्वारा सहयोग की इच्छा, सम्प्रेषण, तथा सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति।

3. **निर्देशन-** इस कार्य को लेखकों ने कई नामों से सम्बोधित किया है। जैसे, अभिप्रेरण, नेतृत्व, उत्प्रेरण, प्रभावीकरण, आदेश देना आदि। निर्देशन वह प्रबन्धीय कार्य है, जिसके अन्तर्गत कर्मचारियों का पर्यवेक्षण, मार्गदर्शन एवं अभिप्रेरण किया जाता है, ताकि संस्था के उद्देश्यों को अधिकतम कुशलता के साथ प्राप्त किया जा सके।

टेरी के अनुसार निर्देशन में, किसी कार्य को गति देना, व्यवहार में परिणित करना तथा गतिशील समूहों को प्रेरणात्मक शक्ति प्रदान करना शामिल है।

स्ट्रोंग के अनुसार निर्देशन में, अधीनस्थों को कार्य के बारे में निर्देश देना और उन्हें कार्य करने के लिए आदेश देना शामिल है।

वास्तव में, निर्देशन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, जिसमें निम्नलिखित कार्य शामिल होते हैं- पर्यवेक्षण, सम्प्रेषण, अभिप्रेरण तथा नेतृत्व।

- **पर्यवेक्षण-** यह कार्य प्रबन्धक द्वारा अपने अधीनस्थों के कार्यों का निरीक्षण करने से सम्बन्धित है। इसमें प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को कार्य करने के ढंग, प्रक्रिया एवं नियमों की जानकारी देते हैं। प्रबन्धक लक्ष्यों की प्राप्ति में कर्मचारियों का मार्गदर्शन करते हैं।
- **सम्प्रेषण-** इस कार्य के अन्तर्गत प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को कार्य के सम्बन्ध में आदेश-निर्देश प्रदान करते हैं, विभिन्न प्रकार की सूचनाएं प्रेषित करते हैं तथा उनकी शिकायतों व सुझावों को सुनते हैं। सम्प्रेषण सदैव ही विचारों व तथ्यों के आदान-प्रदान की द्विमार्गीय व्यवस्था होती है। इसमें प्रबन्ध के उच्च स्तरों से निर्देशों तथा निम्न स्तरों से कार्य की प्रगति, की रिपोर्ट, समस्याओं आदि का प्रवाह होता है।
- **अभिप्रेरण-** अभिप्रेरण के अन्तर्गत प्रबन्धक अपने कर्मचारियों में कार्य भावना तथा संस्था के प्रति अपनत्व की भावना का विकास करते हैं। प्रबन्धक कर्मचारियों की भौतिक, सामाजिक व मानसिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करके इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्हें प्रेरित करते हैं। इस हेतु प्रबन्धक कर्मचारियों को वित्तीय प्रेरणाएं (अधिक वेतन, बोनस, अनुलाभ) तथा गैर-वित्तीय सन्तुष्टि (पदोन्नति, सम्मान, मान्यता, सहभागिता) आदि प्रदान करते हैं।
- **नेतृत्व-** प्रबन्धक उचित नेतृत्व प्रदान करके कर्मचारियों को अपने लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। नेतृत्व में दो प्रमुख कार्य शामिल हैं, पहला- प्रबन्धकों का यह व्यवहार एवं आचरण जिसके द्वारा वे अपनी संस्था के मूल्यों व आदर्शों को प्रकट करते हैं। इसमें संस्था निर्माण के कार्य आते हैं। दूसरा- प्रबन्धक अपने गुणों, कार्यशैली एवं अन्तर्वैयक्तिक व्यवहार से भी कर्मचारियों को निश्चित लक्ष्यों की ओर बढ़ाने के लिए प्रेरित करते हैं। वे अधीनस्थों के लिए अनुकरणीय बनकर उसमें कार्यनिष्ठा, लगन व परिश्रम की भावना का विकास करते हैं।

4. **आदेश देना-** यह कार्य संगठन की गतिशीलता से सम्बन्धित है। इसमें आदेश-निर्देश प्रदान करके कार्य का संचालन किया जाता है। इसका उद्देश्य कर्मचारियों के प्रयासों का अधिकतम उपयोग करना है।
5. **नियंत्रण-** नियंत्रण प्रबन्ध का वह कार्य है जिसमें वास्तविक निष्पादन की निष्पादन प्रगति के साथ तुलना करके विचलन ज्ञात किया जात है ताकि सुधारात्मक कार्यवाही की जा सके। इसमें प्रबन्धक यह देखता है कि संस्था के समस्त कार्यों का निष्पादन निश्चित योजना के अनुसार हो रहा है या नहीं।

हेनरी फेयोल के अनुसार, ''नियंत्रण का आशय यह जांच करने से है कि संस्था के सभी कार्य, अपनायी गयी योजनाऐं, दिये गये निर्देश, निर्धारित नियमों के अनुसार हो रहे हैं या नहीं। नियंत्रण का उद्देश्य कार्य की कमियों या त्रुटियों का पता लगाना है, जिससे यथासमय उनमें सुधार किया जा सके तथा भविष्य में उनकी पुनर्रावृत्ति रोकी जा सके।''

नियंत्रण प्रक्रिया के चार प्रमुख तत्व है- 1. लक्ष्यों एवं प्रमापों का निर्धारण करना, 2. कार्यों का मूल्यांकन करना, 3. वास्तविक प्रगति की निर्धारित प्रमापों से तुलना करना, 4. विचलन हेतु सुधारात्मक कार्यवाही करना।

6. **समन्वय-** संगठन के भौतिक एवं मानवीय साधनों में समन्वय स्थापित करना प्रबन्धक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। संगठन में कर्मचारियों की क्रियाओं, कार्यविधियों कार्य क्षमताओं व गुणों में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। किन्तु प्रबन्धक को इनके प्रयासों में एकरूपता व सामंजस्य उत्पन्न करता होता है ताकि न्यूनतम लागत पर निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। यह सामूहिक प्रयासों में तालमेल बैठाने एवं उन्हें सुव्यवस्थित करने की प्रक्रिया है। कई लेखकों ने समन्वय को प्रबन्ध का एक पृथक कार्य नहीं माना है, बल्कि उसे प्रबन्ध के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया है। कून्टज तथा डोनेल का कथन है कि समन्वय प्रबन्ध का सार है। मैसी के शब्दों में ''समन्वय अन्य प्रबन्धकीय कार्यों के उचित क्रियान्वयन का परिणाम है। मूने ने इसे संगठन का प्रथम सिद्धान्त माना है। उर्विक ने कहा है कि संगठन का उद्देश्य ही समन्वय करना होता है।

   बर्नार्ड ने लिखा है कि ''समन्वय किसी संगठन के जीवित रहने के लिए महत्वपूर्ण तथ्य है।'' लूथर गुलिक ने समन्वय को प्रबन्ध का अनिवार्य कार्य मानते हुए लिखा है कि ''यदि प्रबन्ध में कार्य विभाजन के बिना कार्य नहीं चल सकता है तो समन्वय आवश्यक हो जाता है।''

7. **निर्णय-** प्रबन्धक जो कुछ भी करते हैं, निर्णय के द्वारा ही करते हैं। अतः यह प्रबन्धकीय कार्य प्रबन्ध के प्रत्येक कार्य में अन्तर्व्याप्त होता है। अतः कुछ विद्वान इसे प्रबन्ध का एक पृथक कार्य नहीं मानते हैं।

   किन्तु निर्णय प्रबन्धकों का एक आधारभूत कार्य होता है। यह कार्य के वैकल्पिक उपायों में से एक श्रेष्ठ विकल्प के चयन की प्रक्रिया है। कुछ विद्वानों ने निर्णय को अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य माना है। रोस मूरे के अनुसार, ''प्रबन्ध का आशय निर्णय है।'' कौपलैण्ड के शब्दों में प्रशासन मूलतः एक निर्णय है। हरबर्ट साइमन ने तो यहाँ तक लिखा है कि निर्णय एवं प्रबन्ध समानार्थक हैं।

   कूंज तथा वीहरिच के शब्दों में, निर्णय किसी क्रियाविधि के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का चयन करना है। पेटरसन लिखते है कि प्रबन्धक वह व्यक्ति है जो निर्णय लेता है। कभी वह सही निर्णय लेता है किन्तु निर्णय सदैव लेता है।

8. **कर्मचारी व्यवस्था-** संगठन संरचना के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं- 1. भौतिक संरचना तथा 2. मानवीय संरचना। भौतिक संरचना में यंत्र, उपकरण, मशीनें, भवन, वित्त-सामग्री आदि साधनों का एकीकरण सम्मिलित है जबकि मानवीय संरचना में योग्य कर्मचारियों की प्राप्ति एवं विकास के कार्य आते हैं। प्रबन्धक उचित व्यक्ति का चयन करके उचित स्थान पर उसकी नियुक्ति करता है। नियुक्ति के कार्य में कर्मचारियों को प्रशिक्षण देना, पदोन्निति करना, मूल्यांकन करना, पारिश्रमिक देना, निवृत्ति देना आदि क्रियाएं भी सम्मिलित हो जाती हैं। संगठन को योजनाओं व लक्ष्यों में परिवर्तन हो जाने, कर्मचारियों में परिवर्तन होते रहने के कारण नियुक्ति का कार्य सतत चलता रहता है।

   अच्छे कर्मचारी संस्था की सम्पत्ति होते हैं। संस्था उसके गुणी कर्मचारियों से जानी जाती हैं, पूँजी व संयन्त्र से नहीं। ड्रकर ने उचित ही कहा है कि ''व्यवसाय व्यक्तियो से बनता है।''

9. **सम्प्रेषण-** सम्प्रेषण प्रबन्ध व कर्मचारियों के मध्य पारस्परिक विचारों, तथ्यों, सूचनाओं एवं भावनाओं का आदान-प्रदान है। कीथ डेविस के अनुसार, ''सम्प्रेषण वह प्रक्रिया जिसमें संदेश व समझ को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाया जाता है।'' इस प्रकार सम्प्रेषण प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों पर संदेशों, सम्मतियों व सूचनाओं का प्रसारण है ताकि कर्मचारी वर्ग कुशलतापूर्वक कार्य का निष्पादन कर सके। पीटर्स ने कहा है कि ''अच्छा संदेशवाहन सुदृढ़ प्रबन्ध की नींव है।'' चेस्टर आई0 बनार्ड ने लिखा है कि ''सम्प्रेषण प्रणाली का विकास करना प्रबन्ध का पहला कार्य है। ''चार्ल्स ई0 रैडफील्ड ने तो यहाँ तक कहा है कि सम्प्रेषण संगठन को सुदृढ़ बना सकता है अथवा उसके विनाश का कारण बन सकता है।''

सम्प्रेषण के लिए प्रबन्धक लिखित, मौखिक, सांकेतिक एवं दृश्य-श्रव्य संचार साधनों का उपयोग करता है। सम्प्रेषण की कई प्रमुख विधियां हैं जैसे- परामर्श, सभाएं, सम्मेलन, गोष्ठियां, व्यक्तिगत सम्पर्क, कर्मचारी सहभागिता आदि। इन विधियों के द्वारा भ्रम, मनमुटाव, दुर्भावनाओं, संचार, दूरी, अफवाहों आदि को दूर किया जा सकता है।

10. **नव-प्रवर्तन-** नव-प्रवर्तन का आशय संगठन में नये विचारों, नई वस्तुओं, नई किस्मों, नई डिजाईनों, नई कार्य प्रणालियों व नई योजनाओं को स्थान देना है। सृजानात्मक तथा नवप्रवर्तन एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। सृजनात्मक नये विचारों के सृजन हेतु चिन्तन की प्रक्रिया है, जबकि नवप्रवर्तन किसी कार्य को श्रेष्ठ अथवा मितव्ययतापूर्वक करने लिए इन विचारों का व्यावहारिक प्रयोग है।

    नव-प्रवर्तन सृजनात्मकता का व्यापारिक अथवा तकनीकी परिणाम है। नवप्रवर्तन का प्रयोग व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों- उत्पादन, विपणन, वित्त, प्रबन्ध कार्यालय, आदि में किया जा सकता है।

    आधुनिक प्रतियोगी युग में नवप्रवर्तन का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अर्नेस्ट डेल का कथन है कि नवप्रवर्तन प्रबन्धक के वास्तविक कार्यों में गिना जान चाहिए। पीटर ड्रकर लिखते हैं कि व्यवसाय करना एक नौकरशाही, प्रशासनिक अथवा नीति निर्धारण कार्य नहीं हो सकता । यह एक रचनात्मक कार्य होना चाहिए, ना कि एक समायोजन कार्य। कुछ विद्वान इस कार्य का नियोजन व सृजनात्मक का अंग मानते हैं।

11. **प्रतिनिधित्व-** व्यवसाय के सामाजिक उत्तर दायित्व का महत्व बढ़ने के साथ ही प्रबन्ध के इस कार्य का महत्व बढ़ गया है। प्रबन्धक को विभिन्न बाहरी समूहों-सरकारी अधिकारियों, स्थानीय समुदाय आदि के साथ व्यवहार करते समय अपनी संस्था का प्रतिनिधित्व करना होता है। प्रबन्धक को इन सभी पक्षकारों के साथ अच्छे सम्बन्धों का निर्माण करना तथा उन्हें बनाये रखना होता है। प्रबन्धक का इन पक्षों के साथ विभिन्न समझौते, वार्तालाप, एवं विचार गोष्ठियां करके संस्था के हितों को सुरक्षित करना होता है। आधुनिक व्यवसाय एक खुली प्रणाली है, अतः प्रबन्ध में प्रतिनिधित्व कार्य का महत्व भी दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है।

12. **व्यक्तियों का विकास-** आधुनिक प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यक्तियों (कर्मचारियों) में कार्य योग्यताओं, गुणों, कार्य कौशल का विकास करके उन्हें पूर्ण मानव बनाना है। प्रबन्ध कर्मचारियों की दक्षता, कार्य-निष्ठा, निपुणता, कार्य अभिरूचि आदि को विकसित करके संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में उन्हें सहायक बनाता है। प्रबन्ध कर्मचारियों की सम्भावनाओं को यथार्थ में बदलता है। वह कर्मचारियों को परिपक्व बनाता है। प्रबन्धक व्यक्तियों की सृजनात्मकता, कल्पनाशक्ति एवं बौद्धिक क्षमताओं का अधिकतम उपयोग करता है। वह उद्योगों में मानवीय तत्व की गरिमा स्थापित करता है। यह तकनीकी श्रेष्ठता के साथ-साथ मानवीय उत्कृष्टता पर ध्यान देता है। कर्मचारियों के विकास के लिए प्रबन्ध अभिप्रेरण, प्रशिक्षण, पदोन्निति, उत्तर दायित्व, परामर्श, कार्य समृद्धि, कार्य विस्तार, नेतृत्व, सहभागिता जैसी विधियों को अपनाता है।

13. **सृजनता-** आधुनिक प्रबन्ध नवीन कार्य पद्धतियों, नये उत्पादों, नई कल्पना शक्ति, नये व्यवसायों के विकास पर निर्भर करता है। अतः प्रबन्ध का यह एक महत्वपूर्ण कार्य है कि उद्योग के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मकता का उपयोग करके संगठन में लाभ के नये-नये अवसर उत्पन्न करे। प्रबन्धक अपनी भावी तीक्ष्ण दृष्टि से आने वाले समय की पहचान करके नये उत्पादों, नई आवश्यकताओं, नई मांगों का निर्धारण करता है। वह समय की परख करके प्रतिस्पर्धा में जीतने, संगठन को शिखर पर ले जाने के नये मार्ग ढूंढता है। वह किसी भी सृजनात्मक अवसर का व्यर्थ नहीं गंवाता है। वह मिट्टी से सोना पैदा करने

की कला जानता है। आधुनिक प्रबन्ध सृजनशील हुए आधुनिक युग की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता है।

14. **उद्यमिता-** आधुनिक प्रबन्धक साहसी एवं उद्यमशील स्वरूप हो होता है। उद्यमिता आधुनिक प्रबन्ध का एक गुण ही नहीं, वरन् एक महत्वपूर्ण कार्य भी है। आधुनिक व्यवसाय को जोखिमें झेलना, नव-प्रवर्तन की समस्याओं एवं चुनौतियों को स्वीकार करना, नये अवसरों की खोजबीन करना, संगठन के भावी खतरों का पूर्वानुमान करना, जटिल व गतिशील वातावरण का आकलन करना, बाजार दशाओं का लाभप्रद मूल्यांकन करना, श्रम, सूचना व भौतिक एवं वित्तीय संसाधनों की कठिनाओं को वहन करना आदि प्रबन्धक के उद्यमीय कार्य हैं। संगठन एवं नेतृत्व एवं प्रभुत्व स्थापित करना होता है। उद्यमी के रूप में प्रबन्धक उद्योग को साधन प्रदान करने वाला, अवसरों का विदोहन करने वाला, आशावादी दृष्टिकोण रखने वाला, व्यावसायिक अनुसंधान करने वाला होता है। वह विकास की गति का प्रवर्तक होता है।
15. **ज्ञान का उत्पादक उपयोग-** प्रबन्ध का एक आधुनिक कार्य ज्ञान को उत्पादन बनाना है। प्रबन्धक को अपने तकनीकी, मानवीय, प्रबन्धकीय, एवं सामाजिक ज्ञान में वृद्धि करके इसका संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग करना चाहिए। परम्परागत प्रबन्ध ने अपने ज्ञान का सृजनात्मक एवं उत्पादक उपयोग नहीं किया। प्रबन्ध विषय के महान दार्शनिक पीटर एफ0 ड्रकर लिखते हैं कि इस शताब्दी का महानतम प्रबन्ध कार्य ज्ञान को उत्पादक बनाना है, जैसा कि पिछली शताब्दी का महत्वपूर्ण कार्य शारीरिक कार्य को उत्पादक बनाना था। प्रबन्धक का महत्वपूर्ण कार्य आधुनिक प्रौद्योगिकीय सूचनाओं व ज्ञान का उत्पादक करके संगठन के लाभों में वृद्धि करना है।
16. **समय प्रबन्धन-** प्रबन्ध का यह सबसे महत्वपूर्ण कार्य है कि वह जो कुछ करे समय की पाबन्दी, सीमा, मांग को ध्यान में रखकर समय रहते करे। समय के अनुकूल किए गए कार्य ही संगठन के लिए उपयोगी होते हैं। प्रबन्धक को अपने व्यस्त समय का विभाजन सभी जरूरी कार्यों के लिए करना होता है। अतः प्रबन्धक को समय का उचित नियोजन (उपयोग) करना होता है ताकि उसका अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके। प्रबन्धक को समय के प्रति चेतनशील होना चाहिए। उसे स्वयं को समय के अनुकूल ढाल लेना चाहिए। संगठन के लक्ष्य, नीतियां, योजनाएं, कार्य-शैली एवं व्यूहरचना के समय के अनुकूल होनी चाहिए। प्रबन्धक हो समय एवं कार्यों में सामंजस्य स्थापित करके समय का अधिकतम उपयोग करना चाहिए। आधुनिक प्रबन्धक अपने कार्यों के निष्पादन में समय के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है। वह समय के साथ न्यूनतम विरोध की नीति अपनाता है। वह कभी समय नहीं गवाता। पीटर ड्रकर लिखते हैं कि समय प्रबन्धक का सबसे दुलर्भ संसाधन है। अतः खर्च करने में प्राथमिकताओं का आधार निर्मित किया जाता चाहिए। समय सभी का होता है। वह सबसे पास होता है, चाहे व्यक्ति कितना भी साधनहीन क्यों न हो। समय से रहित कोई भी नहीं हो सकता। किन्तु एक सफल प्रबन्धक ही समय का उपयोग करना भलीभाँति जानता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. किस विद्वान द्वारा प्रबन्ध को उत्पादक बढ़ाने में सहायक माना गया है?
   क. टेलर ख. फेयोल ग. गुलिक घ. उर्विक
2. प्रबन्ध परिचालक के कितने स्तर होते हैं?
   क. तीन ख. पाँच ग. छः घ. आठ
3. निम्न स्तर के कर्मचारियों को किस स्तर के कर्मचारियों द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है?
   क. उच्च ख. मध्य ग. उच्च, मध्य घ. प्रेक्षक द्वारा

1.5 सारांश

इस इकाई के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रबन्ध' एक बहु आयामी विधा है, जिसमें प्रशासनिक व क्रियात्मक दोनों स्वरूप हैं। प्रतियोगात्मक व्यवसाय की उन्नति के लिए प्रबन्ध आवश्यक है। प्रशासन का संगठनात्मक स्वरूप भी श्रेष्ठ प्रबन्ध की ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विश्व के किसी भी देश के आर्थिक व सामाजिक विकास में प्रबन्ध एक निर्णायक भूमिका निभाना तत्व है। विकासशील राष्ट्र अविकसित नहीं हैं, वरन् कुप्रबन्धित है।'' अतः विकास की चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रबन्ध का श्रेष्ठतम उपयोग करना होगा।

प्रबन्ध और प्रशासन में अन्तर उसके प्रयोग के आधार पर किया जा सकता है। वाणिज्यिक संगठनों में प्रबन्ध शब्द का प्रयोग प्रचलित है तथा सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में संलग्न सरकारी उद्यमों में 'प्रशासन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन व्यवहार में दोनों का पर्यायवाची अर्थों में प्रयोग किया जाता है। प्रबन्ध की परिभाषा को चार विभिन्न विचारधाराओं में बाँटा जा सकता है। प्रक्रिया विचारधारा प्रबन्धक के कार्यों का विश्लेषण करता है और विभिन्न कार्यों में प्रबन्ध कीय गतिविधियों को वर्गीकृत करता है। जैसे नियोजन, संगठन, नियुक्तियाँ (कर्मचारी चयन) नेतृत्व तथा नियंत्रण।

मानवीय विचारधारा संगठन के मानवीय पहलुओं पर बल देते हुए मनुष्य के प्रबन्ध पर अधिक महत्व देता है। तीसरी विचारधारा प्रबन्ध में निर्णय लेने की कला को अधिक महत्व देती है। इस विचारधारा के अनुसार उपलब्ध विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करना प्रबन्ध का उद्देश्य है। प्रणाली एवं आकस्मिकता विचारधारा संगठन को बाहरी वातावरण के अनुकूल ढालने पर बल देती है। प्रबन्ध की विभिन्न परिभाषाओं तथा संकल्पनाओं के आधार पर ही प्रबन्ध की स्वरूप के तत्व निर्धारित किये गये हैं। समाज तथा संगठन के सभी वर्गों के प्रति प्रबन्ध के उत्तर दायित्व को उसका ''सामाजिक दायित्व कहते हैं। व्यावसायिक संगठन चूँकि समाज द्वारा निर्मित है, इसलिए उन्हें समाज की मांग को पूरा करना चाहिए। सामाजिक दायित्व का निभाना संगठन के दीर्घावधि हितों का संरक्षण करता है। प्रबन्ध क केवल अपने स्वामी का आर्थिक हित ही न देखें वरन् अन्य वर्गों जैसे कि कर्मचारियों, उपभोक्ता, सरकार तथा पूर्ण समाज के हितों की भी रक्षा करें। तभी प्रबन्ध की संकल्पना वास्तविक धरातल पर सिद्ध हो सकेगी।

1.6 शब्दावली

प्रशासन- प्रबन्ध द्वारा निष्पादित नीतियों एवं उद्देश्यों के सम्पूर्ण निर्धारण का बौद्धिक कार्य।

प्रबन्ध की कला- प्रबन्ध के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना।

संकल्पनात्मक कुशलता- संगठन की समस्त गतिविधियों व हितों को समझने तथा संयोजित करने में प्रबन्धक की योग्यता।

नियंत्रण- पूर्वनिर्धारित मानकों से परिणाम की तुलना करना तथा प्राप्त विचलन को सुधारना।

पूर्वानुमान- भावी घटनाओं का पूर्वज्ञान करना।

प्रबन्ध- मानव समूह की गतिविधियों के निर्देशन तथा अन्य संसाधनों के उपयोग से पूर्वनिर्धारित उद्देश्यों की प्रक्रिया।

संगठन- अपेक्षित गतिविधियों को पहचानने तथा वर्गीकृत करने, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करने और उन्हें अधिकार देने की प्रक्रिया।

नियोजन- भावी कार्यनीति निर्धारित करना।

पेशा- एक विशिष्टि प्रकार का कार्य करने के लिए ज्ञान की सुनिश्चित शाखा के सिद्धान्तों तथा किसी मान्य संस्था द्वारा निर्धारित आचार संहिता के निर्देशों का व्यवहार।

नियुक्तियाँ (कर्मचारी चयन)- संगठन के प्रारूप में विभिन्न पदों का सृजन व उनके लिये उपयुक्त व्यक्तियों का चयन।
प्रबन्ध का विज्ञान- ज्ञान की एक सुनिश्चित शाखा के सिद्धांतों, संकल्पनाओं और तकनीक का प्रबन्धकीय कार्यों में प्रयोग।
सामाजिक दायित्व- उद्यम एवं प्रबन्ध से सम्बन्धित वर्गों की अपेक्षाऐं।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ, **2.** ग, **3.** क

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 सी0 वी0 गुप्ता, व्यापारिक संगठन और प्रबन्ध, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1996
2. मामोरिया एवं मामोरिया, व्यापारिक योजना और नीति, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, 1996
3. हारोल्ड कून्टज एवं हेनीज विचरिच, इशनशियल्स ऑफ मैनेजमेन्ट, मैग्राहिल इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2000
4. जी0 एस0 सुधा, व्यवसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं उद्यमिता, रमेश बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली।

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रशान्त के0 घोष, कार्यालय प्रबन्धन, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, 2000
2. डॉ0 जे0 के0 जैन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, प्रतीक पब्लिकेशन, इलाहाबाद-2002
3. डॉ0 एल0 एम0 प्रसाद, प्रबन्ध के सिद्धान्त, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2005
4. जी0 एस0 सुधा, व्यवसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं उद्यमिता, रमेश बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? इसकी स्वरूप की चर्चा कीजिये।
2. प्रबन्ध की परिभाषा को देते हुए इसके कार्यों को स्पष्ट कीजिए।
3. क्या एक प्रशासक को प्रबन्धक कहा जा सकता है? कारण सहित स्पष्ट करिये।

इकाई- 2 सहभागी प्रबन्ध और अच्छे प्रबन्ध की कसौटियां

इकाई की सरंचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 प्रबन्ध की अवधारणा
2.3 सहभागी प्रबन्ध
2.4 अच्छे प्रबन्ध की कसौटियाँ
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

सहभागिता प्रबन्ध निश्चित रूप से संगठन, उसके स्वभाव, कार्यों और प्रक्रियाओं पर निर्भर करता है। निर्णय लेने के प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों को शामिल करना सम्भव नहीं होता लेकिन सुचना, विचारों निर्णयों तथा परामर्शों का नियोक्ता और कर्मचारियों के मध्य आदान-प्रदान किसी भी संगठन के लिए वरदान का कार्य करता है। विश्व की बड़ी से बड़ी संस्थायों जैसे ब्रिटिश ऐअरबेज, सत्यम, नोकिया आदि ने भी अपने कर्मचारियों के अद्-भुत विचारों को लागू करके अपने लाभों को बढ़ाया है तथा मूल्य का सृजन किया है। प्रबन्ध कीय निर्णय प्रक्रिया में कर्मचारियों की सहभगिता की गुंजाइश संगठन की आवश्यकताओं सामाजिक, आर्थिक और कर्मियों के निर्णय लेने पर निर्भर करती है। लेकिन कर्मचारियों की निर्णय प्रक्रिया में सहभागिता के सम्बन्ध में यह मतभेद हमेशा बना रहता है कि किस सीमा तक उन्हें इस प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाए। इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय प्रबन्ध का ही रहता कि उन्हें शामिल किया जाए या नहीं।

अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कार्य के घंटे, कार्यस्थल पर नियम व विनियमों, कल्याणकारी उपायों, कर्मचारी कल्याण, कर्मचारी सुरक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि निर्णयों में कर्मचारियों की सहभागिता का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विभिन्न वित्तीय तथा आर्थिक पहलुओं जैसे- निर्माण के तरीकें, लागत में कमी, अधिग्रहण और विलय जैसे मुद्दों पर भी उनकी सहभागिता आवश्यक होती है। कार्मिक निर्णय जैसे भर्ती और चयन, काम वितरण, प्रचार अवनति और स्थानान्तरण स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजनाओं में कर्मचारियों की सहभागिता उनके हितों की रक्षा और संगठन की बेहतरी के लिए कार्य करने के लिए उन्हें प्रेरित करती है। वित्तीय भागीदारी, सामूहिक सौदेबाजी के माध्यम से भागीदारी, बोर्ड स्तर पर भागीदारी काम परिषदों और समितियों के माध्यम से भागीदारी कर सकते है। इस प्रकार से सहभागिता प्रबन्धन संगठनात्मक निर्णय लेने में भाग लेने के लिए कर्मचारियों को सशक्त बनाने की प्रथा है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रबन्ध की अवधारणा को विस्तार से समझ सकेंगे।

- सहभागी प्रबन्ध की विवेचना कर पायेंगे।
- प्रभावी एव सुव्यावस्थित प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों के विषय में जान पायेंगे।

2.2 प्रबन्ध की अवधारणा

प्रबन्ध विचारधारा का उद्-गम कब और कहाँ से हुआ? इस विषय में स्पष्ट रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध प्राचीन काल से ही विद्यमान रही हैं। बदलती हुई सभ्यता तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के बढ़ते विकास के अनुसार ही वांछित उत्पादन की प्राप्ति हेतु एक प्रबन्ध एवं परिणामोन्खी प्रबन्ध की आवश्यकता होती है, जिससे कर्मचारियों को सक्रिय योगदान हेतु प्रेरित करते हुए अधिक से अधिक परिणाम प्राप्त किये जा सके। आज-कल प्रौद्योगिकी के साथ-साथ उद्योगों में मानवीय तत्वों पर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। अतः प्रबन्ध सम्बन्धी अवधारणा कोई नयी अवधारणा नहीं है, प्रबन्ध विचारधारा के इतिहास को तीन भागों में बांटा जा सकता है- 1. आदि काल, 2. मध्य काल, 3. आधुनिक काल।

समान्य तौर पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उत्पादन हेतु विभिन्न क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पादित कराने की प्रक्रिया को ही प्रबन्ध कहते हैं, जिसके माध्यम से प्रतिष्ठान को सुव्यवस्थित संगठित तथा क्रमबद्ध किया जाता है। इसके द्वारा आवश्यक गतिविधियों का नियोजन, समन्यवन तथा नियन्त्रण करके उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। प्रबन्ध कामगार पदार्थ तथा मशीनों आदि का कुशलतापूर्वक सदुपयोग करते हुए उत्पादन में अधिकता हेतु निरन्तर कार्यरत रहता है।

एक सफल प्रबन्ध हेतु कामगार, पदार्थ तथा मशीनों के उपयोग का सही नियोजन उचित नियन्त्रण सन्तुलित समन्वय में रखने का प्रयास करते रहना चाहिये, ताकि पदार्थ व श्रम-समय की बचत करते हुए लागत में कमी लायी जा सके। श्रमिकों की दक्षता में वृद्वि करने हेतु आवश्यक मानवीय तत्वों पर अधिक बल देना चाहिए। उन्हें औसत से अधिक उत्पादन देने पर आर्थिक लाभ पहुँचाकर और अधिक दक्षतापूर्वक कार्य करने के लिये प्रेरित करते रहना चाहिये जिससे उनमें उद्योगों के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो। आज प्रबन्ध को अनेक अर्थो में लिया जा रहा है। जैसे-

1. हेनरी फयोल, प्रबन्ध को प्रक्रिया के रूप में मान्यता देते हैं।
2. एप्पले प्रबन्ध को मानव विकास के अर्थों से सजाते हैं।
3. रांस तथा मूरे प्रबन्ध को निर्णय के रूप में मान्यता देते हैं।
4. टेलर प्रबन्ध को उत्पादकता बढ़ाने की क्रिया के रूप में स्थापित करते है।
5. कला एवं विज्ञान के रूप में किम्बाल एवं किम्बाल, पीटर ड्रकर, आदि विद्वान इसे मान्य करते है।
6. कुछ लोग प्रबन्ध को पेशे के रूप में मानकर चल रहे हैं।
7. न्यूमैन एवं समर प्रबन्ध को व्यक्तियों का विकास वाली नयी विचारधारा को मानते हैं।

इस प्रकार प्रबन्ध मूलभूत रूप से मानव से सम्बन्धित होने के कारण एक सामाजिक विज्ञान है। अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह प्रबन्ध की भी ऐसी कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है जो कि सर्वमान्य हो। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न 'प्रबन्ध विद्वानों' ने प्रबन्ध की विभिन्न परिभाषाएं स्थापित की हैं। आइये प्रबन्ध की इन परिभाषाओं को समझने तथा विश्लेषित करने का प्रयास करें -

पीटर एफ0 ड्रकर के अनुसार ''प्रबन्ध प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक तथा जीवन प्रदायिनी अवयव है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पत्ति के साधन केवल साधन-मात्र रह जाते हैं, कभी भी उत्पादन नहीं बन पाते हैं।''

अमरीकी प्रबन्ध समिति के अनुसार ''प्रबन्ध मानवीय तथा भौतिक साधनों को क्रियाशील संगठनों की इकाइयों में लगाता है, जिसका उद्देश्य व्यक्तियों को संतोष प्रदान करना तथा सेवकों में नैतिक स्तर तथा कार्य पूरा करने का उत्तर दायित्व उत्पन्न करना है।''

प्रोफेसर एडविन एम0 रोबिन्सन के अनुसार, ''कोई भी व्यवसाय स्वयं नहीं चल सकता, चाहे वह किसी भी स्थिति में ही क्यों न हो। उसके लिए इसे नियमित उद्दीपन की आवश्यकता पड़ती है।''

टेलर के अनुसार, ''प्रबन्ध के मूल सिद्धान्त समस्त मानवीय क्रियाओं पर सरल व्यक्तिगत कार्यों से लेकर महान नियमों के कार्यों तक लागू होते हैं। ''

हेनरी फेयोल के अनुसार, ''प्रबन्ध एक सार्वभौमिक क्रिया है, जो प्रत्येक संस्था में, चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या राजनीतिक, पारिवारिक हो या व्यावसयिक, समान रूप से सम्पन्न की जाती है।''

एफ0 डब्ल्यू0 टेलर के अनुसार, ''प्रबन्ध यह जानने की कला है कि आप क्या करना चाहते हैं? तत्पश्चात यह देखना कि वह सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण सम्पन्न किया जाता है।''

किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, ''प्रबन्ध कार्य निष्पादन की सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण विधि की खोज करता है। इसके अनुसार प्रबन्ध का प्रमुख कार्य उत्पादन के साधनों का कुशलतम उपयोग करते हुए न्यूनतम लागत पर अधिकाधिक कार्य कराना है।''

विलियम एफ0 ग्लूक के अनुसार, ''उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का प्रभावी उपयोग ही प्रबन्ध है।''

प्रो0 जॉन एफ0 मीके शब्दों में ''प्रबन्ध न्यूनतम प्रयास द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने की कला है, जिससे नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों के लिए अधिकतम समृद्धि एवं खुशहाली प्राप्त की जा सके तथा जनता को सर्वश्रेष्ठ सम्भव सेवा प्रदान की जा सके।''

उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबन्ध एक कलात्मक एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो संस्था के निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय सामूहिक प्रयासों का नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण वातावरण की अपेक्षाओं के अनुरूप दक्षतापूर्वक एवं प्रभावी ढंग से करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवसाय के कुशल संचालन तथा उत्पत्ति के भौतिक एवं मानवीय साधनों के सर्वोत्तम उपयोग के लिए स्वस्थ्य प्रबन्ध अति आवश्यक है। यह एक सतत प्रक्रिया है, जिसमें निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नियोजन, संगठन, नेतृत्व, भर्ती एवं नियंत्रण के द्वारा संस्था के मानवीय एवं भौतिक साधनों के मध्य समन्वय स्थापित किया जाता है। वास्तव में यह प्रशासन का हृदय होता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रबन्ध के सम्बन्ध में दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से इसकी निम्नलिखित विशेषताओं का निरूपण किया जा सकता है। आइये इन्हें क्रमबद्ध ढंग से समझने का प्रयास करें-

1. प्रबन्ध एक ऐसी क्रिया है जो कि मनुष्य द्वारा सम्पन्न की जाती है एक यह सतत् चलने वाली प्रक्रिया है।
2. प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो आम आदमी से सम्बन्धित होती है।
3. प्रबन्ध के अन्तर्गत एक व्यक्ति विशेष को महत्व ना देकर समूह को महत्व दिया जाता है, अतः प्रबन्ध एक सामूहिक प्रक्रिया है ।
4. प्रबन्ध में कला तथा विज्ञान दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं।
5. प्रबन्ध एक पेशा है, क्योंकि इसका भी अपना एक शास्त्र है, जिसके सिद्धान्त, नीतियाँ एवं नियम है। इनका ज्ञान शिक्षण एवं पूर्व प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है तथा प्रबन्धक इस उस ज्ञान का प्रयोग अपने उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते है।
6. समूह के प्रयासों से संस्था द्वारा पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्देशित किया जाता है।
7. प्रबन्ध का अस्तित्व अलग होता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत स्वयं कार्य नहीं किया जाता, अपितु दूसरों से कार्य कराया जाता है।
8. प्रबन्ध की आवश्यकता सभी स्तरों पर होती है, यथा उच्च स्तरीय, मध्य स्तरीय व निम्न स्तरीय।
9. प्रबन्धकीय सिद्धान्त तथा कार्य सभी प्रकार के संगठनों में समान रूव से लागू होते हैं।

10. प्रबन्ध को सार्वभौमिक प्रक्रिया इसलिए भी कहा जाता है कि प्रबन्धकीय ज्ञान के सीखने तथा सिखाने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।
11. प्रबन्धक का स्वामी होना अनिवार्य है, पेशेवर प्रबन्ध की स्थिति में प्रबन्धक प्रायः स्वामी नहीं होते।
12. प्रबन्ध की उपस्थिति को उपक्रम के प्रयासों के परिणाम, व्यवस्था, अनुशासन उत्पादन के रूप में अनुभव किया जा सकता है। अतः यह एक अदृश्य पक्रिया है।
13. 'समन्वय प्रबन्ध का सार है' अतः प्रबन्ध को समन्वयकारी क्रिया कहा जा सकता है।
14. यह एक साधारण कला नहीं है। इसके लिए अनुभव, ज्ञान एवं चातुर्य की आवश्यकता होती है, प्रबन्ध का पृथक एवं भिन्न अस्तित्व है।
15. प्रबन्ध क्रिया को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। तकनीकी दृष्टि से निपुण एवं अनुभवी व्यक्ति ही किसी संस्था की व्यवस्था का संचालन कर सकते हैं।
16. प्रबन्ध पारिस्थितिक होता है। यह आन्तरिक तथा बाहय दोनों ही वातावरण से निरन्तर प्रभावित होता है।
17. प्रबन्ध सृजनात्मक कार्य है जो अपेक्षित परिणामों को प्राप्त करने के लिए साधन जुटाता है।
18. प्रबन्ध केवल किसी विशिष्ट कार्य, उपक्रम अथवा देश तक सीमित ना रहकर सभी कार्य, उपक्रमों एवं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। जिसके कारण यह सार्वभौमिक पद्वति है।

अभी तक के विवेचन से आप यह अच्छी तरह जान चुके हैं कि प्रबन्ध एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। प्रबन्ध वैज्ञानिकों के अनुसार इसके कई स्तर होते है। यथा उच्च मध्य, निम्न तथा परिचालना।

2.3 सहभागी प्रबन्ध

सहभागी प्रबन्ध के अन्तर्गत एक प्रशासक कर्मचारियों को कार्यालय की कार्यविधियों में सुधार के लिए व्यावहारिक और रचनात्मक सुझाव देने को प्रोत्साहित करता हैं। यदि उनके सुझाव मान लिये जाते हैं, तो उन्हें नकद या किसी न किसी रूप में पुरस्कार दिये जाते हैं। उनके सुझाव सामान्यतः समय बचाने, अपव्यय कम करने, गुणवत्ता सुधारने या कार्यविधियों को सरल बनाने के सम्बन्ध में हो सकते हैं।

सहभागी प्रबन्ध के प्रेरणात्मक प्रभाव होते हैं, क्योंकि इससे कर्मचारियों में इस संतुष्टि की भावना उत्पन्न होती हैं, कि उन्होंने कार्यालय की प्रगति के लिए कुछ उपयोगी योगदान किया। इससे कर्मचारियों को प्रबन्ध के साथ विचार-विमर्श करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता हैं। ये समितियाँ कर्मचारियों को विशेष कार्य करते समय आने वाली व्यावहारिक समस्याओं और शिकायतों के सम्बन्ध में खुल कर बताने का अवसर प्रदान करती हैं। ये उन्हें इन समस्याओं को कार्यालय पर्यवेक्षक तक पहुँचाने का अवसर भी प्रदान करती है। कार्य करने की विधि आदि में सुधार के लिए सुझाव देने के लिये तत्पर कर्मचारियों की जानकारी और अनुभव से प्रशासन को लाभ हो सकता है।

1. इसे प्रभावी बनाने के लिए इसकी योजना सावधानी पूर्वक बनानी चाहिए। संगठन प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिए प्रायः निम्नलिखित कार्यविधि सुझाई जाती है।
2. कर्मचारियों को छपे हुए सुझाव फार्म उपलब्ध कराये जाते हैं, जिन्हें सुझाव पेटिका में डालने के लिये कहा जाता है। ये सुझाव पेटिका किसी ऐसे स्थान पर रखनी चाहिय, जहाँ इन पर सबकी नजर पड़े।
3. उच्च प्रबन्ध को चाहिए कि वे कर्मचारियों द्वारा दिये गये सभी सुझावों की समय-समय पर जांच करें।
4. प्रत्येक सुझाव पर तुरन्त विचार कर स्वीकार या अस्वीकार करने के कारण भी बताये जाने चाहिए। इससे कर्मचारियों को जाँच की विधि की निष्पक्षता और प्रबन्ध की ईमानदारी के बारे में विश्वास दिलाया जा सकता है और उन्हें इस सम्बन्ध में अच्छी तरह से अवगत कराया जा सकता है।
5. इनाम उचित होना चाहिए ताकि कर्मचारी प्रबन्ध में प्रतिभागिता करने के लिए प्रेरित हों।

6. अन्त में, प्रबन्ध को पुरस्कृत ओर स्वीकार किये गये सुझावों को कार्यान्वित करने के लिये तत्पर रहना चाहिए। उसे इस बात का प्रचार भी करना चाहिये कि इन सुझावों से संगठन को किस प्रकार लाभ पहुँचा है। इससे अन्य कर्मचारी भी अभिप्रेरित होंगे और कार्यप्रणाली में सुधार के बारे में सोचेंगे और नये-नये परामर्श देंगे।

सहभागी प्रबन्ध आधुनिक प्रबन्ध की नवीनतम पद्धति है, जिसके अन्तर्गत समस्त कार्यरत कर्मचारियों के साथ नियोजित व्यूह की रचना की जाती है। समय-समय पर प्रत्येक कार्यों का मूल्यांकन भी किया जाता हैं। कुछ प्रमुख विद्वानों ने सहभागी प्रबन्ध को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है। आइये इनका विश्लेषण कर समझने का प्रयास करें-

एफ0 ड्रकर के अनुसार, ''सहभागी प्रबन्ध एक प्रक्रिया है, जिसमें प्रबन्धक एवं सम्पूर्ण संगठन के कर्मचारी अपनी कार्यकुशलता के अनुसार मिल बैठकर प्रत्येक विभाग तथा व्यक्तिगत प्रबन्धक के स्तर पर कार्यों के अनुसार नीति निर्धारण करते हैं।

जार्ज एस0 ऑडियोर्न के अनुसार, ''सहभागी प्रबन्ध एक प्रक्रिया है, जिसमें संगठन के वरिष्ठ एवं अधीनस्थ सामूहिक रूप से संगठन के सामान्य उद्देश्यों को निर्धारित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के उत्तर दायित्व को उससे अपेक्षित परिणामों के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं एवं संगठन के संचालन तथा उसके प्रत्येक सदस्य के योगदान का मूल्यांकन करने में इन्हीं मापदण्डों का उपयोग किया जाता है।''

किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, ''सहभागी प्रबन्ध एक प्रणाली है, जिसके अन्तर्गत प्रबन्धक और अधीनस्थ मिलकर ऐसी क्रियाओं, लक्ष्यों, स्थितियों एवं उद्देश्यों के सम्बन्ध में सहमत हो जाते हैं, जिनका उपयोग अधीनस्थों के निष्पादन एवं उनके मूल्यांकन के आधार रूप में उपयोग किया जायेगा।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषणात्मक विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सहभागी प्रबन्ध के अन्तर्गत सर्वप्रथम वरिष्ठ एवं अधीनस्थ मिलकर सामूहिक रूप से एक निश्चित अवधि के लिये संगठन के उद्देश्य तथा नीति निर्धारित करते हैं और इसके बाद प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर के लिये कार्य निर्धारण और निष्पादन के सम्बन्ध में निर्णय लिये जाते हैं। प्रबन्धशास्त्र के महानतम विद्वान हेनरी फेयोल के अनुसार सहभागी प्रबन्ध निम्नलिखित विशेषताऐं निरूपित की जा सकती है-

1. वांछित उद्देश्यों का निर्धारण- सहभागी प्रबन्ध के द्वारा प्रबन्धक एवं कर्मचारियों मिलकर संगठन के लिये सर्वमान्य उद्देश्य निर्धारित करते हैं और उनको विस्तृत रूप में परिभाषित करने का कार्य करते हैं।
2. समूह भावना- सहभागी प्रबन्ध अधीनस्थों के संगठन को सभी निर्णयों में प्रतिभागिता का अधिकार प्रदान करता है, जिससे अधिकारियों द्वारा किसी भी निर्णय को अकेले ही नहीं किया जाता है, अपितु अधीनस्थों को भी में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार प्रबन्धक एवं अधीनस्थ दोनों मिलकर समूह भावना से कार्य करते हैं, इसीलिये कोई भी निर्णय दोनों को स्वीकार्य होता है।
3. निश्चित अवधि- प्रबन्ध की इस विधि के अन्तर्गत कार्यों पर निर्धारण एक निश्चित अवधि के लिये हो सकता है। यह अवधि पाँच वर्ष तक की हो सकती है और इसके बाद व मासिक योजनाऐं बनायी जा सकती है।
4. निष्पादन स्तर का निर्धारण- इसमें प्रत्येक विभाग के कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों के स्तर इस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं, जिससे कि वे उपक्रम के मूल उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो।
5. अधिकारों का भारार्पण- इस विधि के अन्तर्गत अधिकारीगण अपने अधीनस्थों की एक सीमा तक अधिकारों का भारार्पण कर देते है।
6. संगठनात्मक ढाँचा- इसके अन्तर्गत उपक्रम का संगठनात्मक ढ़ाँचा इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि प्रत्येक प्रबन्धक एवं कर्मचारी सामूहिक तौर पर अपने निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इसके

अतिरिक्त ये समय एवं परिस्थितियों के अनुसार अपने निर्णयों में परिवर्तन या संशोधन करने के लिए भी पूणर्तः स्वतन्त्र होते हैं, जिससे कि कार्य-विधियों में सुधार करके उपक्रम की उत्पादकता एवं गुण में वृद्धि कर सके।

7. प्रशिक्षण- प्रबन्ध समस्त कमचारियों के लिये प्रशिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था करता है, जिससे हो परिवर्तन परिस्थितियों में अपने निर्णयों को अद्यतन बनाते रहें।
8. अभिप्रेरणा- यह विधि प्रबन्धकों एवं अधीनस्थों को मौद्रिक तथा अमौद्रिक दोनों प्रकार की अभिप्रेरणाऐं प्रदान करने मे सहायक होती हैं, जिससे सही समय पर सही ढंग से निर्णय लिया जा सके और अधीनस्थ इन निर्णयों का सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए प्रेरित है।
9. निष्पादन का मूल्यांकन- इसमें समस्त कार्यों के निष्पादन का मूल्यांकन पूर्व-निर्धारित निर्णयों पर के आधार पर समूह के प्रतिनिधियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है।
10. उपलब्धियों का प्रचार- संगठन के विभागाध्यक्षों और कर्मचारियों द्वारा जो उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं, उनकी जानकारी सम्पूर्ण संगठन तथा अन्य इकाइयों को भी दी जाती है। इससे उन अधिकारियों एवं अधीनस्थों में गौरव को भावना जागृत होती है, जिन्होंने टीम भावना के साथ कार्य किया हो और अन्य अधिकारियों एवं अधीनस्थों को भविष्य में अपने कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय लेने में सुविधा रहती है।

उपरोक्त विश्लेषण के उपरान्त हमारे लिये यह जानना भी परम् आवश्यक है कि सहभागी प्रबन्ध की अवधारणा किन मान्यताओं पर टिकी है। प्रो0 फेयोल के अनुसार निम्नलिखित को सहभागी प्रबन्ध की अवधारणाओं के रूप में मान्यता दी जा सकती है-

1. संगठन के समस्त कर्मचारियों की निर्णय में सहभागिता प्रदाना की जानी चाहिए।
2. सहभागी निर्णय प्रगतिशील एवं गतिशील होने चाहिये।
3. सहभागी निर्णय लिखित होने चाहिये तथा संगठन के सभी अधिकारियों एवं अधीनस्थों की आस्था एवं विश्वास इसमे होना चाहिए।
4. संगठन की समस्त क्रियाऐं सहभागी निर्णयों को प्राप्त करने की दिशा में ही एकीकृत कर समन्वित होनी चाहिए।
5. सहभागी निर्णयों को प्राप्त करने के लिये सुखद वातावरण प्रदान करना चाहिये।
6. सहभागी निर्णयों की प्राप्ति हेतु उन विभागीय उद्देश्यों को समाप्त कर देना चाहिए, जिनसे मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने में बाधाएं रही हो।
7. उच्च प्रबन्ध को अपने अधिकांश निर्णय सहभागी निर्णयों के माध्यम से प्राप्त करने चाहिये।
8. संगठन का अस्तित्व बना रहे और उसका निरन्तर विकास होता रहे। इस धारणा के साथ सहभागी प्रबन्ध के सभी सदस्यों को किसी भी प्रकार का निर्णय लेना चाहिए।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर सहभागी प्रबन्ध के निम्नलिखित उद्देश्यों को क्रमबद्ध किया जा सकता है-

1. सर्वमान्यता से संगठन के उद्देश्यों को निर्धारित कर तद्नुसार कार्य-निष्पादन का अन्तिम परिणाम प्राप्त करना।
2. प्रत्येक व्यक्ति को संगठन के आधारभूत निर्णयों के साथ सम्बन्ध करना।
3. अधीनस्थों की क्षमता एवं विकास में वृद्धि कर उत्पादकता बढ़ाना ।
4. अधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य सुदृढ़ एवं प्रभावी सम्प्रेषण की व्यवस्था स्थापित करना।
5. कार्यों के निष्पादन की माप कर कार्यों का मूल्यांकन करना।
6. अधीनस्थों को अधिक कार्य करने के लिये अभिप्रेरित करना।
7. संगठन में कार्यरत सभी व्यक्तियों को उपलब्धियों की जानकारी प्रदान करना।

8. अधिकारियों एवं अधीनस्थों की पदोन्नति के लिये पर्याप्त अवसरों का सृजन करना।
9. नियोजन एवं नियन्त्रण को अधिक प्रभावी बनाना।

एक कुशल प्रशासन को संगठन के निम्नलिखित क्षेत्रों के सम्बन्ध में सहभागी प्रबन्ध को क्रियान्वित करना चाहिए। जिससे उसे श्रेष्ठ पारदर्शी तथा प्रभावी व्यवस्था स्थापित करने में किसी भी प्रकार की बांधा उत्पन्न ना हों। इन क्षेत्रों को कुछ इस प्रकार से क्रमबद्ध किया जा सकता है-

1. संगठन का स्वभाव।
2. कार्य की मात्रा एवं गुणवत्ता।
3. कार्यात्मक विधि में सुधार।
4. निर्णयों में सुधार।
5. नवीन-प्रक्रिया।
6. परिचालन की कुशलता।
7. कार्य क्षेत्र का विस्तार।
8. निष्पादन मात्रा मे सुधार।
9. प्रबन्ध में सुधार।
10. प्रबन्धकीय विकास।
11. सामाजिक उत्तर दायित्वों के सम्बन्ध में।
12. कर्मचारियों को सन्तुष्टि में वृद्धि।
13. कर्मचारियों का विकास।

इस प्रकार सहभागी प्रबन्ध द्वारा उच्च तथा निम्न सभी स्तर के समस्त कर्मचारियों में लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये एक वातावरण बन जाता है तथा प्रबन्धकीय निष्पादन में सुधार होता है, क्योंकि उपक्रम की समस्त क्रियाये एक साथ मिलकर करने का प्रयास होता है। संगठन के सभी सदस्य अपने उद्देश्यों का निर्धारण अधिकारियों के साथ मिलकर करते हैं। जिससे संगठन में टीम भावना विकसित होती है और जिसका लाभ एवं उसके सभी सदस्यों को मिलता है।

प्रायः प्रशासनिक संगठन में इस विधि को अपनाने से संगठन प्रबन्धकों की क्रियाऐं लाभदायक क्रियाओं की ओर केन्द्रित होती हैं। जिसे सुव्यवस्थित निर्णय में कर्मचारियों की भागीदारी होने से सभी कर्मचारी स्वःअभिप्रेरणा से प्रेरित होकर कार्य करते हैं, यह उत्पादकता बढाने में सहायक होती है। उचित अभिप्रेरणा के फलस्वरूप प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों का मनोबल सदैव ऊँचा रहता है। वे अपने दायित्वों का निर्वाह अपनी जिम्मेदारी समझकर करते हैं। जिससे सभी कर्मचारियों में कुशलता निष्पादन से कार्य सन्तुष्टि की भावना तथा कार्य के प्रति सुरक्षा का विकास होता है। अर्थात कर्मचारियों में नैराश्य की भावना विकसित नहीं हो पाती।

सहभागी प्रबन्ध वास्तव में अधिकारियों एवं अधीनस्थों को अधिकारों का भार्रापण होने की दिशा में भी करता है। जिससे संगठन अधिक प्रभावी बन जाता है, जो निश्चय ही प्रत्येक कर्मचारी में उत्तर दायित्व की भावना का विकास करता है। जिसके कारण वह अधिक लगन एवं निष्ठा के साथ अपने उत्तर दायित्व को निभाता है। इससे निर्णय में अधीनस्थों की सहभागिता में वृद्धि होती है और निर्णय अधिक प्रभावी बन जाते हैं। प्रभावी प्रबन्धकीय विकास के क्रम मे भी सहभागी प्रबन्ध मील का पत्थर सिद्ध हुई है, इससे संगठन की प्रबन्धकीय योग्यता का स्तर ऊँचा हो जाता है। श्रेष्ठ संचार-व्यवस्था जिससे संचार व्यवस्था श्रेष्ठतर बनाती है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होती है। हम सभी जानते हैं, समन्वय प्रबन्ध का सार है। सहभागी प्रबन्ध विधि के अन्तर्गत उपक्रम की समस्त क्रियाओं में समन्वय निर्बाध गति से सन्तुलित रहता है, जिससे संगठन पर स्वीकृत एवं प्रभावपूर्ण नियन्त्रण बना रहता है और संगठन की क्रियाएं सहभागी निर्णयानुसार ही सम्पन्न होती रहती है।

2.4 अच्छे प्रबन्ध की कसौटियाँ

अभी तक आप प्रबन्ध की अवधारणा का विभिन्न दृष्टिकोणों से आत्मसात कर चुके हैं। यह अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक यह निर्णय न कर लिया जाय कि एक अच्छा या सुव्यवस्थित प्रबन्ध किसे कहा जाये? वास्तव में यह एक अत्यन्त गूढ़ प्रश्न है, जिसके उत्तर में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। यह एक प्रशासक के गुणों पर भी निर्भर करता है और प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों पर भी। समिष्टिवादी दृष्टिकोण के अनुसार हम अच्छे प्रबन्ध की निम्नलिखित कसौटियों को क्रम बद्ध कर विश्लेषित कर सकते हैं। आइये इसे समझने का प्रयास करें-

1. **प्रशासन एवं प्रबन्ध का सामान्य ज्ञान-** एक सफल प्रबन्ध को अपने से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र का सामान्य ज्ञान होना चाहिय, जिससे कि वह अपने से सम्बन्धित संगठन भी समस्या के सम्बन्ध में निर्णय लेने से पूर्व उस समस्या का सामान्य रूप से विश्लेषण कर सके और उसके द्वारा लिये गये निर्णय समस्या की आवश्यकता के अनुरूप ही हों।
2. **प्रभावी नेतृत्व-** एक सफल प्रबन्धक में एक प्रभावी नेता का चारित्र भी न होना चाहिये। वास्तव में प्रबन्धक अपने उपक्रम का नेता होता है, जो अपने संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपने प्रबन्धकीय ज्ञान एवं विवेक के प्रयाग के द्वारा संगठन में लगे हुये कर्मचारियों का नेतृत्व करता है।
3. **शीघ्र निर्णय-** एक सफल प्रबन्ध में समय एवं परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र निर्णय लेने की प्रक्रिया सुनिश्चित होनी चाहिये, अन्यथा अपने उत्तर दायित्वों को सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकेगा और न ही प्रगति की ओर ले जाने में सफल सिद्ध होगा। प्रबन्धक द्वारा किसी भी समस्या के सम्बन्ध में निर्णय लेने से पूर्व उससे प्राप्त होने वाले परिणामों की सही कल्पना करना ही उसकी दूरदर्शिता का परिचायक है।
4. **समन्वयन-** एक सफल प्रबन्ध उपक्रम में उपलब्ध सभी भौतिक एवं मानवीय साधनों में समन्वय करने की क्षमता रखता है। इसके सम्बन्ध में कहा भी जाता है कि समन्वय प्रबन्ध का सार है। प्रबन्ध में इसका अभाव है तो संगठन के उत्पत्ति के विभिन्न साधन दिशा-विहीन हो जायेंगे और संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने की आशा धूमिल पड़ सकती है।
5. **दृढ़ता-** एक प्रबन्ध को अपने निर्णयों के प्रति दृढ़ रहना चाहिये। इससे संस्था में अच्छे अनुशासन की स्थापना होती है। लेकिन इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्ध द्वारा किसी भी निर्णय लिये जाने से पूर्व सम्बन्धित प्रत्येक पहलू पर बारीकी से विचार कर लिया जाना चाहिये।
6. **निष्पक्षता-** एक प्रबन्ध को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति निष्पक्ष होना चाहिये। इससे कर्मचारियों में उसके प्रति विश्वास एवं आस्था उत्पन्न हो जाती है और वे उसे आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं तथा संगठन में पूर्ण निष्ठा से कार्य करते हैं, जिससे अन्ततः प्रबन्धक को ही सफलता मिलती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. सहभागी प्रबन्ध के अन्तर्गत एक कर्मचारी क्या करता है?
   क. प्रबन्ध ख. नियंत्रण ग. नियोजन घ. व्यावहारिक और रचनात्मक सुझाव
2. सहभागी प्रबन्ध के सन्दर्भ में किसने कहा कि 'इसके अन्तर्गत प्रबन्धक और अधीनस्थ मिलकर क्रियाओं, लक्ष्यों, स्थितियो एवं उद्देश्यो के सम्बन्ध में सहमत हो जाते हैं।'
   क. टेलर ख. उर्विग ग. किम्बाल एवं किम्बाल घ. ड्रकर
3. निम्न मे से किसे सहभागी प्रबन्ध की विशेषता नहीं कहा जा सकता है ?
   क. नियोजन ख. समूह भावना ग. वाँछित उद्देश्य घ. निस्पादन स्तर का निर्धारण

2.5 सारांश

सहभागिता प्रबन्ध को निर्णय लेने के सभी स्तरों पर हितधारकों की भागीदारी को सुनिश्चित करने की शैली के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। सहभागिता प्रबन्धन में प्रबन्धकों के द्वारा कर्मचारियों को कार्य सौंपने के लिए इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है, ताकि उन सभी की सफल भागीदारी को सुनिश्चित किया जा सके। किसी भी संगठन में यह तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक इसके लिए योजना सावधानी, समयबद्ध तरीके से तथा अच्छी तरह से सोच के ना बनाई गयी हो। सहभागिता प्रबन्ध निर्णय लेने की एक शैली है और इसके कार्यान्वयन के लिए कर्मचारियों के विचार में बदलाव की आवश्यकता होती है। अन्यथा पुराने कर्मचारियों और लम्बे समय से कार्य कर रहे कर्मचारियों द्वारा इसके विरोध की सम्भावना भी बनी रहती है।

2.6 शब्दावली

सहभागी- साथ देने वाला, प्रबन्ध- व्यवस्था या स्थापन, अधिग्रहण- ग्रहण करना या लेना, स्वैच्छिक- अपनी इच्छा से, परिणामोन्खी- परिणाम की ओर जाने वाला, औद्यौगिक प्रतिष्ठान- औद्यौगिक संस्थान, गत्यात्मक- गतिमान या चलने वाला, अवयव- अंश या भाग, उद्दीपन- बढाने वाला या प्रेरक, मितव्ययितापूर्ण- कम खर्चिलापन, सृजनात्मक- रचना करना या बनाना, भारार्पण- अपने अधिकार या शक्तियां दुसरों या अपने अधिनस्थों को देना।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ , **2.** ग, **3.** क

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 सी0 वी0 गुप्ता, व्यापारिक संगठन और प्रबन्ध, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1996
2. मामोरिया एवं मामोरिया, व्यापारिक योजना और नीति, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, 1996
3. हारोल्ड कून्टज एवं हेनीज विचरिच, इशनशियल्स ऑफ मैनेजमेन्ट, मैग्राहिल इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2000
4. जी0 एस0 सुधा, व्यवसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं उद्यमिता, रमेश बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली।

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रशान्त के0 घोष, कार्यालय प्रबन्धन, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, 2000
2. डॉ0 जे0 के0 जैन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, प्रतीक पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 2002
3. डॉ0 एल0 एम0 प्रसाद, प्रबन्ध के सिद्धान्त, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2005
4. जी0 एस0 सुधा, व्यवसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं उद्यमिता, रमेश बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली।

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध की शास्त्रीय और आधुनिक विचारधाराओं को समझाइये।
2. क्या एक प्रशासक को प्रबन्धक कहा जा सकता है? कारण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. वर्तमान प्रशासकीय व्यवस्थाओं में सहभागी प्रबन्ध को क्यों अधिक महत्व दिया जाता है?
4. अच्छे प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों को प्रशासन के सन्दर्भ में विवेचित करें।

इकाई- 3 प्रबन्ध और लोक प्रशासन

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 प्रबन्ध का अर्थ और परिभाषा
3.3 प्रबन्ध के सिद्धान्त
    3.3.1 हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त
    3.3.2 उर्विक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त
    3.3.3 प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्त
    3.3.4 प्रबन्ध के अन्य सिद्धान्त
3.4 प्रबन्ध का महत्व
3.5 लोक प्रशासन का अर्थ और परिभाषाऐं
3.6 लोक प्रशासन के सिद्धान्त या उपागम
    3.6.1 शास्त्रीय उपागम: हेनरी फेयोल, लूथर गुलिक, डिंडल उर्विक
    3.6.2 वैज्ञानिक उपागम: फ्रेडरिक टेलर
    3.6.3 नौकरशाही उपागम: मैक्स वेबर
    3.6.4 मानव सम्बन्धात्मक उपागम: एल्टन मेयो
    3.6.5 व्यवस्था उपागम: चेस्टर बर्नाड
    3.6.6 व्यवहारवादी उपागम: हर्बट साइमन
    3.6.7 सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपागम: डगलस मैक्ग्रेगर एवं अब्राहम मैस्लो
    3.6.8 परिस्थितिकीय उपागम: फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स
3.7 लोक प्रशासन का महत्व
3.8 सारांश
3.9 शब्दावली
3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

आधुनिक समय में प्रबन्ध का अत्यधिक महत्व है। आज के सभ्य समाज में प्रबन्ध सर्वव्यापक एवम् सार्वभौमिक है। प्रबन्ध संगठित मानव का अभिन्न अंग है। इसका सीधा सम्बन्ध मानसिक एवम् बौद्धिक क्रिया से है। मानव के समक्ष लक्ष्यों एवम् उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, जो लोक प्रशासन का सिद्धान्त भी है। तभी प्रबन्ध एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर उसके सामने उपस्थिति हो जाता है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए केवल साधनों को जुटा लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु योजना बनाना, विभिन्न व्यक्तियों के समन्वित प्रयास द्वारा उन साधनों का कुशलतम एवम् मितव्यतापूर्ण उपयोग करना भी आवश्यक है जो कि केवल एक कुशल प्रबन्धक द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

लोक प्रशासन व्यापार-प्रबन्ध एवम् निजी उद्योग-प्रबन्ध व्यवस्था के अध्ययनों से भी सम्बन्धित है। लोक प्रशासन के साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण विवाद इस विवाद पर केन्द्रित है कि सार्वजनिक और व्यापार प्रबन्ध के अध्ययन में बहुत सी बातें समान है। एक उत्तम और योग्य प्रबन्ध संस्था लोक प्रशासन के समान ही अनेक समस्याओं का सामना करती है। इसीलिए यह तर्क दिया जाता है कि लोक प्रशासन और प्रबन्ध दोनों ही नियम निर्माण, सहभागिता, संचार और नेतृत्व से सम्बन्धित होते हैं। प्रबन्ध एवं प्रशासन में अनेक विचारधाराओं के अतिरिक्त ऐसी विचार धारा भी हैं जो इनके मध्य कोई अन्तर नहीं करती है और दोनों शब्दों का पर्यायवाची मानती है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रबन्ध क्या है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं महत्व के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक प्रशासन क्या है, तथा लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं महत्व के विषय में जान पायेंगे।

3.2 प्रबन्ध का अर्थ और परिभाषा

प्रबन्ध, एक व्यापक शब्द है। आधुनिक व्यावसायिक जगत में प्रबन्ध कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। एक मत संकीर्ण अर्थ से तात्पर्य रखता है वहीं दूसरा मत इसका व्यापक अर्थ लगाते हैं। संकीर्ण अथवा संकुचित अर्थ में प्रबन्ध दूसरे व्यक्तियों से कार्य कराने की युक्ति है। सी0 एस0 जार्ज के शब्दों में ''प्रबन्ध का तात्पर्य दूसरों के माध्यम से कार्य को पूरा कराना है'' विस्तृत अर्थ में प्रबन्ध को कला एवम् विज्ञान माना जाता है जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मानवीय प्रयासों में सामंजस्य स्थापित करता है। जार्ज आर0 टेरी के अनुसार, ''प्रबन्ध एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसके नियोजन, संगठन, अभिप्रेरणा एवम् नियन्त्रण सम्मलित हैं। इनमें से प्रत्येक में कला एवम् विज्ञान दोनों का प्रयोग करते हुए पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुवर्तन किया जाता है।'' प्रबन्ध की निम्नलिखित परिभाषाएं हैं-

एफ0 डब्ल्यू0 टेलर के अनुसार, ''प्रबन्ध यह जानने की कला है कि आप क्या करना चाहते है, तत्पश्चात यह देखना कि वह सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण विधि से किया जाता है।''

पीटरसन तथा प्लाऊमैन के अनुसार, ''प्रबन्ध से आशय उस तकनीक से है, जिसके द्वारा एक विशेष मानवीय समुदाय के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का निर्धारण, स्पष्टीकरण तथा कार्यान्वयन किया जाता है।''

हेनरी फेयोल के अुनसार, ''प्रबन्ध से आशय पूर्वानुमान लगाना एवं योजना बनाना, संगठित करना, आदेश देना, समन्वय करना तथा नियन्त्रण करना है।''

जॉर्ज आर0 टैरी के अनुसार, ''प्रबन्ध एक पृथक प्रक्रिया है, जिसमें नियोजन, संगठन, क्रियान्वयन एवं नियन्त्रण को सम्मिलित किया जाता है तथा इनका निष्पादन व्यक्तियों एवं साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों को निर्धारित एवं प्राप्त करने के लिए किया जाता है।''

विलियम एच0 न्यूमैन के अनुसार, ''किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति समूह के प्रयत्नों का मार्गदर्शन, नेतृत्व एवं नियन्त्रण ही प्रबन्ध कहलाता है।''

3.3 प्रबन्ध के सिद्धान्त

प्रबन्ध के सिद्धान्तों का प्रतिपादन विभिन्न विद्वानों द्वारा अपने अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर किया जाता रहा है। सर्वप्रथम प्रबन्ध के जनक हेनरी फेयोल ने 14 सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया था। ये सिद्धान्त आज भी

सार्वभामिक माने जाते हैं। उपरोक्त 14 सिद्धान्तों का वर्णन ‘‘जनरल एण्ड इन्डस्टियल मैनेजमेन्ट’’ नाम पुस्तक में मिलता है, इस पुस्तक के रचियता भी स्वयं फेयोल हैं।

3.3.1 हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त

1. **कार्य का विभाजन-** हेनरी फेयोल के अनुसार विशिष्टीकरण एवं प्रमाणीकरण का लाभ प्राप्त करने के लिए समस्त कार्यों का निष्पादन कार्य को छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके करना चाहिये। श्रमिकों या प्रबन्धकों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता, दक्षता तथा रूचि के अनुसार कार्य सौंपना चाहिए। इससे कार्य का निष्पादन न्यूनतम लागत पर सम्भव होता है।
2. **अधिकार एवं उत्तर दायित्व-** अधिकार एवं उत्तर दायित्व एक दूसरे से पूरक होते हैं। अधिकार का आशय है आदेश देने का अधिकार एवं आज्ञा पालन करवाने की शक्ति तथा उत्तर दायित्व से आशय सौंपे गये कार्य को जिम्मेदारी पूर्वक ढंग से सम्पन्न करना। अधिकार एवं उत्तर दायित्व की अपेक्षा अधिक अधिकार देने से अधिकारों का दुरूपयोग होने का भय रहता है तथा पर्याप्त अधिकारों के अभाव में दायित्व निर्वाह में कठिनाई आती है। कून्टज एवं ओ डोनेल के अनुसार ‘‘प्रबन्धक को अपने उत्तर दायित्व का निर्वाह करने के लिए आवश्यक अधिकार मिलने चाहिये। ये अधिकार उसे अपनी स्थिति, व्यक्तित्व, योग्यता, अनुभव, नैतिक बल तथा विगत सेवाओं के समावेश से प्राप्त होते हैं।’’
3. **अनुशासन-** जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुशासन की आवश्यकता होती है। व्यावसायिक उपक्रमों में जहाँ अधिक संख्या में लोग मिलकर कार्य करते हैं। अनुशासन की विशेष आवश्यकता होती है। मूल रूप से अनुशासन अधिकारियों एवं अधीनस्थों के आपसी सम्बन्धों का परिचायक होता है। फेयोल के मतानुसार अनुशासन अधिकारियों के अच्छे नेतृत्व से स्थापित होता है। एक उपक्रम में प्रभावशाली नेतृत्व, स्पष्ट एवं निष्पक्ष समझौता तथा दण्ड-व्यवस्था के न्यायपूर्ण क्रियान्वयन के माध्यम से अनुशासन स्थापित करने का प्रयास किया जाना चाहिए।
4. **आदेश की एकता-** आदेश की एकता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि कर्मचारी को कार्य के सम्बन्ध में एक ही अधिकारी से आदेश प्राप्त होना चाहिये। फयोल के शब्दों में ‘‘मानवीय संगठनों में, उद्योग में, सेना, घर, राज्य आदि में दोहरे आदेश सदैव परस्पर विरोध के कारण रहे हैं। अतः आदेश की एकता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।’’ यदि एक कर्मचारी को एक से अधिक अधिकारियों से आदेश प्राप्त होंगे तो वह भ्रमित होगा तथा अपने उत्तर दायित्व का निर्वाह ठीक प्रकार से नहीं कर सकेगा।
5. **निर्देश की एकता-** निर्देश की एकता के सिद्धान्त से आशय है कि समान उद्देश्य वाले सभी कार्यों के लिए एक ही प्रबन्धक का निर्देशन और एक ही योजना होनी चाहिए, जिससे एक ही लक्ष्य के प्रति गतिविधियों और साधनों का समन्वय किया जा सके। एक समान कार्य करने वाले कर्मचारियों का जब एक ही अधिकारी से निर्देश प्राप्त होंगे तो कार्य में एकरूपता बनी रहेगी तथा कर्मचारियों की कार्यकुशलता की तुलना भी आसानी से की जा सकती है।
6. **व्यक्तिगत हितों का समान्य हितों के अधीन रहना-** व्यावसायिक उपक्रम की सफलता के लिए व्यक्तिगत हितों तथा सामूहिक हितों में पूर्ण सामंजस्य होना आवश्यक होता है। व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा उपक्रम के सामान्य हितों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों में टकराव होने पर सामूहिक हितों की रक्षा के लिए व्यक्तिगत हितों का समर्पण कर देना चाहिये।
7. **कर्मचारियों का पारिश्रमिक-** फेयोल के इस सिद्धान्त की मान्यता है कि कर्मचारियों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक तथा पारिश्रमिक भुगतान की पद्धति सन्तोषजनक एवं न्यायपूर्ण होनी चाहिए। कर्मचारी उपक्रम के कार्यों को रूचि, लगन तथा पूर्ण क्षमता से तभी करते है, जब उनकी सेवाओं का पर्याप्त

प्रतिफल प्राप्त होता है। पारिश्रमिक प्राप्त करने में कर्मचारियों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए। कार्य के लिए अभिप्रेरित करने के लिए मौद्रिक प्रेरणाओं के साथ-साथ अमौद्रिक प्रेरणाएं भी प्रदान करनी चाहिए।

8. **केन्द्रीयकरण-** केन्द्रीयकरण से यहाँ यह आशय नहीं है कि सभी कार्यों का केन्द्रीयकरण हो, अपितु इसका तात्पर्य है कि नियोजन एवं निर्णय का अधिकार उच्च अधिकारियों के पास ही रहना चाहिए। फेयोल के अनुसार अधिकारों का केन्द्रीकरण संस्था की स्वरूप , अधीनस्थों की कार्य कुशलता तथा अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। महत्वपूर्ण अधिकारों का केन्द्रीयकरण होने से कार्यों में एकरूपता बनी रहती है।
9. **पदाधिकारी सम्पर्क श्रृंखला-** एक व्यावसायिक उपक्रम में कार्य करने वाले सभी पदाधिकारियों के मध्य ऊपर से नीचे तक एक सीधी श्रृंखला होनी चाहिए। उनमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिये तथा आदेश देने व लेने का मार्ग स्पष्ट होना चाहिय। अधिकारियें के मध्य सन्देश वाहन पूर्व निर्धारित व्यवस्था के अनुरूप ही होना चाहिए। अधिकारियों को अधिकार श्रृंखला का उल्लंघन नहीं करना चाहिये और यदि किन्हीं परिस्थितियों में सम्पर्क का उल्लंघन करके अन्य अधिकारी से सम्पर्क करना भी पड़े तो इसकी पूर्व अनुमति होनी चाहिये।
10. **व्यवस्था-** यह सिद्धान्त कार्य-निष्पादन को अधिक सरल बनाने के लिए सामग्री, उपकरणों तथा कर्मचारियों आदि को नियोजित एवं तर्कसंगत व्यवस्था पर बल देता है। हेनरी फेयोल के अनुसार व्यवस्था से आशय है कि उपक्रम में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक स्थान होना चाहिये तथा प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर होनी चाहिये एवं सही स्थान पर सही व्यक्ति होना चाहिये। संस्था के साधनों की व्यवस्था में रखने से मानव, मशीन तथा सामग्री का सही अनुमान लगाया जा सकता है तथा न्यूनतम प्रयासों से अधिकतम परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।
11. **समानता-** व्यावसायिक उपक्रम में कार्य करने वाले कर्मचारियों में कार्य के प्रति रूचि एवं लगन बनाये रखने का उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनके साथ समान्ता एवं न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। प्रबन्धकों के न्यायपूर्ण एवं निष्पक्ष व्यवहार से कर्मचारियों में निष्ठा एवं समर्पण की भावना विकसित होती है। फेयोल के अनुसार ''कर्मचारियों के साथ व्यवहार करते समय उनकी न्याय एवं समानता की आकांक्षाओं को ध्यान में रखना चाहिये।''
12. **कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थिरता-** यह सिद्धान्त इस बात पर प्रकाश डालता है कि उपक्रम में कर्मचारियों को स्थायी आधार पर ही नियुक्त किया जाना चाहिये। बार-बार कर्मचारियों को नौकरी से हटाने पर उपक्रम में तो कमी आयेगी ही, साथ-साथ नये कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने का अतिरिक्त भार भी संस्था की उत्पादन लागत को बढ़ा देता है। कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थिरता होने से उनमें उपक्रम के प्रति अपनत्व की भावना विकसित होती है और वे कार्यों में विशेष रूचि लेते हैं।
13. **पहल-** पहल करने का सिद्धान्त बतलाता है कि उपक्रम के कार्यों में प्रबन्धकों एवं उच्च अधिकारियों को पहल करनी चाहिये ताकि कर्मचारी भी उनका अनुगमन करने लगे। इसके साथ ही यदि कर्मचारी-वर्ग किसी कार्य को अपनी योग्यता एवं अनुभव के आधार पर सम्पन्न करने में पहल करता है तो उनको पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। झूठे आत्मसम्मान की बात अधिकारियों को दिमाग से निकाल देनी चाहिये।
14. **सहयोग की भावना-** सहयोग का यह सिद्धान्त 'संगठन की शक्ति है' की मान्यता पर आधारित है। उपक्रम की सफलता के लिए कर्मचारियों का पूर्ण सहायेग प्राप्त करना आवश्यकता होता है। इसके लिए कर्मचारियों की शंकाओं और समस्याओं का शीघ्र निवारण करना चाहिये तथा संस्था के कर्मचारियों में

किसी भी प्रकार की भ्रान्तियां उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिये। प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों के मध्य पूर्ण सहयोग के अभाव में लक्ष्यों को प्राप्त करना कठिन होता है।

3.3.2 उर्विक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त

1. जांच का सिद्धान्त
2. उद्देश्य का सिद्धान्त
3. संगठन का सिद्धान्त
4. प्रयोग का सिद्धान्त
5. नियन्त्रण का सिद्धान्त
6. निर्देशन का महत्व

3.3.3 प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्त

1. प्रयोग एवं अनुसंधान के सिद्धान्त
2. नियोजन का सिद्धान्त
3. सरलता का सिद्धान्त
4. प्रमाणीकरण का सिद्धान्त
5. समता का सिद्धान्त
6. विशिष्टीकरण अथवा श्रम-विभाजन का सिद्धान्त
7. उद्देश्य का सिद्धान्त
8. अपवाद का सिद्धान्त
9. उत्तर दायित्व का सिद्धान्त
10. नीति-निर्धारण का सिद्धान्त
11. मानवीय सम्बन्धों का सिद्धान्त
12. नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त
13. समन्वय का सिद्धान्त
14. अधिकारों के प्रत्यायोजन का सिद्धान्त
15. संतुलन का सिद्धान्त
16. आदेश की एकता का सिद्धान्त

3.3.4 प्रबन्ध के अन्य सिद्धान्त

उपरोक्त के अतिरिक्त प्रबन्ध के अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त भी हैं। जैसे- निर्णय का सिद्धान्त, अनुशासन का सिद्धान्त, भागिता का सिद्धान्त, समूह भावना का सिद्धान्त, अभिप्रेरणा का सिद्धान्त आदि।

3.4 प्रबन्ध का महत्व

किसी भी क्षेत्र में चाहे वह आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, न्यायिक, औद्योगिक अथवा व्यावसायिक हो, प्रबन्ध एवं प्रबन्धकों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कूण्ट्ज तथा ओ डोनेल के अनुसार, ''प्रबन्ध से अधिक महत्वपूर्ण मानवीय क्रिया का अन्य कोई क्षेत्र नहीं है।'' इसके महत्व का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

1. **आधुनिक व्यवसाय में प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है-** प्रोफेसर रोबिन्सन के अनुसार, ''कोई भी व्यवसाय स्वयं नहीं चल सकता, चाहे वह संवेग की स्थिति में क्यों न हो। उसके लिए इस नियमित उद्दीपन की आवश्यकता पड़ती है।'' इस नियमित उद्दीपन की पूर्ति का एकमात्र स्रोत होता है व्यवसाय का मस्तिष्क अर्थात् प्रबन्ध।
2. **औद्योगिक समाज के एक प्रभावी समूह के रूप में-** आधुनिक औद्योगिक समाज में प्रबन्ध एवं पृथक प्रभावी समूह के रूप में माना जाता है। आज हम 'श्रम तथा पूँजी' की बातें ना करके 'प्रबन्ध तथा श्रम' की बातें करते हैं। अब हमारे शब्दकोष मे पूँजी के उत्तर दायित्वों के बारे में सुनते हैं। सन् 1952 में जब आइजनहावर के प्रशासन का निर्माण हुआ था, उस समय उसका निर्माण एक प्रबन्ध-प्रशासन के रूप में हुआथा।
3. **गलाकाट प्रतियोगिता का सामना करने एवं अस्तित्व के संरक्षण के लिए-** वे दिन बीत गये जब उत्पादन का आकार केवल स्थानीय सीमाओं तक ही सीमित रहने के कारण कारीगर ही उत्पादक, निर्माता, प्रबन्धक तथा विक्रेता होता था। इसके विपरीत, आधुनिक उत्पादन का क्षेत्र राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर चुका है। आज के उत्पादक एवं निर्माता को ना केवल स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। जिस कारण विद्वानों का कहना है कि आधुनिक व्यवसाय एवं उद्योग अस्तित्व संरक्षण तथा जटिल एवं गलाकाट प्रतियोगितापूर्ण है। इसका सामना करने के लिए आधुनिक उत्पादक कम लागत पर श्रेष्ठतम वस्तुओं का उत्पादन करने में संलग्न है।
4. **वृहद उत्पादन को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए-** आज का युग वृहत् उत्पादन का युग है। इसके लिए एक विशाल एवं सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता पड़ती है। कुछ संस्थाओं का तो विस्तार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होता है।
5. आ**धुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी** आ**विष्कारों** आ**दि का लाभ उठाने के लिए-** आज विज्ञान सभी क्षेत्रों में दिन दूनी और रात चौगुनी गति से प्रगति कर रहा है। फिर व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र इससे कैसे वंचित रह सकता है? परिणामस्वरूप आज हाथ से चलने वाले यंत्रों का स्थान स्वचालित यंत्रों ने ले लिया है।
6. **श्रम-समस्याओं के सन्तोषजनक ढंग से समाधान के लिए-** एक समय था जब अधिकांश उद्योगपतियों की यह मान्यता थी कि श्रमिक को जितना भूखा, नंगा, परेशान एवं दयनीय स्थिति में रखा जायेगा वह उतना ही अधिक कार्य करेगा। पूँजीपतियों की इस शोषण की मनोवृत्ति के विरूद्ध श्रमिकों ने एक साथ होकर अपनी आवाज बुलन्द की। परिणामस्वरूप एक शक्ति का उदय हुआ। श्रमिकों ने इसके विरूद्ध श्रम-संघों का निर्माण किया तथा हड़तालों आदि का सहारा लिया। श्रम-पूँजी के बीच की खाई दिनों-दिन बढ़ती गयी। उनके इस संघर्ष ने पूँजीपति प्रबन्धकों को अपनी श्रम-नीति में आमूल परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया। यह अनुभव किया गया कि श्रम उत्पादन का एक सजीव अनिवार्य अंग हैं। अतः इसकी कुशलता में वृद्धि करनी होगी। श्रम जितना अधिक कुशल होगा, वह उतना ही अधिक मितव्यी सन्तोषजनक ढंग से समाधान किया जाए तथा श्रम-पूँजी के मध्य की खाई को पाटा जाय।
7. **उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में प्रभावी समन्वय स्थापित करने के लिए-** प्रबन्ध मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक शक्तिशाली तथ्य है। यह उत्पादन का एक पृथक् एवं महत्वपूर्ण घटक है। आधुनिक प्रशासन एवं प्रबन्ध हमें यह सिखाता है कि किस प्रकार से उत्पादन में सहायता प्रदान करने वाली विभिन्न शक्तियों को एकत्रित किया जाए एवं उनमें प्रभावी समन्वय स्थापित किया जाय।
8. **सामाजिक उत्तर दायित्वों को पूरा करने के लिए-** आज के प्रशासन एवं प्रबन्ध का कार्य केवल व्यवसाय अथवा उपयोग की स्थापना करने, आन्तरिक व्यवस्था करने, संचालन करने एवं उससे लाभ

कमाने तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु आधुनिक प्रशासन एवं प्रबन्ध को अनेक सामाजिक उत्तर दायित्वों को भी पूरा करना पड़ता है।

9. **निर्धारित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए-** जब कभी भी कोई उद्यम दिन की रोशनी देखता है उसे उसके साथ ही उद्देश्य अथवा लक्ष्य उनके क्रम की प्राप्ति करनी होती है। यह एक निर्विरोध तथ्य अथवा सत्य है कि एकाकी व्यक्ति की तुलना में व्यक्तियों का समूह निश्चित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति अच्छी तरह से कर सकता है। यह कार्य 'संगठन' द्वारा पूरा किया जाता है, जोकि प्रशासन एवं प्रबन्ध का एक अनिवार्य अंग है। संगठन एक प्रकार से दो या दो से अधिक व्यक्तियों की मिल-जुलकर कार्य करने की प्रणाली है।
10. **न्यूनतम प्रयत्नों के अधिकतम परिणामों की प्राप्ति के लिए-** प्रबन्ध के द्वारा न्यूनतम प्रयत्नों से अधिकतम परिणामों की उपलब्धि की जा सकती है। उर्विक के शब्दों में, ''कोई भी विचारधारा, कोई भी वाद, कोई भी राजनैतिक सिद्धान्त प्रदत्त मानवीय एवं भौतिक साधनों के उपयोग से न्यूनतम प्रयत्नों के द्वारा अधिकतम उत्पादन की प्राप्ति नहीं कर सकता। यह तो केवल दोष-रहित प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है.....।'' यही कारण है कि प्रबन्ध का महत्व एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है।
11. **किसी संस्था के बाहरी एवं आन्तरिक पक्षों के समन्वय स्थापित करने के लिए-** समन्वय प्रशासन एवं प्रबन्ध का सार है। इसका कारण यह है कि इसके अभाव में सभी क्रियाएँ, चाहे वे बाहरी हों अथवा आन्तरिक, व्यर्थ हो जाती है। आन्तरिक पक्षों से आशय उन कर्मचारियों एवं अधिकारियों से है जो संस्था के विभिन्न पदों पर आसीन हैं। इन कर्मचारियों एवं अधिकारियों की क्रियाओं के समन्वय स्थापित करने में प्रबन्ध का महत्वपूर्ण हाथ होता है। इसके विपरीत बाहरी पक्षों के आशय अंशधारियों, सरकार, श्रम-संघों एवं समाज आदि से है। इनमें समन्वय भी प्रबन्ध द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है।
12. **उत्पादन के सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिए-** उत्पादन के विभिन्न सीमित साधनों अर्थात् श्रम, पूँजी, यन्त्र एवं सामग्री आदि का अधिकतम उपयोग करने में प्रशासन एवं प्रबन्ध का महत्वपूर्ण योगदान होता है। हरबर्ट एन0 केसन के अनुसार ''प्रत्येक बड़ी संस्था में पूरी गाड़ी भर सोना छिपा होता है, इसे साधनों का सदुपयोग करके एवं अपव्यय को रोक कर प्राप्त किया जा सकता है।''
13. **भविष्य के लिए संस्था में पर्याप्त सक्षम प्रशासक एवं प्रबन्धक उपलब्ध कराने के लिए-** किसी भी देश के लिए भावी औद्योगिक विकास की योजनाओं को तैयार करने, उन्हें क्रियान्वित करने, देश को कुशल एवं स्वच्छ प्रशासन प्रदान करने के लिए यह परम आवश्यक है कि पर्याप्त संख्या में सक्षम प्रशासक एवं प्रबन्ध उपलब्ध हो। इनका एक मात्र स्रोत प्रबन्धकीय शिक्षण एवं प्रशिक्षण है।

अभ्यास प्रश्न-1

1. प्रबन्ध क्या है?
2. हेनरी फेयोल के सिद्धान्तों के नाम लिखिये।
3. जार्ज आर0 टेरी द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध की परिभाषा लिखिये।
4. औद्योगिक समाज के एक प्रभावी समूह के रूप में प्रबन्ध के महत्व की विवेचना कीजिए।

3.5 लोक प्रशासन का अर्थ और परिभाषा

राज्य की निरन्तर बढ़ती हुई क्रियाओं के साथ ही साथ, लोक प्रशासन का योग तथा महत्व सम्भवतः बढ़ता ही जा रहा है। राज्य की क्रियाओं की सफलता व असफलता लोक प्रशासन पर निर्भर करती है। राज्य की लोक नीतियों के निर्माण से लेकर क्रियान्वयन तक लोक प्रशासन का ही दायित्व एवम् मुख्य कार्य है। यदि राज्य का प्रशासकीय

ढ़ाँचा अथवा प्रशासनिक तंत्र तीव्रता, कुशलता एवम् सत्यनिष्ठा के साथ कार्य नहीं करता है तो अच्छी से अच्छी नीतियां तथा कल्याणकारी योजनाएँ विफल हो जाती है। वर्तमान में कुशल प्रशासनिक राज्य के अन्तर्गत प्रशासन तथा कुशल प्रबन्धकों को बहुत महत्वपूर्ण योगदान करना होता है। भारत के सन्दर्भ में आर्थिक एवं सामाजिक पुनर्निमाण हेतु नियोजन को अपनाया गया है, फलस्वरूप लोक प्रशासन के दायित्वों में काफी वृद्धि हो गयी है। समाज में लोक प्रशासन का महत्व इस हद तक पहुँच गया है कि इसे आधुनिक सभ्यता का हृदय कहा जाता है। लोक प्रशासन सामाजिक ढ़ाँचे को स्थिरता प्रदान करता है। सर्वमान्य का हित करना ही लोक प्रशासन है। लोक प्रशासन की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

डब्लू0 एफ0 विलोबी के अनुसार, ''अपने व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन उस कार्य का प्रतीक है जो कि सरकारी कार्यों के वास्तविक सम्पादन से सम्बद्ध होता, चाहे वे सरकार की किसी शाखा से सम्बन्धित क्यों न हो। अपने संकीर्ण अर्थ में, वह केवल प्रशासकीय शाखा की कार्यवाहियों की ओर संकेत करता है।''

एल0 डी0 ह्वाइट के शब्दों में, ''लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य लोकनीति को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है।''

वुडरो विल्सन के अनुसार, ''लोक प्रशासन विधि की विस्तृत तथा व्यवस्थित प्रयुक्ति है। विधि की प्रत्येक प्रयुक्ति प्रशासन का कार्य है।''

लूथर गुलिक के अनुसार, ''लोक प्रशासन विज्ञान का वह भाग है जो सरकार से सम्बन्धित है और इसलिए उसका सम्बन्ध कार्यपालिका से है, जहाँ कि सरकार का कार्य मुख्य रूप से होता है। यद्यपि उसको स्पष्ट रूप से उन प्रशासनिक समस्याओं पर भी ध्यान देना होता है जो व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के क्षेत्र में आते हैं।''

3.6 लोक प्रशासन के सिद्धान्त

विभिन्न विचारकों एवं विद्वानों ने संगठन का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों (उपागमों) से किया है। इन उपागमों (सिद्धान्तों) को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है-

3.6.1 शास्त्रीय उपागम

हेनरी फेयोल, लूथर गुलिक एवं लिंडल उर्विक संगठन की शास्त्रीय विचारधारा को पुरातनवादी विचारधारा, प्रतिष्ठित विचारधारा, परम्परावादी विचारधारा, यान्त्रिक विचारधारा, औपचारिक विचारधारा या संरचनात्मक सिद्धान्त के नाम से भी पुकारते हैं। संगठन का शास्त्रीय विचार इस सदी के प्रथम दो दशकों में उदित हुआ था, किन्तु आज भी शास्त्रीय प्रबन्ध विचारधारा प्रशासकों में प्रदत्त रूप से विद्यमान है। शास्त्रीय सिद्धान्तों की सर्वाधिक विशेषता है, इनकी संगठन सिद्धान्तों के निर्माण के विषय में विशेष चिन्ता। शास्त्रीय विचारकों ने संगठन में कार्य-विभाजन पूर्ण करने के सच्चे आधारों को खोजने तथा कुशलता के लिए कार्य समन्वय के प्रभावी तरीकों को ढूँढने का प्रयास किया। उन्होंने विभिन्न गतिविधियों तथा उनके अन्तर-सम्बन्धों की सही परिभाषा पर बल दिया तथा कार्य सुचारू रूप से कराने के लिए संगठन में कार्यरत लोगों के ऊपर अवरोध तथा नियन्त्रण पद्धति द्वारा सत्ता प्रयोग का सुझाव दिया।

संगठन का शास्त्रीय सिद्धान्त रचना तथा योजना का एक औपचारिक ढ़ाँचा है। इसके अनुसार संगठन सिद्धान्तों का एक ऐसा समूह है जिसके आधार पर मनोनीत उद्देश्य अथवा कार्य के अनुरूप आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संगठन योजना बनायी जा सकती है और फिर उस पूर्वनिर्मित संगठन योजना के अनुसार कार्य करने के लिए क्षमतावान लोगों को नियुक्त किया जाता है।

संगठन के शास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिपादकों में हेनरी फेयोल, लूथर गुलिक तथा लिंडल उर्विक का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने मुख्य रूप से औपचारिक संगठन के 'सामान्य सिद्धान्तों' को आमतौर पर संगठन का

'पुरातन सिद्धान्त' कहा जाता है। इन्होंने संगठन में काम करने वाले लोगों की भूमिका की अपेक्षा संगठन की 'संरचना' को अधिक महत्व दिया।

हेनरी फेयोल ने संगठन के 14 सिद्धान्त बतलाए जिनमें पांच अत्यन्त महत्वपूर्ण माने गए: योजना, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियन्त्रण। गुलिक एवं उर्विक फेयोल से बहुत प्रभावित थे।

गुलिक ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं में 'पोस्टकार्ब' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया है। पोस्डकोर्ब के रूप में कार्यपालिका के कार्यों को स्पष्ट करने के पश्चात गुलिक तथा उर्विक ने संगठन के उन सिद्धान्तों की खोज करने के प्रयासों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, जिनके आधार पर संरचना की जा सके।

इस दृष्टि से उर्विक ने संगठन के 8 सिद्धान्तों तथा लूथर गुलिक ने 10 सिद्धान्तों का उल्लेख किया।

उर्विक ने सभी संगठनों में क्रियान्वयन योग्य, 8 सिद्धान्त बतलाए हैं-

1. उद्देश्य का सिद्धान्त, 2. अनुरूपता का सिद्धान्त
3. उत्तर दायित्व का सिद्धान्त 4. व्याख्या का सिद्धान्त
5. नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त 6.विशेषीकरण का सिद्धान्त
7.समन्वय का सिद्धान्त 8.परिभाषा या निर्धारण का सिद्धान्त

गुलिक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त हैं-

1. कार्य-विभाजन या विशेषीकरण 2.विभागीय संगठनों के आधार
3. पदसोपान द्वारा समन्वय 4. सोद्देश्य समन्वय
5. समितियों के अन्तर्गत समन्वय 6. विकेन्द्रीकरण
7. आदेश की एकता 8. स्टाफ तथा सूत्र
9. प्रत्यायोजन 10. नियन्त्रण का क्षेत्र

हेनरी फेयोल, गुलिक तथा उर्विक जैसे शास्त्रीय विचारकों का पक्का विश्वास था कि प्रशासकों के अनुभवों तथा कुछ सिद्धान्तों के आधार पर प्रशासन का एक विज्ञान विकसित किया जा सकता है। इस प्रकार अब तक एक कला के रूप में समझा जाने वाला प्रशासन एक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ।

हर्बर्ट साइमन ने शास्त्रीय संगठन की कटु आलोचना की है। वे कहते हैं कि शास्त्रीय सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि किस विशेष स्थिति में कौन-सा सिद्धान्त महत्व देने योग्य है। साइमन ने 'प्रशासन के सिद्धान्तों' को 'प्रशासन की कहावत' मात्र कहा है।

3.6.2 वैज्ञानिक प्रबन्ध उपागम: फ्रेडरिक टेलर

संगठन के अध्ययन सम्बन्धी शास्त्री उपागमों की दृष्टि से दो प्रतिमानों-वैज्ञानिक प्रबन्ध उपागम तथा नौकरशाही उपागम का विश्लेषण अति महत्वपूर्ण है।

टेलर ने 'प्रबन्ध विज्ञान' को 30 वर्षों की लम्बी अवधि में विकसित किया था। वैज्ञानिक प्रबन्ध में सर्वप्रथम, पुराने प्रबन्ध में पाए जाने वाली सभी प्राविधियों उपकरणों, आदि का अन्वेषण किया जाता है। यदि उपयोगी हुआ तो स्वयं श्रमिकों के परामर्श एवं सहयोग से उन्हें सुधारा एवं विकसित किया जाता है। बाद में उनकी समय गति का अध्ययन किया जाता है और देखा जाता है कि किन बिन्दुओं पर श्रमिक का कार्य सरल बनाया तथा उसकी गति को तेज किया जा सकता है। इस प्रकार विभिन्न श्रमिकों द्वारा विविध प्रकार के प्रयोग किए जाने पर उस प्रविधि का समय, गति, उपयोग, उत्पादन, आदि मानकीकृत कर दिया जाता है और उसे समान रूप से लागू कर दिया जाता है। वास्तव में, कार्य प्रबन्ध में 'कार्यकुशलता' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। संक्षेप में, टेलरवादी प्रबन्ध विज्ञान के निम्न आधार-स्तम्भ हैं-

1. एक सच्चे प्रबन्ध (मैनेजमेण्ट) एवं कार्य (टास्क) विज्ञान का विकास, 2. कार्यकर्ता का वैज्ञानिक आधार पर चयन, 3. उसका वैज्ञानिक शिक्षण एवं विकास, 4. प्रबन्ध एवं श्रमिक के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग।

टेलर के अनुसार, सार रूप में वैज्ञानिक प्रबन्धवाद 'एक पूर्ण मानसिक क्रान्ति' है, जिसमें श्रमिक अपने कार्य, अपने सहयोगियों तथा अपने नियोजकों के प्रति तत्परतापूर्वक अपने कर्तत्यों का पालन करते हैं। उसी तरह प्रबन्धक-फोरमैन, अधीक्षक, मालिक, निदेशक मण्डल, आदि- अपने सहयोगियों तथा अपने नियोजकों के प्रति अपने दायित्वों को सम्पूर्ण क्षमता के साथ वहन करते हैं।

टेलर ने कहा कि प्रबन्ध को जानना जरूरी है। प्रबन्ध एक विज्ञान है जो निश्चित कानूनों, नियमों व सिद्धान्तों पर आधारित है। उन्होंने तर्क दिया कि प्रबन्ध में ऐसे अनेक सिद्धान्त शामिल हैं जो निजी तथा सरकारी दोनों संगठनों पर लागू होते हैं। उनके अनुसार प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य नियुक्तिकर्ता की अधिकतम समृद्धि के साथ-साथ प्रत्येक कामगार को भी अधिकतम धन प्राप्त करना है। उनके वैज्ञानिक प्रबन्ध का दर्शन यह है कि नियुक्तिकर्ता, कामगारों तथा उपभोक्ताओं के हितों में कोई अन्तर्निहित टकराव नहीं हो।

टेलर ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के दर्शन को उसकी प्रविधियों का पर्याय नहीं समझा जाना चाहिए। स्पष्टता के लिए इन कतिपय प्रविधियों का विवरण सांकेतिक रूप से दिया जा रहा है- समय अध्ययन, कार्यात्मक फोरमैनवाद, उपकरणों, साधनों तथा क्रियाओं का मानवीकरण, नियोजन कक्ष या विभाग की आवश्यकता, समय बचत करने वाले उपकरणों का उपयोग, 'कार्य दशक' इकाई का 'बोनस' सहित विचार, वर्गीकृत तैयार माल योजना, आधुनिक लागत प्रणाली, आदि।

टेलरवाद वैज्ञानिक प्रबन्ध को लोक प्रशासन के निकट लाने में भी सफल सिद्ध हुआ है। इससे 'सगठन के विशुद्ध सिद्धान्त' को विकसित करने की प्रेरणा मिली। टेलरवाद के परिणामस्वरूप शासन एवं उसकी प्रक्रियाओं के प्रति सर्वत्र नया दृष्टिकोण अपनाया गया। शोध, तथ्य और मापन उसका अमूल्य योगदान है। उसके 'समय और गति' सम्बन्धी अध्ययन वैज्ञानिक प्रबन्ध की मुख्य आधारशिला बन गए। सभी दृष्टिकोणों से टेलर को कार्यरत मानव के अध्ययन में अग्रणी माना जाना चाहिए। वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने अच्छे कार्य निष्पादन की खोज की शुरूआत की। औद्योगिक प्रबन्ध के अध्यन में परिमाणवाचक तकनीकों का प्रयोग करने वाले भी वे प्रथम व्यक्ति थे। आधुनिक वैज्ञानिक प्रबन्ध, अनुसंधान पद्धति अध्ययन, समय अध्ययन, प्रणाली या व्यवस्था विश्लेषण, आदि सभी टेलर की विरासत का हिस्सा हैं। टेलर के साथियों हेनरी एल, गैण्ट तथा फैंक गिल्ब्रैथ ने उसके कार्यों को आगे बढ़ाया। गैण्ट ने टेलर की प्रेरणात्मक पद्धति में सुधार किया और 'कार्य एवं बोनस योजना' का विकास किया। फ्रैंक गिल्ब्रैथ ने गति अध्ययन में रूचि ली। उन्होंने कार्य पर 18 गतियों की पहचान की जिसे वे 'THE RBLIGS' की संज्ञा देते हैं। टेलर ने मूलतः औद्योगिक क्षेत्र में काम किया था, किन्तु शीघ्र ही उनके विचारों का प्रभाव अन्य क्षेत्रों, सरकारी तथा सैनिक संगठनों तक पहुँचने लगा।

3.6.3 नौकरशाही उपागम: मैक्स वेबर

नौकरशाही शब्द वेबर के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, किन्तु उसका प्रयोग अर्वाचीन है। प्रारम्भ में 18वीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग फ्रेंच सरकार के अधिकारियों की डेस्कों को ढकने वाले कपड़े के लिए किया जाता था। बाद में जहाँ-जहाँ सरकार में निरंकुशता, संकुचित दृष्टिकोण तथा सरकारी अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता दिखाई पड़ी, वहीं उसे 'नौकरशाही' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे इसका भावार्थ नियमों का कठोर पालन, अनुत्तरदायित्व, जटिल प्रक्रियाओं तथा निहित स्वार्थों से लिया जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध के बाद इसे 'पार्किन्सन कानून' की प्रतिमूर्ति मान लिया गया, जिसका संकेत नौकरशाही द्वारा सत्ता-साम्राज्य निर्माण, साधनों का अपव्वय, उदासीनता, आत्म प्रसार, आदि दुष्प्रभावपूर्ण प्रवृत्तियों से था।

आधुनिक विचारकों में मैक्स वेबर सर्वप्रमुख समाजशास्त्री हैं, जिनके नौकरशाही सम्बन्धी विचार महत्वपूर्ण माने जाते हैं। वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त प्रभुत्व के सिद्धान्त का ही एक अंग है।

वेबर ने नौकरशाही तथा उससे सम्बन्धित अन्य संरचनाओं जैसे- सत्ता, औचित्यपूर्ण या वैधानिकता, वर्ग आदि का अध्ययन किया है। उसकी विश्लेषणात्मक विषय परिधि व्यापक है। इसलिए वह समाज, विशेषतः पश्चिमी समाज (मूलतः प्रशिया का राजतन्त्र), के प्रमुख तत्वों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार समाज के संगठन के मूल में शक्ति और प्रभुत्व (डोमिनेशन) है। मूल्य सहभागिता के कारण ये सत्ता नेत्तृव और औचित्यपूर्ण बन जाते हैं।

वेबर के अनुसार प्रभुत्व का अर्थ है, नियन्त्रण की अधिकारिता शक्ति। दूसरे शब्दों में कहें तो वेबर ने यह प्रश्न उठाया कि कैसे एक व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाता है और इसी के उत्तर में यह भी कहा कि प्रभुत्व का उपयोग यदि किसी भी तरह न्यायसंगत तथा वैध हो, तो वह स्वीकार्य हो जाता है। एक तरह से देखें तो एक प्रकार की वैधता से किसी विशिष्ट प्रकार का प्रभुत्व होता है और दूसरी तरह की वैधता से एक अन्य प्रकार का। अतः वेबर ने प्रभुत्व के कुल तीन प्रकार माने, पहला- पारम्परिक प्रभुत्व, दूसरा- श्रद्धा पर आधारित प्रभुत्व, तथा तीसरा- वैधानिक या कानूनी प्रभुत्व। नौकरशाही इनमें से अन्तिम श्रेणी में आती है।

वेबर के अनुसार नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएं हैं-

1. संगठन के कार्य को कर्मचारियों में इस प्रकार विभाजित कर दिया जाता है कि प्रत्येक कर्मचारी को कार्य का कोई विशेष भाग पूरा करना होता है। इस पद्धति में वह एक ही कार्य को बार-बार करते हुए उस कार्य में कुशल हो जाता है।
2. प्रत्येक नौकरशाही तन्त्र में प्रशासन की एक श्रृंखला या पद-क्रम की परम्परा होती है जिससे अधीनस्थ कर्मचारी उच्चस्तरीय कर्मचारियों को देख-रेख में रहते हैं।
3. आधुनिक कार्यालयों की प्रबन्ध व्यवस्था लिखित दस्तावेजों तथा फाइलों पर ही आधारित है।
4. कर्मचारियों का चयन उनकी तकनीकी योग्यताओं के आधार किया जाता है।
5. नौकरशाही के सदस्य के रूप में रोजगार को प्रत्येक व्यक्ति अपनी आजीविका बना लेता है।
6. इस तन्त्र में कर्मचारियों को निश्चित वेतन के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता है।
7. इस तन्त्र में प्रबन्ध व्यवस्था द्वारा निर्धारित कुछ नियम होते हैं जिनका सभी कर्मचारियों तथा अनुयायियों को पता होता है।
8. कर्मचारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे व्यक्तिगत पसन्द और नापसन्दगी से बांधित हुए बिना ही अपने कर्तव्य का निर्वाहन करें।
9. नौकरशाही संगठन एक अत्यन्त कार्यकुशल है, जैसे कोई एक मशीन अन्य मशीनों की तुलना में अधिक उत्पादन देती है।

वेबर के शब्दों में ये सभी विशेषताऐं मिलकर संगठन को 'उच्चतम मात्रा में कुशलता' प्राप्त करने में सक्षम बना देती हैं। सिद्धान्ततः यह 'आदर्श प्रकार' विभिन्न क्षेत्र में सभी प्रकार के संगठनों के लिए लागू होता है चाहे वह निजी हो या सरकारी। नौकरशाही सत्ता अपने विशुद्ध रूप से वहाँ लागू होती हैं, जहाँ प्रशासन में अधिकाधिक बौद्धिकता को आधार बनाया गया हो। नौकरशाही की बुराई कितनी ही क्यों ना की जाए, सरकारी कार्यालयों में बैठे कर्मचारियों के बिना प्रशासनिक कार्यों को निरन्तर एवं प्रभावशाली ढंग से नहीं कराया जा सकता। नौकरशाही प्रशासन का मूलभूत आधार ही ज्ञान पर आश्रित नियन्त्रण का प्रयोग है। यही विशेषता उसे बौद्धिक बना देती है। इसी बौद्धिकता के कारण उसे असाधारण शक्ति प्राप्त हो जाती है।

3.6.4 मानव सम्बन्धात्मक उपागम: एल्टन मेयो

मानव सम्बन्धात्मक सिद्धान्त के आधारभूत नियम अमेरिकन समाजशास्त्री एल्टन मेयो द्वारा 20वीं सदी के दूसरे दशक के अन्तिम तथा तीसरे दशक के प्रारम्भिक चरण में प्रतिपादित किए गए थे। औद्योगिक समाजशास्त्र और औद्योगिक मनोविज्ञान पर उनके अध्ययन इतने गहन हैं कि उसे संगठन के मानव सम्बन्धात्मक उपागम के प्रवर्तकों में गिना जाता है। मेयो ने श्रमिकों के व्यवहार और उनकी उत्पादन क्षमता का गम्भीर अध्ययन किया। मेयो ने इस उपागम को एक 'डॉक्टरी विधि' (क्लिनिकल मेथड) कहा है। अपने शोध के आधार पर उन्होंने कुछ विद्वतापूर्वक लेख और कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित किए।

वस्तुतः हॉथोर्न प्रयोगों के फलस्वरूप संगठन की यान्त्रिक विचारधारा की लोकप्रियता कम हो गयी और संगठन सम्बन्धी नवीन मानव सम्बन्ध का उदय हुआ। ये प्रयोग संयुक्त राज्य अमरीका के शिकागो नगर के समीप हॉथोर्न नगर स्थित वेस्टर्न इलेक्ट्रिक कम्पनी में एल्टन मेयो के नेतृत्व में किए गए थे। ये प्रयोग 1927 से 1932 के बीच हुए। इनमें निम्न प्रयोग सम्मिलित हैं-

- प्रकाश प्रयोग
- रिले युग्म जांच कक्ष
- साक्षात्कार कार्यक्रम
- अवलोकन अध्ययन

इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकला की संगठन एक सामाजिक प्रणाली है, उत्पादकता काम करने वालों की सेवा की दशाओं पर निर्भर है। श्रमिक भी तो मनुष्य हैं, संगठन में उनकी उपेक्षा करना अनुचित है। संगठन की मानव सम्बन्ध विचारधारा का सार है कि संगठनात्मक व्यवहार काफी जटिल होता है और संगठनात्मक समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान के लिए बहुपक्षीय स्वरूप का और इनके अनौपचारिक संगठनों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। हॉथोर्न कारखाने के कर्मचारियों के व्यवहार का अध्ययन करते हुए यह पाया गया कि कुछ कम वेतन पाने वाले कर्मचारी आपस में अनौपचारिक रूप से किन्हीं कारणों से निश्चय कर लेते थे कि वे काम बहुत तेजी से नहीं करेंगे। वे शीघ्र गति से काम करने वाले मजदूरों का मजाक उड़ाते थे। उन्हें मालिकों का खुशमदी कहकर इस दृष्टि से चिढ़ाते थे कि वे अधिक तेजी से काम न करें। फिर भी यदि वे न मानते तो उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। इस प्रकार मजदूर अनौपचारिक नीति से संगठित होकर कारखाने के उत्पादन पर नियन्त्रण करने लगे। इस रोचक अध्ययन से संयुक्त राज्य अमरीका में उद्योगों में 'मानव सम्बन्धों के अनुसन्धान' की प्रवृत्ति प्रबल हुई।

एल्टन मेयो के अध्यन का निष्कर्ष यह था कि संगठन के मानवीय पक्ष को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। तकनीकी और आर्थिक पहलुओं पर ज्यादा बल देने की अपेक्षा प्रबन्धकों को मानवीय स्थितियों, प्रेरणा और श्रमिकों से सम्बन्ध स्थापित करने पर ध्यान देना चाहिए। मेयों का विचार था कि सहयोग प्राप्त करने के लिए सत्ता की अवधारणा विशेषज्ञता की अपेक्षा सामाजिक कौशल पर आधारित होनी चाहिए।

3.6.5 व्यवस्था उपागम: चेस्टर बर्नार्ड

व्यवस्था सिद्धान्त एक व्यापक उपागम है, जिसमें संकुचित परिप्रेक्ष्य में चीजों को देखने की आम कमी नहीं रहती। असल जोर समूचे व्यक्ति और कुल संगठन पर रहता है। जिस तरह शान्त सरोवर में पत्थर फेंकने से हर दिशा में लम्बी हलरे उठती हैं। इसी प्रकार अधिकांश क्रियाएं परस्पर सम्बन्धित होती हैं और उनका क्षेत्र सामान्यतया अपेक्षित क्षेत्र से कहीं अधिक होता है। व्यवस्था उपागम में संगठन को एक समेकित और उद्देश्यपूर्ण संस्था के रूप में विकसित करना है जो परस्पर सम्बद्ध भागों में निर्मित है। व्यवस्था सिद्धान्त किसी संगठन का विभिन्न भागों में अलग-अलग अध्ययन करने के बजाय प्रबन्धकों को ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करता है कि वे संगठन को समूचे रूप में

और बड़े तथा बाहरी वातावरण के भाग के रूप में देखें। व्यवस्था सिद्धान्त से यह भी पता चलता है कि किसी भी संगठन के किसी एक भाग की गतिविधि का प्रभाव अन्य प्रत्येक भाग की गतिविध पर पड़ता है। प्रबन्धक का कार्य यह सुनिश्चित करना है कि संगठन के सभी भागों में आपस में समन्वय हो ताकि संगठन के लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें।

एक 'व्यवस्था' की परिभाषा वस्तुओं की व्यवस्था के उस सेट के रूप में दी जाती है जिससे वे इस प्रकार जुड़े या सम्बन्धित हों कि एक एकीकृत पूर्ण का निर्माण हो। एक व्यवस्था का निर्माण उन पर सम्बन्धित तथा अन्तर-निर्भर तत्वों से होता है जो अनतःक्रिया करते समय एकात्मक 'पूर्ण' बनाते हैं।

व्यवस्थावादी उपागम अपने आप में नया नहीं है। इस उपागम का सर्वप्रथम विकास प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों में हुआ। टॉलकॉट पारसन्स ने सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन में इस उपागम को अपनाया। इसी तरह मनोवैज्ञानिक, राजनीतिशास्त्री तथा प्रशासनिक विश्लेषक तथ्य या घटना के विश्लेषण में व्यवस्थावादी उपागम का प्रयोग करते रहे हैं। प्रशासनिक विश्लेषण में सामयिक वर्षों में व्यवस्थावादी उपागम का विस्तृत रूप से प्रयोग हो रहा है।

चेस्टर बर्नार्ड को मूल रूप से एक व्यवहारवादी माना जाता है, क्योंकि उन्होंने प्रबन्ध के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया। उसके साथ ही उन्हें व्यवस्थावादी विचारक माना जाता है। वह संगठन को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखते हैं।

बर्नार्ड अपने सिद्धान्त का विकास एक केन्द्रीय प्रश्न को लेकर करता है कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति का सरकारी व्यवहार सम्भव है? वह संगठन को एक सहकारी व्यवस्था समझते हैं। उनका कहना है कि सहयोग का जन्म उन उद्देश्यों की प्राप्ति की आवश्यकता से होता है, जिन्हें वह अकेले प्राप्त नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप, संगठन दूसरे लोगों के सहयोग की भर्ती बन जाता है। चूँकि संगठन में बहुत से व्यक्ति सहयोगी व्यवहार में संलग्न होते हैं, यह निरन्तर बदलता है तथा जटिल जीव वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारक निरन्तर पारस्परिक क्रिया करते हैं। सहयोगी संगठन को अपने अस्तित्व के लिए संगठन उद्देश्यों को प्राप्त करने के अर्थ में प्रभावी एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों को सन्तुष्ट करने में व्यवहारिक होना चाहिए। इस प्रकार संगठन और व्यक्ति दोनों महत्वपूर्ण बन जाते हैं। प्रभावशीलता तथा कुशलता का यही चिन्तन सहयोगी व्यवहार के उसके सिद्धान्त का मूल आधार है।

सहयोग के तथ्यों का परीक्षण करते हुए सहयोग के कारणों की खोज बर्नार्ड भौतिक तथा क्रियात्मक कारणों में करते हैं। व्यक्ति सहयोग करते हैं क्योंकि अकेले वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। उनकी शारीरिक सीमाएं सहयोगी कार्यवाही की ओर उन्हें ले जाती हैं। सहयोगी तथ्यों को परखने की एक दूसरी दृष्टि है कि स्वरूप अकेले व्यक्ति पर ऐसे प्रतिबन्ध लगा देती है कि व उन पर सहयोगी कार्यवाही के अतिरिक्त विजय नहीं पा सकता।

बर्नार्ड के अनुसार, सहयोगी व्यवस्थाएं औपचारिक संगठनों को जन्म देती हैं। संगठन की परिभाषा देते हुए बर्नार्ड कहते हैं कि संगठन जान-बूझकर समन्वित की गयी व्यक्तिगत गतिविधियों या शक्तियों का नाम है।

संक्षेप में, बर्नार्ड की मान्यता है कि प्रत्येक संगठन मूलतः एक सहयोगी व्यवस्था है, सहयोगी प्रयास को चेतनागत रूप से समन्वित होने की आवश्यकता है। संगठनात्मक प्रक्रिया का यही वह क्षेत्र है जिसमें कार्यपालिका को एक सहयोगी व्यवस्था के लक्ष्यों तथा ध्येयों को प्राप्त करने में भूमिका निभानी है।

3.6.6 व्यवहारवादी उपागम: हर्बर्ट साइमन

हर्बर्ट साइमन ने संरचनात्मक उपागम पर कड़ा प्रहार किया तथा निर्णय प्रक्रिया में मूल्य प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में मानव व्यवहार का विश्लेषण किया।

साइमन के लिए प्रशासन 'कार्य कराने' की कला है। उन्होंने उन प्रक्रियाओं तथा विधियों पर बल दिया जिनसे कार्यवाही सुनिश्चित हो। वह कहते हैं कि प्रशासनिक विश्लेषण में उस चयन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है जो कार्यवाही से पहले किया जाता है। 'वस्तुतः कार्यवाही' की अपेक्षा 'क्या करना है' के प्रश्न निर्धारण पर उचित ध्यान नहीं मिला। निर्णय लेना चयन की वह प्रक्रिया है जिस पर कार्यवाही आधारित होती है। साइमन ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि इस आयाम को भली प्रकार समझने के अभाव में, प्रशासन का अध्ययन अधिकांश रूप में अपर्याप्त रहेगा, क्योंकि यही संगठन में व्यक्ति के व्यवहार को सुस्थिर करता है।

व्यवहारवादी उपागम में, कार्यवाही से पूर्व की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया जाता है। इसे निर्णय लेने की प्रक्रिया के नाम से जाना जाता है। निर्णय लेने की आवश्यकता उस समय उत्पन्न होती है जब व्यक्ति के पास किसी कार्य को करने के लिए बहुत से विकल्प होते हैं। परन्तु व्यक्ति को छंटनी की प्रक्रिया के माध्यम से केवल एक ही विकल्प चुनना होता है। अतः निर्णय निर्माण अनेक विकल्पों को लेकर एक विकल्प पर लाने की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है। मानव की बुद्धिमता इसमें है कि वह ऐसे विकल्प का चुनाव करे, जिससे अधिकतम सकारात्मक तथा न्यूनतम नकारात्मक परिणाम निकले।

साइमन के अनुसार किसी भी संगठन में कार्योत्पाद स्तर से ऊपर (अर्थात् प्रबन्धक) के लोग महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, क्योंकि उन्हें निर्णय लेने के अधिक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। उन्हें संगठनात्मक लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, सिपाही युद्ध के मैदान में लड़ते हैं और अपने स्तर पर कुछ निर्णय भी लेते हैं, परन्तु जनरल द्वारा बनायी गयी व्यापक रणनीति ही युद्ध का परिणाम निर्धारित करती है।

संगठन में कर्मचारी स्तर से ऊपर के प्रबन्धक अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। वे निर्णय तथा योजना बनाते हैं एवं कर्मचारी वर्ग का निर्देशन करते हैं। छोटे संगठनों में, पर्यवेक्षक वर्ग का प्रभाव सीधा होता है, जबकि बड़े तथा जटिल संगठनों में प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है। इसलिए साइमन कहते हैं कि एक प्रभावी संगठन में कर्मचारी वर्ग की स्थापना होती है तथा उसके ऊपर प्रशासक वर्ग (प्रबन्धक) स्थापित होता है जो कर्मचारी वर्ग को समन्वित कर सके। उनका यह भी कहना है कि संगठनों का कार्य उस विचार शैली पर निर्भर करता है, जिसके द्वारा कर्मचारियों के निर्णय तथा व्यवहार प्रभावित होते हैं। इन्हीं कारणों से व्यवहारवादी उपागम इस बात पर बल देता है कि किसी संगठन की संरचना एवं कार्य का व्यावहारिक ज्ञान सर्वोत्तम तरीके से प्राप्त किया जा सकता है, यदि संगठन की गहरी जानकारी और उसके द्वारा इन कर्मचारियों के निर्णय तथा व्यवहार को प्रभावित करने के ढंग का विश्लेषण कर लिया जाए।

निर्णय लेने की प्रक्रिया में तीन चरण गतिविधियों के रूप में सम्मिलित होते हैं। वे हैं- बौद्धिक क्रिया, संरचना क्रिया तथा चयन क्रिया। पहला चरण, बौद्धिक क्रिया में निर्णय लेने के अवसर खोजना शामिल है। दूसरा चरण, संरचना क्रिया है। जिसमें कार्य विशेष को करने के विभिन्न विकल्नों का विकास सम्मिलित है। कार्यकारी को प्रत्येक विकल्प के गुण-दोष एवं उनमें निहित समस्याओं की पहचान करनी पड़ती है। अन्तिम चरण, चयन क्रिया है। इसमें निर्णयकर्ता को संगठन के ध्येयों को ध्यान में रखकर विभिन्न विकल्पों में से एक विकल्प का चयन करना होता है।

साइमन के अनुसार सही विकल्प का चयन व्यक्ति के कार्य निष्पादनों से जुड़ा है। इसका सम्बन्ध मूल्यों के प्रश्न से है। मूल्य, वरीयता की अभिव्यक्ति होती है इसलिए यह तथ्य पर आधारित नहीं होती है। दूसरी तरफ तथ्य, सच्चाई की अभिव्यक्ति है, इसे दर्शनीय साधनों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। विकल्प या निर्णय में तथ्य तथा मूल्य दोनों शामिल होते हैं। ये किसी निर्णय में सम्मिलित नैतिक एवं तथ्यपरक शब्दों के विश्लेषण की कसोटियों को स्पष्ट करते हैं।

साइमन का तर्क है कि संगठन के सदस्यों का व्यवहार आंशिक रूप से संगठन के उद्देश्यों से निर्धारित होता है। उद्देश्यशीलता व्यवहार के स्वरूप में एकीकरण लाती है। उद्देश्य की अनुपस्थिति संगठन को अर्थहीन बना देती है।

उद्देश्य, निर्देशन व सन्दर्भ को वह ढ़ाँचा प्रदान करता है जो यह निर्धारित करता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए?

साइमन संयोजित व असंयोजित निर्णयों में स्पष्ट भेद करते हैं। पहले निर्णय वे हैं जो स्वरूप से दुहराए जाने वाले व आम होते हैं। ऐसे निर्णयों के लिए निश्चित प्रक्रिया बनायी जा सकती है। संयोजित निर्णय में आदतें, कौशल तथा समस्या के विषय में ज्ञान महत्वपूर्ण है। ऐसे निर्णय में गणितीय मापांक तथा कम्प्यूटर निर्णयकर्ता को तार्किक निर्णयों को लेने में मदद कर सकते हैं। इसके विरूद्ध असंयोजित निर्णय नए तथा अनबद्ध होते हैं। कोई पहले से तैयार पद्धतियां उपलब्ध नहीं होती तथा प्रत्येक प्रश्न या मसले पर अलग से विचार करना होता है। उचित तथा संगत निर्णय लेने की क्षमता का विकास करने के लिए कार्य संगत कौशलों में प्रशिक्षण तथा नवीन खोजों का विकास महत्वपूर्ण है।

संक्षेप में, व्यवहारवादी उपागम के अनुसार प्रशासनिक क्रिया समूह की क्रिया होती है। संगठनों में निर्णय-निर्माण एक व्यक्ति या परिवार के मामले से भिन्न अधिक व्यवस्थित प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में साइमन के अनुसार, तीन महत्वपूर्ण चरण होते हैं। वे हैं- निर्णय निर्माण प्रक्रिया में तत्वों को पृथक् करना, इन तत्वों को चुनने या निर्धारित करने की प्रक्रिया तथा संगठन के सदस्यों को इन तत्वों की जानकारी देना। संगठन व्यक्ति से उसकी निर्णय लेने की स्वायत्तता का एक भाग ले लेता है तथा उसके स्थान पर संगठनात्मक निर्णय निर्माण प्रक्रियाओं का अधिकार दे देता है, सत्ता का निर्धारण करता है तथा इसके चयन पर सीमाएं भी लगाता है।

3.6.7 सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपागम: डगलस मैक्ग्रेगर एवं अब्राहम मैस्लो

सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपगाम संगठन तथा मानव के बीच सम्बन्धों को समझने का एक साधन है। यह उपागम मूलतः संगठन के मानव पक्ष पर बल देता है। व्यक्ति तथा संगठन के प्रति उसके योगदान में विश्वास इस उपागम का केन्द्र है। इस उपागम के प्रति अनेक विचारकों तथा लेखकों का योगदान है। उनमें अब्राहम मैस्लो एवं मैक्ग्रेगर के योगदान अपूर्व हैं।

मैस्लो ने 1943 में प्रकाशित अपने एक लेख 'मानव अभिप्रेरणा का एक सिद्धान्त' में अभिप्रेरणा के एक सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने संगठन तथा व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों को मानव आवश्यकताओं की दृष्टि से विश्लेषण किया। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठनों के सदस्य बनते हैं। ये आवश्यकताएं अनेक क्षेत्रों में उत्पन्न होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति उन्हें निष्पादन के उच्चतर स्तर की ओर अभिप्रेरित करती है। मांगों का पूरा न होना, संगठनात्मक उद्देश्य प्राप्त करने के लिए संगठन के प्रति लोगों द्वारा येागदान देने की अभिप्रेरणा पर उलटा प्रभाव डालेगा।

मैस्लो व्यक्ति की अभिप्रेरणात्मक आवश्यकताओं को सोपानात्मक रूप से व्यवस्थित करते हैं। उनके अनुसार संगठन में मानव व्यवहार को बतलाने वाली मनुष्यों की अनेक आवश्यकताएं हैं। इन आवश्यकताओं का सोपानक्रम होता है- शारीरिक आवश्यकताएं, सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताएं, सामजिक आवश्यकताएं, प्रतिष्ठा या आदर सम्बन्धी आवश्कताएं तथा स्वयंसिद्ध आवश्यकताएं। शारीरिक तथा सुरक्षा की आवश्यकताएं सोपानक्रम में निचले स्तर की आवश्यकताएं हैं तथा स्वयंसिद्ध आवश्यकताएं सोपानक्रम में सर्वोच्च हैं। सामाजिक तथा आदर सम्बन्धी आवश्यकताएं इनके बीच में या सोपानक्रम के मध्य स्तर पर आती हैं। मैस्लो का विश्वास था कि निचले स्तर की आवश्यकताओं को पूरा किए बिना व्यक्ति को अभिप्रेरित नहीं किया जा सकता।

मैस्लो के अनुसार प्रत्येक आवश्यकता एक समय पर एक व्यक्ति के लिए लक्ष्य होती है। यदि व्यक्ति की मूल आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं तो वह अपनी सारी शक्तियां उस क्षेत्र में सन्तुष्टि प्राप्त करने में केन्द्रित करता है। जब वह एक आवश्यकता क्षेत्र में सन्तुष्टि प्राप्त कर लेता है तो वह उसके ऊपर के क्रम की आवश्यकता की ओर चलता है। यह प्रक्रिया मानव जीवन में प्रतिदिन चलती रहती है। एक आवश्यकता क्षेत्र में किसी विशेष लक्ष्य का पूरा ना

होना व्यक्ति को उसे प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। जब यह प्राप्त हो जाता है तो फिर यह व्यक्ति को उस क्षेत्र में कार्य करने के लिए अभिप्रेरित नहीं करता। यह मैस्लो के आश्यकता सोपानक्रम सिद्धान्त की मुख्य आधाशिलाओं में से एक है।

डगलस मैक्ग्रेगर एक ख्याति-प्राप्त व्यवहारवादी तथा मनोवैज्ञानिक हैं। वह संगठनात्मक निष्पादन के प्रति योगदान देने में मानव की क्षमताओं पर कटटर विश्वास रखने वाले हैं। उनके अनुसार संगठनों में लोगों से सर्वोत्तम कार्य लेने में असफलता का कारण संगठन तथा व्यक्ति की ओर देखने का हमारा परम्परावादी दृष्टिकोण है। वे इस दृष्टिकोण को 'एक्स सिद्धान्त' कहते हैं। 'एक्स सिद्धान्त' के अनुसार (1) आम आदमी काम के प्रति स्वाभाविक अरूचि या नापसन्दगी रखता है तथा वह इससे बचने की कोशिश करता है; (2) काम के प्रति अरूचि की उस मानवीय विशेषता के कारण अधिकतर व्यक्तियें को संगठनात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रति पर्याप्त प्रयास करने की लिए बाध्य करने, नियन्त्रित करने, निर्देशित करने तथा दण्ड की धमकी देने की आवश्यकता है।

'एक्स सिद्धान्त' मनुष्यों को सुस्त, कोई आकांक्षा न रखने वाला, परिवर्तन विरोधी, अरचनात्मक और झूठा मानता है। ऐसी स्थिति में प्रबन्ध दो नीतियां अपना सकता है- कठोर तथा शिथिल। कठोर नीति में गहरा पर्यवेक्षण, कठोर नियन्त्रण, दबाव एवं धमकी जैसी तकनीक निहित है। दूसरी ओर शिथिल नीति अधिक छूट देने वाली होती है, मांगों की पूर्ति करती है तथा संगठन एवं कर्मचारियों की मांगों में समन्वय स्थापित करने का प्रया करती है।

'एक्स सिद्धान्त' पुरातनवादी प्रशासनिक सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है तथा कुशलता एवं मितव्ययिता पर बल देता है। क्योंकि मानव काम से बचने का प्रयास करता है, प्रबन्ध को इस अन्तर्निहित या स्वाभाविक मानव स्वरूप का प्रतिकार करना चाहिए। इसिलए 'एक्स सिद्धान्त' निदेशन एवं नियन्त्रण पर बल देला है।

'एक्स सिद्धान्त' केवल प्रबन्ध नीति के विषय में बतलाता है। यह नहीं बतलाता कि कर्मचारियों को कौन-से कारण अभिप्रेरित करते हैं? अतः मैक्ग्रेगर का मत है कि एक्स सिद्धान्त का संगठन प्रबन्ध तथा मुनष्य के बारे में जो मान्यताएं हैं, वह निष्पादन तथा उत्पादन के मार्ग में बाधाएं हैं। इसलिए एक्स सिद्धान्त के स्थान पर मैक्ग्रेगर ने एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे व्यापक रूप से 'वाई सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। यह नया सिद्धान्त मनुष्य तथा प्रबन्ध के बीच सम्बन्धों को एक नई दृष्टि प्रदान करता है। इस नए सिद्धान्त में मैक्ग्रेगर निर्देशन तथा नियन्त्रण के स्थान पर 'समन्वय' की स्थापना करता है। उसके अनुसार समन्वय का अर्थ ऐसी स्थितियों का निर्माण करने में है, जिसमें संगठनों के सदस्य अपने उद्देश्यों को उद्यम की सफलता की ओर अपने प्रयासों को लगाकर सर्वाधिक अच्छे रूप में प्राप्त कर सकते हैं। 'वाई सिद्धान्त' एक ऐसे संगठन को बनाए रखने के महत्व पर बल देता है, जिसमें लोग आत्मविश्वासी तथा अभिप्रेरित अनुभव करें।

संक्षेप में, मैस्लो तथा मैक्ग्रेगर जैसे सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तवादियों ने संगठनों में मानव तत्व को समझने की सदियों पुरानी समझ को नयी तकनीक प्रदान की।

3.6.8 पारिस्थितिकीय उपागम: फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रशासन और संगठन के अध्ययन हेतु पारिस्थितिकीय उपागम का प्रचलन हुआ। इस उपागम को संगठन के अध्ययन के तुलनातमक उपागम के नाम से भी जाना जाता है। इस उपागम के प्रचलन के पीछे यह धारणा है कि पश्चिमी संगठन के सिद्धान्त तृतीय विश्व के देशों में प्रशासन की समस्याओं के अध्ययन के लिए अपर्याप्त हैं।

लोक प्रशासन अपने परिवेश में अलग रहकर कार्य नहीं करता। परिवेश और वातावरण प्रशासन को प्रभावित करता है। 'पारिस्थितिकीय' शब्द जीव विज्ञान से लिया गया है। यह प्राणियों तथा उनके भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरण की अन्तःक्रिया का अध्ययन है। जिस प्रकार एक पौधे के विकास के लिए विशेषकर प्रकार की जलवायु,

मिट्टी, नमी तथा तापमान, आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक समाज का विकास उसके अपने इतिहास, आर्थिक संरचना, मूल्यों राजनीतिक व्यवस्था, आदि से जुड़ा होता है।

जे0 एम0 गॉस, रॉबर्ड ए0 डहल तथा रॉबर्ट ए0 मर्टन ने फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स से वर्षों पहले लोक प्रशासन के अध्ययन के पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण की शुरूआत की थी। परन्तु रिग्स ने ही इस दृष्टिकोण के प्रति महत्वपूर्ण योगदान दिया। विकासशील देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के अपने अध्ययन में रिग्स ने एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रशासनिक तथा आर्थिक, तकनीकी, राजनीति तथा संचार कारकों के बची सम्बन्ध का विश्लेषण किया है। थाईलैण्ड तथा फिलिपीन्स में अपने अध्ययनों के आधार पर उसने उदाहरण देकर यह बतलाया कि किस प्रकार पर्यावरण प्रशासनिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करता है।

समपार्श्वीय (प्रिज्मैटिक) समाज में सामाजिक संरचनाओं के महत्वपूर्ण तत्वों और इस समाज के प्रशासनिक उपतन्त्र जिसे रिग्स ने 'साला' कहा है, के साथ उनकी परस्पर क्रिया का अध्ययन ही रिग्स के विश्लेषण का केन्द्र-बिन्दु है। बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) तथा अल्पकार्यात्मक (डिफेक्टेड) समाजों की केवल रूपरेखा ही प्रदान की है जो केवल उस सीमा तक प्रासंगिक है, जिस सीमा तक वह समपार्श्वीय समाजों के विश्लेषण में सहायक है। रिग्स की मुख्य रूचि समपार्श्वीय अथवा विकासमान प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालने में रही है।

3.7 लोक प्रशासन का महत्व

लोक प्रशासन आधुनिक राज्य का एक अनिवार्य तत्व है। आधुनिक राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और उसे काफी नियोजित ढंग से कार्य करना पड़ रहा है। आधुनिक राज्यों के विस्तृत कार्यों एवं योजनाओं की पूर्ति के लिए एक सुसंगठित, विशाल और सकारात्मक उद्देश्य वाले लोक प्रशासन की आवश्यकता बढ़ गयी है। लोक कल्याणकारी राज्य के उदय ने पुराने नियामकीय कार्यों (कानून-व्यवस्था) को गौण बना दिया है और राज्य पर सामाजिक सेवाओं और समाज के चहुँमुखी नियोजित विकास का दायित्व लाद दिया है। फलतः लोक प्रशासन का दायित्व गुरूतर हो गया है, उसका आकार विशाल हो गया है और जनजीवन पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ने लगा है।

लोक प्रशासन का महत्व हमारे दैनिक जीवन में निरन्तर बढ़ता जा रहा है। पिछली शताब्दी में राज्य 'पुलिस राज्य' माना जाता था और उसका कार्य-क्षेत्र सीमित था। वह केवल निषेधात्मक कार्य किया करता था। राज्य के निषेधात्मक कार्य थे- न्याय प्रदान करना, शान्ति बनाने रखना, सम्पत्ति की रक्षा करना, वैध समझौतों को लागू करना, आदि। किन्तु 20वीं शताब्दी की बदली हुई परिस्थितियों के साथ-साथ राज्य की स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। आज 'पुलिस राज्य' की निषेधात्मक अवधारणा का स्थान 'जनकल्याणकारी' राज्य की सकारात्मक अवधारणा ने ले लिया है। वर्तमान में राज्य के कार्यों में लगातार वृद्धि होती जा रही है। हमारे जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जो राज्य की क्रियाओं से प्रभावित ना होता हो। राज्य की समस्त क्रियाओं एवं गतिविधियों का क्रियान्वयन व संचालन लोक प्रशासन द्वारा ही होता है। अतः राज्य के बढ़ते हुए दायित्वों एवं गतिविधियों के साथ लोक प्रशासन का महत्व भी बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक राज्य को 'प्रशासकीय राज्य' कहा गया है। जहाँ 'झूले से लेकर कब्र' तक व्यष्टि जीवन के प्रत्येक मोड़ पर व्यक्ति लोक प्रशासन से सम्बन्धित रहता है। लोक प्रशासन व्यक्ति के जन्म से पूर्व ही उसमें रूचि लेने लगता है तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त भी अपनी अभिरूचि बनाये रखता है। गर्भवती माता के समुचित आहार एवं दवाइयों की व्यवस्था करना; व्यक्ति की मृत्यु का सरकारी अभिलेख में उल्लेख करना; बेरोजगारी, अभाव, प्राकृतिक संकट, महामारी, इत्यादि के प्रकोप के समय नागरिकों की सहायता करना लोक प्रशासन के महत्व को दर्शाता है।

राज्य की नीतियों को कार्यान्वित करने का उत्तर दायित्व लोक प्रशासन पर ही होता है। राज्य की नीतियां चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसके परिणाम तभी अच्छे निकल सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा

के साथ लागू किया जाये। वस्तुतः राज्य के कार्यों के सफल संचालन के लिए कुशल प्रशासनिक अधिकारियों का सहायेग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सरकार एक आकार है, जिसमें प्रशासक एक चित्रकार की भाँति रंग भरता है, उसको उपयोगी एवं प्रभावशाली बनाता है। प्रशासन सरकार का व्यक्तित्व है, सरकार के हाथ, पैर और चक्षु हैं, सरकार की सफलता का रहस्य है। दूषित प्रशासन सरकार के लिए राजरोग से कम नहीं है। प्रशासनिक अव्यवस्था, अदक्षता एवं अयोग्यता के विरूद्ध कभी भी विस्फोट हो सकता है और सरकार की व्यवस्था धराशायी हो सकती है। इसलिए वर्तमान युग को 'प्रशासनिक राज्य का युग' कहा गया है।

लोक प्रशासन राज्य के अन्तर्गत स्थैर्यकारी तत्व है तथा राज्य और समाज को स्थिरता एवं व्यवस्था प्रदान करता है। लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में सरकारें प्रायः बदलती रहती हैं, परन्तु प्रशासन में स्थिरता और निरन्तरता बनी रहती है। उपनिवेशवाद के पटाक्षेप के साथ विश्व के सभी देशों में जन-सामान्य में नयी आशा का संचार हुआ। विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में अतुल्य शक्ति दी, जिसके द्वारा विश्व के इतिहास में प्रथम बार अभाव को मिटाने की सम्भावना मानव के हाथ में आयी। पूर्व रूस की साम्यवादी क्रान्ति के बाद नियोजित विकास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ, जिसमें आर्थिक विकास की दिशा और गति अर्थशास्त्र के अन्धे नियमों की अनुगामी न होकर राज्य के द्वारा सुनिश्चित की जा सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद में युद्ध में क्षत-विक्षत राष्ट्रों के आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने यह स्पष्ट कर दिया कि नियोजित विकास न केवल सम्भव है, वरन् आधुनिक युग में अनिवार्य भी है।

आधुनिक युग में लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तन तथा सुधार संशोधन का एक महान अभियान है। महान सामाजिक परिवर्तनों को नियोजित तथा व्यवस्थित रूप में क्रियान्वित करने का भार देश में लोक प्रशासन के कन्धों पर ही है। हमारे देश में बेरोजगारी, गरीबी, बीमारी, छुआछूत मिटाने के लिए राज्य दृढ़ संकल्प लिये हुए है। नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को अमल में लाने के लिए, समाजवादी समाज के निर्माण और लोककल्याणकारी आदर्शों के यथार्थ क्रियान्वयन के लिए राज्य कटिबद्ध है। लोक प्रशासन के इन कार्यों की सफलता या असफलता लोक प्रशासन पर ही निर्भर करती है। प्रो0 डोनहम के शब्दों में ''यदि हमारी सभ्यता असफल होती है तो ऐसा मुख्यतया प्रशासन के पतन के कारण होगा।''

संक्षेप में, प्रशासन सभ्य समाज की प्रथम आवश्यकता है। देश में अमन-चैन, व्यवस्था एक स्थिरता बनाये रखने के लिए योग्य एवं क्षमताशील प्रशासन का होना नितान्त आवश्यक है। फाइनर के शब्दों में ''कुशल प्रशासन सरकार का एकमात्र एक अवलम्ब है, जिसकी अनुपस्थिति में राज्य क्षत-विक्षत हो जायेगा।'' ब्रिटिश प्रशासन विशेषज्ञ ग्लैडन के शब्दों में ''हम चाहें या न चाहें, आधुनिक युग में लोक प्रशासन हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक बन गया है। यदि हम यह अनुभव कर सकते हैं कि इसका विस्तार अधिक हो रहा है तो हमें इसका क्षेत्र सीमित करने के लिए इसका अध्ययन करना पड़ेगा। यदि हम इसे सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक समझते हैं तो हमारे लिए इसका अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है कि यह अपने उद्देश्य को क्षमतापूर्वक पूरा कर सके और उससे अधिक इसका विस्तार न हो। लोकतन्त्र में लोक प्रशासन प्रत्येक नागरिक के अध्ययन, चिन्तन और मनन का विषय है, भले ही वह छात्र हो या मजदूर, विचारक हो या सरकारी कर्मचारी। सभी व्यक्ति उत्तम जीवन बिताना चाहते हैं, इसमें लोक प्रशासन बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, अतः वर्तमान युग में यह अति आवश्यक हो गया है।''

अभ्यास प्रश्न- 2

1. लोक प्रशासन में लोक का अर्थ क्या है?
2. 'POSDCORB' से आप क्या समझते हैं?
3. वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त क्या है?
4. परिस्थितिकीय उपागम एक संक्षिप्त विवरण दीजिए।

3.8 सारांश

लोक प्रशासन लगभग विगत 127 वर्ष से निरन्तर अपनी पहचान, बनाने की प्रक्रिया में है। इस विधा के विकासात्मक चरण जो सामने आ रहे हैं, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप बदलती सीमाओं को रेखांकित करते हैं। प्रशासनिक व्यवहारों की यह जिम्मेदारी बनती है कि वे सामाजिक परिवर्तन के क्रम में उभरती हुई नई समस्याओं के प्रति अपना दायित्व निभायें। इसी पूर्वग्रहों के साथ-साथ लोक प्रशासन भी अपने प्राचीन कार्य दक्षतापरख पूर्वग्रहों तथा रूढ़िवादी प्रवृत्ति के मुक्त होना चाहता है।

इसी के साथ अस्सी के दशक के बाद से लोक प्रशासन सम्बन्धी विमर्शों में एक उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ है। इसका सम्बन्ध सार्वजनिक प्रबन्धन के सिद्धान्त से है। यह राज्य अथवा सरकार उन्मुखता से ज्यादा बाजारोन्मुखी सिद्धान्त है।

3.9 शब्दावली

प्रबन्धक- प्रबन्ध करने वाला, केन्द्रीयकरण- निर्णय एवम नियोजन का अधिकार केन्द्रित होता है, प्रमापीकरण- स्टैन्डर्ड निश्चित करना

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1

1. प्रस्तावना का अध्ययन करें।
2. हेनरी फेयोल के 14 सिद्धान्त प्रबन्ध के सिद्धान्त में दर्शाये गये हैं।
3. टेरी द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध की परिभाषा 'प्रबन्ध के परिभाषा' शीर्षक में दिया गया है।
4. प्रबन्ध के महत्व में इसका वर्णन है।

अभ्यास- 2

1. सार्वजनिक अथवा लोक हित के लिए सरकार की क्रियाएं सम्पन्न की जाती है।
2. लूथर गुलिक के सिद्धान्त का अध्ययन करें।
3. वेबर नाम से नौकरशाही उपागम को पढ़ें।
4. संगठन के सिद्धान्त में अन्तिम उपागम का अध्ययन करें।

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक प्रशासन के सिद्धान्त तथा व्यवहार- सी0 पी0 भाम्भरी।
2. लोक प्रशासन- एम0 पी0 शर्मा एवं वी0 एल0 सडाना।
3. लोक प्रशासन के नये आयाम- मोहित भट्टाचार्य।
4. लोक प्रशासन- बी0 एल0 फाड़िया।
5. लोक प्रशासन- रूमकी बसु।

3.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. लोक प्रशासन के नये आयाम- मोहित भट्टाचार्य।
2. लोक प्रशासन- बी0 एल0 फाड़िया।
3. लोक प्रशासन- रूमकी बसु।

3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ''प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशक'' इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. प्रबन्ध को परिभाषित कीजिए। इसके महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3. फेयोल के प्रबन्ध सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
4. आधुनिक राज्य में लोक प्रशासन के महत्व की व्याख्या कीजिए।
5. वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

इकाई- 4 नेतृत्व- आवश्यकता, अर्थ, स्वरूप , नेतृत्व के गुण, नेतृत्व का विकास

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 नेतृत्व की आवश्यकता
4.3 नेतृत्व का अर्थ
4.4 नेतृत्व की परिभाषा
4.5 नेतृत्व की स्वरूप
4.6 नेतृत्व की गुण
    4.6.1 शारीरिक गुण
    4.6.2 बौद्धिक गुण
    4.6.3 मनोवैज्ञानिक गुण
4.7 नेतृत्व का विकास
4.8 सारांश
4.9 शब्दावली
4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4. 12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

नेतृत्व की प्राचीन अवधारणा उसकी वर्तमान अवधारणा से भिन्न है। नेतृत्व की प्राचीन अवधारणा के अनुसार नेता अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व द्वारा अपने अनुयायियों से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने में समर्थ होता था। अनुयायी अपने नेता के आदेशों एवं निर्देशों का आंख बन्द करके अनुमोदन करते थे। उन्हे बोलने, मत प्रकट करने, सुझाव देने अथवा आलोचना करने का अधिकार नहीं था। लोकतन्त्र की सफलता में इस प्रकार के नेतृत्व की अवधारणा का कोई मूल्य नहीं है। अतः समयानुसार लोक प्रशासन एवम् प्रबन्धन के बदलते परिवेश में प्राचीन नेतृत्व की अवधारणा पर कई प्रश्न-चिन्ह उठे।

अन्ततोगत्वा नेतृत्व की नवीन अवधारणा का जन्म बदलते सामाजिक परिस्थितियों में बहुत मूल्यवान एवम् सार्थक सिद्ध हुआ। नेतृत्व की आधुनिक अवधारणा के अनुसार नेता अपने अनुयायियों को अपने साथ लेकर, मिलजुलकर, सामूहिक भावना से एवम् सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए स्वेच्छा से कार्य कराता है। इसमें सभी की सहमति तथा मूल्यावान विचारों का सम्मान निहित रहता है। नेता अपने एवम् सहयोगियों के मध्य प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करता है। फलस्वरूप नेता कुशल व्यवहार से अपने अनुयायियों को प्रभावित कर निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सदा अग्रसर रहता है। नेतृत्व एक प्रकार से अपने अधीनस्थों को प्रभावित करने एवम् उनका मार्गदर्शन करने की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नेतृत्व की आवश्यकता, उसके अर्थ एवं स्वरूप के विषय में जान पायेंगे।
- नेतृत्व के गुण एवं उसके विकास के बारे में विस्तार से जान पायेंगे।

4.2 नेतृत्व की आवश्यकता

पीटर एम ड्रकर के अनुसार, ''अधिकांश व्यापारिक प्रतिष्ठानों के असफल होने का प्रमुख कारण अकुशल नेतृत्व रहा है।''

प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम में अनेक कर्मचारी लगे हुए होते हैं। ये कर्मचारी एक समूह के रूप में पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं। उपक्रम में कर्मचारियों का समूह छोटा हो, अथवा बड़ा हो, उसे उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अपने सदस्यों को कार्यों के पथ-प्रदर्शन, अभिप्रेरणा एवं निर्देश के लिए एक प्रभावशाली नेता की आवश्यकता होती है। नेता कर्मचारियों को अभिप्रेरित एवं निर्देशित करके संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति कराता है। व्यापारिक परिस्थितियां निरन्तर परिवर्तनों के अधीन रहती हैं। अतः इन परिवर्तनीय स्थितियों के अन्तर्गत प्रभावी नियन्त्रण करने के लिए उपयुक्त नेतृत्व का होना नितान्त आवश्यक होता है। एक कुशल नेतृत्व किसी व्यावसायिक उपक्रम के पतन से प्रगति की ओर, पग पग पर उठने वाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके ले जाता है। नेतृत्व ही वह शक्ति होती है जो समूह प्रयासों को सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अभिप्रेरित एवं निर्देशित करता है। निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि प्रबन्धकीय सफलता का रहस्य वस्तुतः कुशल नेतृत्व में ही निहित होता है। नेतृत्व ही वह शक्ति है जो एक समूह के सदस्यों से बगैर किसी दबाव के बाधित कार्य पूर्ण क्षमता के साथ करवाती है। अच्छा नेतृत्व अपने अनुयायियों को कार्य-निष्पादन में कुलशलता एवं सुरक्षा प्रदान करता है। नेतृत्व सम्बन्धी गुणों के बारे में विभिन्न मत है। एक मत कहता है कि नेता जन्मजात होते हैं। उनमें नेतृत्व के सभी गुण जन्म से ही परिलक्षित हो जाते हैं। दूसरा मत इसके विपरीत है कि नेता में नेतृत्व की स्वरूप बनाई भी जा सकती है। परन्तु इस विवाद को प्रबन्धन जगत के एक चिंतक आर्डवे टीड ने बड़ी सरलता से समझाया है कि नेता जन्मते भी हैं और बनाये भी जाते हैं। जिन व्यक्तियों में नेतृत्व के गुण होते हैं वे अवसर पाते ही लाभ उठाते हैं और स्वतः ही प्रकाश में आ जाते हैं।

4.3 नेतृत्व का अर्थ

नेतृत्व से आशय किसी व्यक्ति विशेष के उस गुण से है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों का मार्ग प्रदर्शन करता है तथा नेता के रूप में उनकी क्रियाओं का संचालन करता है। नेता के पीछे उनके अनुयायियों का एक समूह होता है, जो उसके निर्देशन के अनुरूप कार्य करता है। वास्तव में नेतृत्व में वह क्षमता है जिसके द्वारा उसके अनुयायियों के समूह से वांछित कार्य स्वेच्छा पूर्वक सम्पन्न होते हैं। एक शक्तिशाली नेतृत्व अपने अनुयायियों को कार्य निष्पादन में आवश्यक प्रोत्साहन देता है, फलस्वरूप लोक स्वतः अपेक्षित उद्देश्य रूपी कार्यों को शीघ्र से शीघ्र निष्ठा से निष्पादन करते हैं। नेतृत्व विद्यमान परिस्थितियों में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों अथवा उसके समूह की क्रियाओं को प्रभावित करने एवं उनका मार्ग दर्शन करने की ही प्रक्रिया है।

4.4 नेतृत्व की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने नेतृत्व की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

सामाजिक विज्ञान के शब्दकोष (Encyelopaedia of Social Sciences) के अनुसार, ''नेतृत्व से आशय किसी व्यक्ति एवं वर्ग के मध्य ऐसे सम्बन्ध में है जिससे कि सामान्य हित के लिए दोनों परस्पर मिल जाते हैं तथा अनुयायियों (Followers)का समूह उस एक व्यक्ति के निर्देशानुसार ही कार्य करता है।''

कुण्ट्ज एवं ओ0 डोनैल के अनुसार, ''किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सन्देशवाहन के माध्यम द्वारा व्यक्तियों को प्रभावित कर सकने की योग्यता नेतृत्व कहलाती है।"

चेस्टर आई0 बर्नार्ड के अनुसार, ''नेतृत्व का आशय व्यक्ति के व्यवहार के उस गुण से है, जिसके द्वारा वह अन्य लोगों को संगठित प्रयास से सम्बन्धित कार्य करने में मार्गदर्शन करता है।"

लिविंगस्टन(Livingston) के शब्दों में, ''नेतृत्व अन्य लोगों में किसी सामान्य उद्देश्य को अनुसार करने की इच्छा को जाग्रत करने की योग्यता है।"

ऑर्डवे टीड (Ordway Tead) के शब्दों में, ''नेतृत्व गुणों का वह संयोजन है जिनके होने से कोई भी अन्य से कुछ कराने के योग्य होता है, क्योंकि मुख्यतः उसके प्रभाव द्वारा वे ऐसा करने को तत्पर हो जाते हैं।"

मूले तथा रेले (Mooney and Reiley) के शब्दों में, ''प्रक्रिया में प्रवेश करते समय अधिकारी वर्ग जो स्वरूप धारण करता है, उसे नेतृत्व कहते हैं।"

जॉर्ज आर0 टेरी के शब्दों में, ''नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों का सम्बन्ध है, जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति अथवा नेता दूसरों को सम्बन्धित कार्यों पर स्वेच्छा के साथ-साथ कार्य करने को प्रभावित करता है, ताकि नेता द्वारा इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सके।"

अल्फर्ड तथा बीटी के अनुसार, ''नेतृत्व का गुण है, जिसके द्वारा अनुयायियों के एक समूह से वांछित कार्य स्वेच्छापूर्वक एक बिना किसी दबाव से कराये जाते हैं।"

4.5 नेतृत्व की स्वरूप

व्यावसायिक एवं औद्योगिक उपक्रमों में पाये जाने वाले नेतृत्वों को उसकी स्वरूप के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है-

1. **जनतंत्रीय नेता (Democratic Leader)-** जनतन्त्र वह है जो कि अपने समूह से परामर्श तथा नीतियों एवं विधियों के निर्धारण में उनके योगदान से कार्य करता है यह वही करता है जो उसका समूह चाहता है। इस प्रकार का व्यक्ति अपने अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। ऐसा व्यक्ति नेता की स्थिति इसलिए बनाये रखता है कि वह अपने दल के प्रति पूर्ण निष्ठा रखे तथा हितों की रक्षा करें। जब तक ऐसे व्यक्ति को अपने समूह का सहयोग एवं समर्थन मिलता रहता है तब तक उसका नेतृत्व कायम रहता है।
2. **निरंकुश नेता (Autocratic or Authoritarian Leader)-** ऐसा नेता समस्त अधिकार एवं निर्णय को स्वयं अपने में केन्द्रित कर लेता है। उसका विश्वास है कि लोग प्रायः आलसी होते हैं, उत्तर दायित्व लेना नहीं चाहते और जो कहा जाय वही करने में सन्तोष का अनुभव करते हैं। अतः वह समस्त निर्णय एवं सारी योजनाएं स्वयं बनाता है, काम सौंपता है तथा अपने अधीनस्थों को क्या करना है, इसके बारे में भी निर्देश देता है।
3. **निर्बाधावादी नेता (Laissez-faire Leader)-** यह वह नेता है जो अपने समूह को अधिकतर अपने भरोसे छोड़ देता है। समूह के सदस्य स्वयं अपने लक्ष्य निर्धारित करते और अपनी समस्याओं को सुलझाते हैं। वह स्वयं को प्रशिक्षित करते और स्वयं ही अपने को अभिप्रेरित करते हैं। नेता का कार्य तो एक सम्पर्क कड़ी का रहता है। वह उन्हें कार्य के लिए केवल आवश्यक सूचना और प्रसाधन प्रदान करता है, अधिक कुछ नहीं करता।
4. **संस्थात्मक नेता (Institutional Leader)-** यह वह नेता होता है जिसे अपने पद के प्रभाव से उच्च स्थिति प्राप्त होती है, फलतः वह अपने अनुयायियों को प्रभावित करने की स्थिति में होता है। उदाहरण के लिए, चाहे सरकारी विभाग हो अथवा व्यावसायिक विभाग, उनमें उच्च पदों पर स्थित लगभग सभी

अधिकारियों का अपने अनुयायियों का एक विशिष्ट समूह होता है, जिसे वे हर सम्भव तरीकों से सहायोग प्रदान करते है। ऐसे व्यक्तियों के समूह में प्रायः वे व्यक्ति होते हैं जिनमें, पहला- उस व्यक्ति विशेष के प्रति निष्ठा होती है, दूसरा- कुर्सी के प्रति असीम भक्ति होती है, तीसरा- किसी अनुचित लाभ पाने की लालसा होती है, चौथा- अन्य किसी अधिकारी के प्रति द्वेषभाव होता है अतः वे इस व्यक्ति की शरण में जाने के लिए बाध्य होते हैं, पांचवा- कुछ लोगों में आज्ञापालन करने की शुरू के बादत होती है, छटा- कुछ व्यक्ति अपनी कमियों को छिपाने के लिए भी ऐसे नेता का समर्थन करना प्रारम्भ कर देते हैं।

5. **व्यक्तिगत नेता (Personal Leader)-** व्यक्तिगत नेतृत्व की स्थापना व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर होती है। ऐसा नेता किसी कार्य के निष्पादन के सम्बन्ध में निर्देष एवं अभिप्रेरण स्वयं अपने मुख द्वारा अथवा व्यक्तिगत रूप में देता है। इस प्रकार का नेता अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी होता है, क्योंकि अपने अनुयायियों से इसका निजी एवं सीधा सम्बन्ध रहता है। इसमें नेता के बौद्धिक ज्ञान का विशेष महत्व होता है।
6. **अभ्यक्तिगत नेता (Impersonal Leader)-** अभ्यक्तिगत (अवैयक्तिगत) नेतृत्व की स्थापना प्रत्यक्ष रूप से नेताओं अथवा उन-नेताओं के अधीन कर्मचारियों के माध्यम से होती है। इसमें मौखिक बातों के स्थान पर लिखित बातें होती हैं, अतः समस्त निर्देश, आदेश, नीतियां, योजनाएं तथा कार्यक्रम लिखित होते हैं। ऐसे उपक्रमों में जहाँ कि कर्मचारियों की संख्या अत्यधिक होने के कारण नेता का व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना कठिन होता है, अभ्यग्तिगत नेतृत्व लोकप्रिय होता है। आजकल इस प्रकार का नेतृत्व प्रायः सभी उपक्रमों में विद्यमान है।
7. **क्रियात्मक नेता (Functional Leader)-** जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, क्रियात्मक नेता वह होता है जो अपनी योग्यता, कुशलता, अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर अपने अनुयायियों को विश्वास प्राप्त करता है एवं उनका मार्गदर्शन करता है। अनुयायी, नेता के निर्देष एवं सलाह के आधार पर ही वे अपनी क्रियाओं का निर्धारण एवं निष्पादन करते है।

उपरोक्त नेतृत्व के प्रकारों को प्रबन्धन जगत के एक विख्यात चिन्तक श्री जार्ज आर0 टेरी ने स्वविचार निम्न रूप में दर्शाये हैं। श्री जॉर्ज आर0 टैरी ने नेतृत्व का निम्न भागों में वर्गीकरण किया है- 1. व्यक्तिगत नेतृत्व(Personal Leadership), 2. अभ्यक्तिगत नेतृत्व (Impersonal Leadership), 3. निरंकुश नेतृत्व(Authoritarian Leadership), 4.जनतन्त्रीय नेतृत्व(Democratic Leadership), 5. देशी नेतृत्व(Indigenous Leadership) इसका उद्-गम औपचारिक सामाजिक संगठन समूहों द्वारा होता है, जोकि विविध प्रकार के होते हैं। ये विभिन्न स्थानों पर व्यक्तियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करते हैं, 6. पैतृक नेतृत्व(Paternalistic of Leadership) इसमें अनुयायियों तथा नेता के मध्य पैतृक रूपी सम्बन्धों पर बल दिया जाता है।

4.6 नेतृत्व के गुण

विभिन्न विद्वानों ने नेतृत्व के विभिन्न गुणों का वर्णन किया है। श्री ऑर्डवे टीड के अनुसार नेता में निम्न दस गुणों का होना आवश्यक हैः-(1) शारीरिक एवं स्नायुविक शक्ति (Phsical and Nervous Energy) (2) उद्देश्य एवं निर्देशन की भावना (Sense of Purpose and Direction) (3) उत्साह (Enthusiasm) (4) मैत्रीभाव एवं स्नेह (Friendliness and Affection) (5) तकनीकी कुशलता (Technical Mastery) (6) बौद्धिक ज्ञान (Intellectual Knowledge) (7) चारित्रिक बल (Integrity) (8) शिक्षण चातुर्य (Teachning Skill) (9) निर्णायकता (Decisiveness) तथा (10) विश्वास (Faith)।

चेस्टर बर्नार्ड ने एक सफल नेता में निम्न गुणों के होने पर बल दिया हैः- (1) निर्णायकता (Decisiveness) (2) उत्तर दायित्व (Responsibility) (3) अनुभूति (Persussiveness) (4) बौद्धिक क्षमता (Intellectual

Capacity) (5) स्फूर्ति एवं सहनशीलता (Vitality and Endurance) (6) सामाजिक चेतना (Vitality and Endurance) तथा (7) अच्छा व्यक्तित्व।

इरविन एच0 सचेल (Erwin H. Scheel) के अनुसार सफल नेतृत्व के लक्षण हैं- ''लोगों के प्रति दिलचस्पी एवं प्रेम, शक्तिशाली व्यक्तित्व तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण।"

हेनरी फेयोल के अनुसार, नेतृत्व मे निम्न गुण होने चाहिएः- (1) स्वास्थ्य एवं शारीरिक क्षमता, (2) योग्यता एवं मानसिक सन्तुलन, (3) ज्ञान एवं कौशल, (4) नैतिक गुण, तथा (5) प्रबन्धकीय योग्यता।

प्रबन्ध के विद्वान पीटरसन तथा प्लोमैन **(Peterson and Plowman)** ने कुशल नेतृत्व के गुणों को बड़े ही सुन्दर ढंग से निम्न तीन भागों में विभाजित किया है, जिससे कि उपर्युक्त विद्वानों द्वारा बताये लगभग सभी गुणों का समावेश हो जाता है- 1. शारीरिक गुण (Physical Qualities) 2; बौद्धिक गुण (Intellectual Qualities) तथा 3. मनोवैज्ञानिक गुण (Phychological Qualities)।

4.6.1 शारीरिक गुण (Physical Qualities)

एक सफल नेता बनने के लिए उसमें उत्तम शारीरिक गुणों का होना आवश्यक है, तभी वह अपने अनुयायियों एवं अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर सकेगा। शारीरिक गुणों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है-

1. **उत्तर स्वास्थ्य (Sound Health)-** नेता को अनेक महत्वपूर्ण कार्यों एवं उत्तर दायित्व को निभाना पड़ता है तथा सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को प्रभावित करना पड़ता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह उत्तम स्वास्थ्य वाला व्यक्ति हो। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध कहावत है कि ''स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है।'' अस्वस्स्थ व्यक्ति विभिन्न बीमारियों का शिकार होता है, स्वभाव से चिड़चिड़ा होता है, उत्तर दायित्व से सदैव बचने का प्रयास करता है तथा कुशलता की पंक्ति में सबसे पीछे खड़ा होता है।
2. **स्फूर्ति तथा सहन शीलता (Vitality and Endurance)-** स्फूर्ति का अर्थ है, चैतन्यता अथवा सजगता। सहनशीलता का अर्थ है कठिनाइयों के समय धैर्य से काम लेना। नेता में दोनों गुणों का होना परम आवश्यक होता है। इसका कारण है कि इन दोनों गुणों के होने से संकट की स्थिति में वह हिम्मत नहीं हारता, अपितु निरन्तर प्रयासरत रहता है।

4.6.2 बौद्धिक गुण (Intellectual Qualities)

शारीरिक गुणों के अतिरिक्त एक नेता में निम्नलिखित गुणों का भी समावेश होना चाहिए-

1. **स्वस्थ निर्णय लेने की क्षमता (Capacity to take Sound Decision)-** एक निश्चित परिस्थिति में अन्तर्निहित तथा, परिवर्तनशील दोनों ही, तथ्यों पर विचार करने तथा अपनी सम्मति निश्चित करने अथवा ऐसे तथ्यों की श्रेष्ठताओं के आधार पर उपयुक्त निर्णय और स्वस्थ्य निर्णय लेने की क्षमता कहते हैं। किस परिस्थिति में क्या किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में शीघ्र एवं उपयुक्त निर्णय करने की योग्यता का होना परम आवश्यक होता है। इस गुण के होने पर ही वह अपना नेतृत्व कायम रख सकेगा।
2. **मानसिक क्षमता (Mental Capacity)-** एक सफल नेता में विकसित मानसिक क्षमता का होना भी आवश्यक होता है, तभी वह द्वेष रहित, नवीन विचारधारा से परिपूर्ण स्वीकार योग्य निर्णय लेने में समर्थ हो जाता है।
3. **गुणग्राहता (Receptiveness)-** गुणग्राहता सफल प्रबन्धकीय संवाहन की कसौटी है। इस गुण के निम्न पहलू हैं- (अ) नये ज्ञान तथा विचारों को प्राप्त करने तथा प्रयोग में लाने के लिए इच्छित होना। (ब) किसी समस्या एवं उसके हल पर शीघ्र पहुँचाना । एक सफल नेता में उपर्युक्त गुणों का होना आवश्यक होता है।

4. **समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Approach towards Problems)-** एक सफल नेता के लिए महत्वपूर्ण बौद्धिक, गुण विद्यमान समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपनाया जाना भी है। इसके लिए सन्तुलित मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, जो कि तथ्यों को क्रमबद्ध कर सके तथा सही प्रत्याशी से उन्हें उचित प्रभाव तथा स्थान दे सके।

4.6.3 मनोवैज्ञानिक गुण (Phychological Qualities)

उपरोक्त दोनों गुणों के अतिरिक्त एक कुशल नेता में मनोवैज्ञानिक गुणों का होना भी आवश्यक होता है, तभी वह अपने अनुयायियों की भावनाओं के अनुरूप कार्य करते हुए अपने नेतृत्व को कायम रख सकता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों तथा कुशल एवं अनुभवी प्रबन्धकों के अनुसार एक कुशल नेता में निम्न मनोवैज्ञानिक गुणों का होना आवश्यक होता है-

1. **व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति (Personal Magnetism)-** व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति वह शक्ति है जो स्वतः ही अन्य व्यक्तियों के विश्वास एवं आदर को आकर्षित करती है। यह गुण चरित्र का वह भाग है जो कुछ तो जन्मजात (जैसे- भावनाएँ, स्वभाव आदि) होता है और कुछ प्राप्त (जैसे -अच्छा शिष्टाचार, आचरण आदि) किया जा सकात है।
2. **सहकारिता (Co-operation)-** नेता का एक महत्वपूर्ण गुण यह भी है कि उसमें अधिक से अधिक लोगों के साथ मिलकर कार्य करने की क्षमता होनी चाहिए, तभी वह अपने अनुयायियों को सन्तुलन में रख सकेगा एवं उनकी संख्या में वृद्धि कर सकेगा। उनमें समझौता करने, समायोजन (Adjustment) करने तथा अनुकलित (To adapt) हाने की क्षमता होनी चाहिए।
3. **उत्साह, साहस और लगन (Enthusiasm, Courage and Devotion)-** व्यवसाय में तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, जिनका सामना करने के लिए नेता में उत्साह, सहस और लगन का होना परम आवश्यक होता हैं।
4. **चातुर्य (Tact)-** चातुर्य एक ऐसी चैतन्यशील मानसिक सतर्कता है जो इस विषय में सतर्क रहती है कि दूसरों से व्यवहार करते समय आक्षेपों से बचने के लिए क्या करना अथवा कहना अधिक उपयुक्त होगा। कुछ लोग इसका अर्थ धोखा, असत्यता एवं विश्वास घात से लगाते हैं, जोकि सर्वथा गलत है। एक नेता को दूसरे व्यक्तियों से व्यवहार करते समय चातुर्य से काम लेना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त एक सफल नेता में आदर्श चरित्र होना भी आवश्यक होता है। प्रो0 हांकिंग के शब्दों में, ''एक चरित्रवान व्यक्ति अपनी आंखों द्वारा, अपनी वाणी द्वारा, अपने हाव-भाव द्वारा, अपने कथन के तत्व द्वारा अपने आदमियों में अपना हृदय डाल देता है।''

4.7 नेतृत्व का विकास

प्रबन्ध का महत्वपूर्ण घटक नेतृत्व है। नेतृत्व के सम्बन्ध में अलग-अलग विचारधाराओं अथवा दृष्टिकोणों का विकास हुआ है, जोकि मूल रूप से निम्न दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैः- (1) प्राचीन विचारधारा- इस विचारधारा का यह मत है कि ''नेता जन्म लेते हैं, तैयार नहीं किये जाते। ''इसके विपरीत दूसरी विचारधारा है जिसका नाम है, (2) आधुनिक विचारधारा- इस विचारधारा का यह मत है कि ''नेता जन्म भी लेते है और साथ में तैयार भी किये जाते हैं। ''नेतृत्व के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सिद्धान्त अथवा विचारधाराएं निम्नलिखित हैं-

1. **नेतृत्व की लक्षण-मूलक विचारधारा (The Trait or Traitist Theory of Leadership)-** प्रस्तुत विचारधारा अथवा दृष्टिकोण का प्रतिपादन प्रारम्भिक विद्वानों ने किया था। ऐसे विद्वानों ने निगमन प्रणाली अपनाते हुए कुछ जाने-माने नेताओं के जीवन का अध्ययन करके उनके अति स्पष्ट गुणों का पता

लगाया और फिर इन्हीं को नेतृत्व के लिए आवश्यक गुणों के रूप में प्रस्तुत किया। जिस व्यक्ति में वे गुण जितने अधिक होंगे वह उतने ही ऊँचे स्तर का नेता होगा। ऐसे विद्वानों को 'लक्षण मूलक' (Traitistis) और इसके प्रतिपादित नेतृत्व सिद्धान्त को 'Traitist Theory' कहते हैं। प्रसिद्ध लक्षण-मूलक विद्वान ऑर्डवे टीड के अनुसार नेता की पहचान निम्न गुणों से होती है:-(1) शारीरिक और स्नायुविक शक्ति, (2) उद्देश्य एवं लक्ष्य भावना, (3) उत्साह, (4) मैत्री-भाव तथा प्रेम, (5) चारित्रिक दृढ़ता, (6) तकनीकी कुशलता, (7) निर्णय क्षमता, (8) कुशाग्र बुद्धि, (9) शिक्षण चातुर्य, (10) दृढ़ विश्वास , (11) व्यक्तित्व। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक थे श्री चेस्टर आई0 बर्नार्ड तथा ऑर्डवे टीम।

2. **नेतृत्व की परिस्थित्यात्मक परीक्षण की विचारधारा अथवा दृष्टिकोण (Situationalist Theory of Approach of Leadership)-** प्रस्तुत विचारधारा के प्रतिपादक नेतृत्व के गुणों के पहचान पर विशेष जोर देते हैं, जबकि लक्षण-मूलक सिद्धान्त के प्रतिपादक नेतृत्व गुणों की गिनती पर जोर देते हैं, परिस्थित्यात्मक सिद्धान्त का अनुकरण करने वाले विद्वान प्रारम्भ में यह मानकर चलते हैं कि नेता एवं प्रबन्धक में कुछ गुण, जैसे- भाषण देने की क्षमता, बुद्धिमत्ता, धैर्य, समझ, स्थायित्व तथा एकनिष्ठता आदि गुण तो होने ही चाहिए, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि परीक्षा की घड़ियों में यह व्यक्ति इन गुणों का किस प्रकार से प्रयोग करता है। अतः ये विद्वान प्रबन्ध अथवा नेता के पद के लिए आवेदन देने वाले व्यक्ति को किसी समूह के साथ विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके आचरण का विस्तृत अध्ययन करके उसके नेतृत्व का स्तर निर्धारित करने की सिफारिश करते हैं। इन विद्वानों को 'परिस्थितिवादी' तथा इनके नेतृत्व सिद्धान्त को 'परिस्थित्यात्मक परीक्षण सिद्धान्त' कहते हैं। इस सिद्धान्त का उपयोग द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी तथा अमेरिकी सेनाओं के कमाण्डरों का चयन करने के लिए व्यापक रूप में किया गया था।

3. **नेतृत्व की अनुयायी विचारधारा अथवा दृष्टिकोण (The Follower Theory or Approach to Leadership)-** उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं अथवा दृष्टिकोणों की कमियों को दूर करने के लिए इस विचारधारा का प्रतिपादन एफ0 एच0 सेन्सफोर्ड ने किया था। इस विचारधारा के अनुसार अनुयायियों की कुछ प्राथमिक आवश्यकताएं होती हैं और जो व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति में सबसे अधिक सहायता देता है, उसी को वे अपना नेता मान देते हैं। अतः किसी व्यक्ति की नेतृत्व क्षमता को मालूम करने के लिए उसके अनुयायियों सम्बन्धी आचरण का अध्ययन किया जाना चाहिए।

4. **नेतृत्व की सर्वोत्कुष्टता विचारधारा अथवा दृष्टिकोण (The Electric Approach to Leadership)-** किसी व्यक्ति की नेतृत्व क्षमता के ज्ञान का पता उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं के अध्ययन के उपरान्त ही लगाया जा सकता है। इस प्रकार के संयुक्त अध्ययन को 'नेतृत्व की सर्वोत्कृष्टता की विचारधारा' कहते हैं। इस प्रकार यह कोई नयी विचारधारा नहीं है, अपितु उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं की सहायता से सर्वोत्तम पिरणाम प्राप्त करने की प्रक्रिया मात्र ही है।

5. **क्रियात्मक विचारधारा(Functional approach)-** नेतृत्व की क्रियात्मक विचारधारा का विकास कर्ट लेविन ने किया था। इस विचारधारा अथवा दृष्टिकोण के अनुसार नेता का एक व्यक्ति के रूप में अध्ययन के स्थान पर एक समूह के रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि नेता का सम्बन्ध एक व्यक्ति विशेष से न होकर अनेक व्यक्तियों अथवा समूह से होता है।

6. **व्यवहारवादी विचारधारा (Behaviour Approach)-** इस विचारधारा के अनुसार नेतृत्व व्यवहारवादी होना चाहिए। यह विचारधारा इस मान्यता पर आधारित है कि नेतृत्व का अध्ययन 'नेता क्या करता है?' के आधार पर किया जाना चाहिए न कि 'नेता क्या है?' के आधार पर। इस प्रकार इस विचारधारा का सम्बन्ध नेता के व्यवहार से है, उसके व्यक्तिगत गुणों से नहीं। रे ए0 किलियन (Ray A.

Killian) के अनुसार, ''चाहे एक नेता मूल रूप से निर्णय लेता हो, समस्या सुलझाने वाला हो, परामर्श देने वाली ही, सूचना देने वाला ही अथवा नियोजन करने वाला हो, उसे अपने अनुयायियों के समक्ष आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करना चाहिए।

7. **नेतृत्व और 'X' एवं 'Y' विचारधारा ('X' and 'Y' Theory and Leadership)-** नेतृत्व के सम्बन्ध में 'X' विचारधारा तथा 'Y' विचारधारा महत्वपूर्ण है। इस विचारधारा अथवा दृष्टिकोण का प्रतिपादन मैकर्गिगर ने किया था। इन दोनों विचारधाराओं ने दो विरोधी पहलुओं को उभारा है। 'X' विचारधारा के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से कार्य करना नहीं चाहता, अतः उसे डराना, धमकाना, लताड़ना एवं पग-पग पर निर्देशन देना परम आवश्यक होता है, ताकि कार्य का निष्पादन कराया जा सके। ऐसे स्थिति में व्यक्ति से कार्य करने के लिए नेतृत्व उसे धमकायेगा एवं समय-समय पर नेतृत्व अपनी विचारधारा प्रदान करेगा। इसके विपरीत 'Y' विचारधारा की यह मान्यता है कि व्यक्ति स्वयं अपनी ओर से कार्य करना चाहता है। इसका कारण यह है कि उसमें सृजनात्मक प्रवृत्ति विद्यमान रहती है तथा वह आशावादी होता है। अतः नेतृत्व का कार्य तो केवल उसका उचित मार्गदर्शन करना ही है। इससे व्यक्ति अधिक सन्तोष का अनुभव करता हैं।

   'X' विचारधारा के अन्तर्गत नेता शक्ति एवं नियन्त्रण का उपयोग करता है, अपने निर्णय कर्मचारियों पर जबरदस्ती थोपता है तथा परम्परागत ढंग से कार्य-निष्पादन करता है। 'Y' विचारधारा में नेता कर्मचारियों की सलाह से तुलानात्मक दृष्टि से अधिक अच्छे एवं सुदृढ़ निर्णय लेता है।

8. **नेतृत्व की पथ-लक्ष्य विचारधारा अथवा दृष्टिकोण(Path-goal Theory or Approach to Leadership)-** नेतृत्व की इस विचारधारा का प्रतिपादन अभी हाल में मार्टिन जी0 ईवान्स तथा राबर्ट जे0 हाउस ने किया है। नेतृत्व की पथ-लक्ष्य विचारधारा आशावादी/अभिप्रेरणाशक्ति (Expectancy/Valence) मॉडल पर आधारित है। इसके अनुसार एक व्यक्ति की अभिप्रेरणा प्रतिफल (Reward) की आशा तथा उस प्रतिफल की आकर्षक शक्ति पर निर्भर करती है। पथ-लक्ष्य विचारधारा नेता पर प्रतिफल देने के स्रोत के रूप में ध्यान केन्द्रित करती है। यह मानते हुए कि अभिप्रेरणा शक्ति (Valence) तथा आशा (Expectancy) का गुण होता है। (अर्थात् अभिप्रेरणा = अभिप्रेरण शक्ति 'X' आशा)। नेता का यह कार्य है कि वह अपने अनुयायियों (कर्मचारियों) के लिए अभिप्रेरणा शक्ति तथा आशा का निर्माण करें। नेता अभिप्रेरणा शक्ति के विकास को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार कर्मचारी लक्ष्य संगठन लक्ष्य के साथ जुड़ जाते हैं। नेता लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रतिफलों (Rewards) में वृद्धि कर सकता है। जहाँ तक आशा का प्रश्न है, नेता लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रास्ते का निर्माण करता है। इससे कर्मचारी यह देखते हैं कि उनके कार्य उनके लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक है। यदि कर्मचारी के लक्ष्य की प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधाएं आती हैं तो नेता उन बाधाओं को दूर करते हुए पथ को और भी सरल बनाने का प्रयास करता है। प्रस्तुत विचारधारा यह बताती है कि किस प्रकार से विभिन्न प्रतिफल तथा विभिन्न नेतृत्व के प्रारूप कर्मचारियों की अभिप्रेरणा, निष्पादन तथा सन्तुष्टि को प्रभावित करते हैं। नेतृत्व की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह किस प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतिफलों को उपलब्ध कराता है, पथ का निर्माण करता है, एवं उसमें आने वाली बाधाओं को दूर करता है। ईवान्स के अनुसार, इन प्रतिफलों में पारिश्रमिकय पदोन्नति, समर्थन, प्रोत्साहन, सुरक्षा, आदर-संस्कार आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। कर्मचारियों का लक्ष्य इन प्रतिफलों को प्राप्त करना होता है जिनका सीधा सम्बन्ध संगठन के लक्ष्यों से होता है। नेता का कार्य संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कर्मचारियों को प्रतिफल प्राप्त करने के लिए अभिप्रेरित करना, पथ प्रदर्शित करना तथा

पथ के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। जितने अधिक प्रतिफल होंगे एवं पथ सुलभ होगा, संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति उतनी अधिक शीघ्रता एवं तत्परता से होगी।

9. **नेतृत्व की जीवन-वृत्त विचारधारा अथवा दृष्टिकोण (Life Cycle Theory of Approach to Leadership)-** नेतृत्व की जीवन-वृत्त विचारधारा का प्रतिपादन वर्तमान में पाल हसीं तथा कानेथ एच0 ब्लेनचाई ने किया है। इस विचारधारा के अनुसार सबसे प्रभावी नेतृत्व के स्वरूप (शैली) का सम्बन्ध कर्मचारियों की परिपक्वता (Maturity) से होता है। उनके अनुसार परिपक्वता से आशय आयु अथवा भावनात्मक स्थायित्व से नहीं है, अपित उपलब्धि करने की इच्छा, उत्तर दायित्व ग्रहण करने की तत्परता, कार्य सम्बन्धी योग्यता तथा अनुभव से है। हसीं तथा ब्लेनचाई के अनुसार, नेता तथा उसके अधीनस्थों (कर्मचारियों) के सम्बन्ध चार अवस्थाओं से होकर गुजरते हैं। जैसे-जैसे कर्मचारीगण विकसित एवं परिपक्व होते जाते हैं, नेताओं को अपने नेतृत्व के स्वरूपों में परिवर्तन करना पड़ता है। ये चार अवस्थाएं निम्न हैं- (1) प्रारम्भिक अवस्था- शुरू में जबकि कर्मचारीगण संस्था में प्रवेश करते हैं उस मसय नेता का उच्च कार्य अभिमुखी होना सबसे उपयुक्त रहता है। नेता का कार्य कर्मचारियों को उनके कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश ना देने वाला नेता अपने कर्मचारियों में चिन्ता एवं गड़बड़ उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार कर्मचारी-भागिता सम्बन्धी विचारधारा भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में कर्मचारियों को अपना साथी मानना भी सम्भव नहीं है। संक्षेप में, इस अवस्था में एक ओर नेता उच्च कार्य अभिमुखी होता है वहाँ दूसरी ओर नेता और उसके कर्मचारियों के साथ के सम्बन्ध निम्न श्रेणी के होते हैं अर्थात् दूर के होते हैं। (2) द्वितीय अवस्था- इस अवस्था में आकर कर्मचारी अपना कार्य सीखने लगते हैं। यहाँ पर भी कार्य अभिमुखी नेतृत्व की आवश्यकता बनी रहती है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में कर्मचारीगण पूर्व उत्तर दायित्व को ग्रहण करने के लिए ना तो तत्पर होते हैं और ना सक्षम ही। किन्तु जैसे-जैसे नेता अपने कर्मचारियों से परिचित होता जाता है, उसका विश्वास एवं समर्थन अपने कर्मचारियों में बढ़ने लगता है। नेता अपनी ओर से कर्मचारियों को अपने कार्य में प्रोत्साहन देने लगता है। ऐसी स्थिति में नेता अपने कर्मचारियों के साथ कर्मचारी अभिमुखी व्यवहार करने लगता है। (3) तृतीय अवस्था- इस अवस्था में कर्मचारियों की योग्यता, उपलब्धि तथा अभिप्रेरणा में वृद्धि होती है तथा वे सक्रिय रूप में अधिक उत्तर दायित्व ग्रहण करने लगते हैं। यहाँ पर नेता को निर्देशात्मक बनने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निर्देशन का विरोध हो सकता है। इस अवस्था में कर्मचारियों को अधिक उत्तर दायित्व ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करने हेतु नेता को समर्थक एवं प्रतिफलात्मक रूप अपनाना चाहिए। (4) चतुर्थ अवस्था- धीरे-धीरे इस अवस्था में आकर कर्मचारीगण अधिक विश्वसनीय, स्वतः निर्देशक एवं अनुभवी हो जाते हैं। फलतः नेता कर्मचारियों के प्रति समर्थन तथा प्रोत्साहन की मात्रा में कमी कर सकता है। वे स्वयं कार्य करने लगते हैं, अतः उन्हें अपने नेता के साथ निर्देशात्मक सम्बन्धों की न तो आवश्यकता ही रहती है और न वे इसकी आशा ही करते हैं।

नेतृत्व की उपर्युक्त जीवन-वृत्त विचारधारा विशेषतः विकसित देशों में बहुत अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। इसमें नेतृत्व का स्वरूप स्थिर न रहकर गतिशील एवं लोचदार रहता है। नेतृत्व का यह स्वरूप न केवल कर्मचारियों को अभिप्रेरित करता है, बल्कि परिपक्वता की ओर बढ़ने में उनकी सहायता भी करता है। वह नेता जो कि अपने अधीनस्थों का विकास करता है, उनके विश्वास में वृद्धि करता है और उन्हें अपने कार्य के सीखने में सहायता प्रदान करता है, अपने नेतृत्वों के स्वरूपों में निरन्तर परिवर्तन करता रहता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. नेतृत्व किसे कहते हैं?
2. नेतृत्व की आवश्यकता से क्या तात्पर्य है?

3. नेतृत्व के कितने प्रकार हैं?

4.8 सारांश

नेतृत्व शब्द अत्यधिक लोकप्रिय है। समूह के कार्यों का व्यवस्थित संचालन करने के लिए नेतृत्व की आवश्यकता होती है। नेतृत्व में अनेक गुणों का समन्वय है। किसी भी संगठन की प्रगति में कुशल नेतृत्व ही प्रभावशाली होता है। नेता अपने विवेक, बुद्धि, इच्छा शक्ति, धैर्य आदि विविधि गुणों के माध्यम से अपने सहयोगियों का मार्गदर्शन करता है। फलस्वरूप संगठन वांछित लक्ष्यों की पूर्ति समयानुसार प्राप्त करता है। उद्देश्य पूर्ति हेतु संगठन का एकजुट होना एवम् एक टीम भावना बनाये रखने के लिए परस्पर सहयोग उत्पन्न करने में अच्छे नेतृत्व का होना नितान्त आवश्यक है। उपरोक्त लेख में नेतृत्व के पृथक-पृथक पहलुओं पर विस्तृत चर्चा की गई है।

4.9 शब्दावली

जनतन्त्र - अधिकारों का विकेन्द्रीरण, निरंकुश- जिसके ऊपर किसी का अंकुश न हो, निर्बाध- किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो, पैतृक- माता पिता से सम्बन्धित

4. 10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नेतृत्व अपने अधीनस्थों को प्रभावित करने एवम् उनका मार्ग दर्शन करने की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।
2. नेतृत्व की जड़े मानवीय सम्बन्धों से जुड़ी हुई है और मानवीय सम्बन्धेां का विकास कुशल नेतृत्व के द्वारा ही सम्भव होता है। प्रत्येक उपक्रम में कार्य करने वाले कर्मचारियों को उनके उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।
3. नेतृत्व को उनकी स्वरूप के अनुसार कई भागों में विभक्त किया गया हैं। जनतन्त्रीय नेता, निरंकुश नेता, निर्बाधवादी नेता संस्थात्मक नेता, व्यक्तिगत नेता, अव्यक्तिगत नेता, क्रियात्मक नेता।

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोयल, एस0 एल0- मार्डन मैनेजमेन्ट टेक्नीक।
2. अग्रवाल, एम0 डी0- प्रबन्ध।
3. कून्टज एवं ओ0 डोनैल- प्रबन्ध।
4. बी0 एल0 फाड़िया- लोक प्रशासन।

4.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन- रूमकी बसु।
2. लोक प्रशासन- बी0 एल0 फड़िया।

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नेतृत्व से आप क्या समझते हैं? नेतृत्व के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिए।
2. एक सफल नेता के गुणों का वर्णन कीजिए।
3. नेतृत्व के भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का विस्तार से उल्लेख कीजिए।

इकाई- 5 नीति निर्धारण: महत्व, अर्थ नीति और प्रशासन

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 नीति निर्धारण का महत्व
5.3 नीति निर्धारण का अर्थ
5.4 नीति निर्धारण
5.4.1नीति निर्धारण के प्रकार
5.4.2 सार्वजनिक नीति का मॉडल
5.5 प्रशासन
5.5.1 कार्य सम्पादन
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

नीति को मोटे तौर पर पस्तुत परिवेश के भीतर विशिष्ट लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति, समूह, संस्था या सरकार की प्रस्तावित क्रियाविधि के रूप में परिभाषित किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, प्रत्येक क्रिया से पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। सभी प्रकार के प्रबन्धन के लिए यह पूर्वापेक्षा है। नीति ही एक ऐसे ढ़ाँचे का निर्माण करती है जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी संगठन के उद्देश्य प्रायः अस्पष्ट और सामान्य होते हैं। जिन्हे नीति लक्ष्यों के रूप में सुनिश्चित किया जाता है और जो प्रशासन में गतिशीलता उत्पन्न करते हैं।

नीति निर्धारण का गहरा सम्बन्ध निर्णय लेने की प्रक्रिया से है। हालांकि यह निर्णय लेने के समान नहीं होता। नीति निर्धारण के साथ निर्णय लेना जुड़ा रहता है। परन्तु एक निर्णय अनिवार्य रूप से एक नीति का रूप धारण करे, यह आवश्यक नहीं है। निर्णय लेने की प्रक्रिया में बहुधा किसी समस्या की पहचान की जाती है, विकल्पों का सावधानी पूर्वक विश्लेषण किया जाता है और कार्यवाही हेतु एक अच्छे विकल्प का चुनाव किया जाता है। सामान्यतया, प्रशासन दैनिक जीवन के कार्यों के दौरान प्रचलित नीतिगत ढ़ाँचे के तहत निर्णय लेते हैं। इस तरह नीतिगत निर्णय प्रशासनिक कार्यवाही की दिशा में लिए गये प्रतीत होते हैं।

कार्ल फ्रेडरिक कहते हैं ‘‘एक निश्चित परिवेश में एक व्यक्ति, समूह या शासन की एक प्रस्तावित कार्यवाही, जहाँ अड़चनें और अवसर हों, जिन्हें नीति उपयोग करे और उन पर जीत हासिल कर लक्ष्य तक पहुँचे या एक विषय या उद्देश्य के रूप में प्रयोग करें।’’

जेम्स एण्डरसन मानते है कि नीति ‘‘एक उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही है जिसका पालन एक कर्ता या कई कर्ता एक समस्या या चिन्ता के विषय से निपटने के लिए करते हैं।’’ डेविड ईस्टन के विचार से ‘‘लोक नीति, सम्पूर्ण समाज के लिए मूल्यांक का सत्तावादी विनोयजन है।’’ सत्ता से तात्पर्य राजनीतिक प्रणाली से सम्बद्ध लोगों से है। जैसे

विधान सभा में नेतागण, कार्यपालक इत्यादि। ये लोग प्रतिदिन अपनों को नीति सम्बन्धी मामलों में राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत (नीति निर्धारण एवम् उनके क्रियान्वयन में) व्यस्त रखते हैं।

थामस डाई की परिभाषा है ''सरकार जो करना चाहती है या जो नहीं करना चाहती वही लोक नीति है।'' उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि लोक नीति शासकीय निर्णय है। वास्तव में शासन के द्वारा निश्चित लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों के पूर्ति हेतु उठाया जाने वाला क्रियाओं का विषय अथवा पाठयक्रम है।

एण्डरसन का कहना है, ''नीति के निर्णय ऐसे होते हैं जो सार्वजनिक नीति की कार्यवाहियों को दिशा एवं विषयवस्तु प्रदान करने के लिए सार्वजनिक अधिकारी लेते हैं।'' इनमें कार्यकारी आदेश जारी करने, प्रशासनिक नियमों संशोधन करने या कानून की महत्वपूर्ण व्याख्या से सम्बन्धित निर्णय भी हो सकते हैं।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति निर्धारण के अर्थ एवं महत्व के विषय में जान पायेंगे।
- नीति निर्धारण और प्रशासन क्या है, इस विषय में विस्तार से जान पायेंगे।

5.2 नीति निर्धारण का महत्व

नीतियां सरकारी निकायों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा विकसित की जाती हैं, यद्यपि गैर-सरकारी लोग और एजेन्सियां भी नीति निर्माण प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती या उसे प्रमावित करती हैं। नीति की विशेषता का तथ्य प्राधिकारियों के कार्य से विदित होता है जो नीतियों को राजनीतिक प्रणाली में सूत्रबद्ध करने का काम करते हैं। नीतियों के साथ उद्देश्यों का चयन मूल्यों के प्रभाव से किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के अध्ययन से पता चलता है कि न्यायाधीश मुकदमों का फैसला सुनाते समय नीति के मूल्यों से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक निजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र का संगठन कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व नीति का निर्माण करता है, जोकि अनिवार्य है। प्रबन्धक व्यवस्था हेतु ऐसा करना परमावश्यक होता है। प्रत्येक संगठन का निर्माण किन्हीं अपेक्षित लक्ष्यों के पूर्ति हेतु किया जाता है। लक्ष्य सदैव स्पष्ट ना होने से उद्देश्य पूर्ति उपेक्षित होती है। ऐसे में नीति बहुत कारगर सिद्ध होती है, जो विभिन्न विषयों को स्पष्ट कर देती है। यह प्रशासन के कार्यों को गति भी प्रदान करता है। नीति में जो मुद्दे होते हैं वे कम और सरल भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन पर सरल और शीघ्र निर्णय लेकर अपेक्षिति कार्यों को सम्पादित करने में सहयोग प्रदान होता है।

तृतीय विश्व के विकास में शासन का कार्य अत्याधिक बढ़ जाता है। तकनीकी जटिलताएं, सामाजिक संगठन, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण आदि बहुत सी समस्यायें शासन के सम्मुख सदैव खड़ी रहती हैं। उदारीकरण, निजीकरण एवम् वैश्वीकरण के दौर में शासन बदलते आर्थिक परिवेश में बहुत से विकास कार्यक्रमों को निष्पादित करने के प्रयास में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। मुख्य प्रवर्तक की भूमिका में शासन सामाजिक आर्थिक क्रियाओं के निष्पादन हेतु अहम् कार्यों का अनुपालन करता है। विकासशील देश की प्रमुख समस्या गरीबी है, इसके उन्मूलन हेतु विभिन्न प्रकार की नीतियों को अपनाता है। जैसे- तकनीकी अभिनव परिवर्तन, आवश्यक संस्थागत परिवर्तन, राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि इत्यादि में मानव संसाधन की उचित प्रकार से सहभागिता सुनिश्चित कर जीवन का स्तर ऊँचा उठाना है। इसलिए आज के समय में लोक नीति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। फलस्वरूप प्रत्येक नागरिक दैनिक जीवन में बहुत प्रभावित होता है।

5.3 नीति निर्धारण का अर्थ

नीति का अर्थ यह निर्णय करना है कि क्या किया जाए, कैसे किया जाए, कब किया जाए और कहाँ किया जाए? लोक प्रशासन जगत में एक विशिष्ट चिंतक हुए हैं, जिनका नाम मार्शल डिमाक है। इनके अनुसार, ''नीतियां व्यवहार के वे नियम हैं, जिन्हें सचेत रूप से मान्यता प्राप्त हैं और जो प्रशासनिक निणर्यों का मार्गदर्शन करते हैं।'' एक अन्य चिंतक फैडरिक का विचार है कि अमुक परिस्थितियों में क्या करना है या नहीं करना है के सम्बन्ध में किये गए निर्णय ही नीतियां हैं। नीति निर्माण शासन के लिए प्राणाधार कार्यों में से एक है। एपल्वी(Applaby) के शब्दों में ''नीति निर्माण लोक प्रशासन का तत्व है।'' किसी भी संगठन में, चाहे वह निजी क्षेत्र में हो, चाहे सार्वजनिक, कोई भी कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व नीति का निर्माण करना आवश्यक होता है। भारत एक विकासशील देश है, यहाँ पर निरन्तर विकास के लिए समयानुसार भिन्न-भिन्न नीतियां बनी हैं। उदाहरणार्थ शिक्षा नीति, औद्योगिक नीति आदि, नीति शब्द स्थैतिक नहीं है वरन् गत्यात्मक है। इसके विभिन्न प्रकार हैं। वैज्ञानिक नीति राजनीतिक प्रणाली का परिणाम है। वाई0 ड्रोर जो इजरायली राजनीतिक परिणाम है, उनका कथन है कि ''कार्यवाही के मुख्य मार्ग जिनका अनुसरण किया जाना हो उसके सम्बन्ध में आम निर्देशावली के रूप में नीति की व्याख्या की है।'' सर जेफरी विकर्स मानते हैं कि ''नीतियां ऐसे निर्णय हैं जो कार्यवाहियों को दिशा, संगति और क्रम प्रदान करते हैं और जिनके लिए निर्णय लेने वाली संस्था उत्तर दायी होती हैं।''

5.4 नीति निर्धारण

अधिकतर विकासशील देशों में लगातार असली नीति उत्पादनों पर तदर्थ एवं उदासीनता का रूख अपनाया जाता है। कुछ हद तक ऐसा अपरिहार्य है और कम विकसित देशों में स्वाभाविक है, जहाँ प्रयाप्त संसाधन नहीं हैं। निजी क्षेत्र जब संसाधनों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के साथ स्पर्धा करता है तब नीति उत्पादनों को लेकर अनिश्चितता का ऊँचा स्तर सामने आता है। कुछ एक मिश्रित अर्थ व्यवस्थाओं में विकास योजना के साथ निजी क्षेत्र को जोड़ने के गिने-चुने प्रत्यत्न ही हुए हैं। सार्वजनिक एवम् निजी क्षेत्रों के मध्य कार्यों के समन्वयन के लिए नए तंत्र का विकास इसीलिए आवश्यक हो गया है। विकासशील देशों में संस्थाओं का निर्माण प्रमुख नीतिगत चिंता का विषय है। संस्थागत विकास के लिए स्थिर राजनीतिक परम्परा की आवश्यकता है परन्तु अस्थाई राजनीतिक परम्परा हमेशा नई चुनौतयां प्रदत्त करती रहती हैं। विकास की नई चुनौतियों की लहर में केवल योजना और बजट को ही नहीं सम्मिलित करना चाहिए वरन् यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि शासन की विकास नीति के संग विकास की योजनाओं एवम् बजट का भी समावेश हो।

सामान्य रूप से कहा जाता है कि लोक नीति निर्माण की संरचना से सम्पूर्ण राजनीतिक प्रणाली जुड़ी रहती है। नीति निर्माण, योजना, एवम् बजट प्रस्तुत का अंतिम अधिकार उन्हीं के हाथों में होता है जो नीतियों को वैद्य निर्मित करने की क्षमता रखते हैं। वर्तमान में नीति सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों के तकनीकी पक्षों और जटिलताओं को देखते हुए, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या एक राजनीतिक दल अकेले लोकनीतियां नहीं बना सकता है। इसीलिए आवश्यक है कि विशेष केन्द्रीय नीति इकाइयों का गठन नीति निर्धारण एवम् नीति विश्लेषण के लिए किया जाए। अधिकतर विकासशील देशों में सरकार की कार्यकारी शाखाऐं निम्न रूप में होती हैं-

- मंत्रिमण्डल, राष्ट्रीय विकास परिषद आदि जैसे निर्णय लेने वाली संस्थाऐं।
- योजना आयोग या योजना इकाई और
- बजट बनाने वाली संस्था।

यहाँ पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कि क्या ये इकाइयां एक संयुक्त अभिवृत्त के साथ काम करती है या स्वतंत्र रूप से अलग-अलग कार्य करती है। संस्थागत विकास के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है कि इन इकाइयों को एक

सुसंगत केन्द्रीय नीति के समूह के रूप में गठित किया जाए। इस समूह में शासन के प्रभारी, केन्द्रीय मंत्रियों एवं उनके प्रमुख राजनीतिक सलाहकारों को भी सम्मलित किया जाना चाहिए। केन्द्रीय नीति समूह में रजनीतिक सलाहकार के रूप में अर्थशास्त्रियों, सांख्यकीविदों, लोक प्रशासकों, योजना निर्माताओं, विषय विशेषज्ञों को भी होना चाहिए, ताकि वे नीतियों का विश्लेषण कर उनके बारे में तथा नीति के विकल्पों के बारे में गहन अध्ययन के पश्चात अनुशासनात्मक आधार पर सलाह दे सकें। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय नीति समूह के तहत एक और सटीक तंत्र को निम्न बातों के लिए विकसित करना चाहिए। नीति एवं योजना क्रियान्वयन, सूचना प्रदान करने एवम् पुनर्वेशन हेतु, समीक्षा और नीतियों एवम् योजनाओं के समायोजन एवम् संशोधन हेतु। संक्षेप में कह सकते हैं कि शासन के प्रर्दशन को नियंत्रित करने हेतु नीति निर्माण, योजना एवम् बजट प्रस्तुत को आपस में जोड़ने पर बल देना चाहिए।

5.4.1 नीति निर्धारण के प्रकार

सामाजिक वैज्ञानिकों और विद्वानों ने नीति के मुद्दे के प्रकारों की व्याख्या निम्न रूप से की है। प्रथमतया मुद्दों एवम् नीतियों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन करना। टी0 जे0 लोवी ने नीति के मुद्दों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया है- वितरणशील, नियमनशील, पुनर्वितरणशील एवं संघटक नीति के मुद्दे।

1. **वितरणशील नीति के मुद्दे-** नये संसाधनों के वितरण से सम्बन्धित नीति के मुद्दे वितरणशील मुद्दे हैं।
2. **नियमनशील नीति के मुद्दे-** गतिविधियों के नियमन और नियंत्रण से सम्बन्धित मुद्दे नियमनशील नीति के मुद्दे कहलाते हैं।
3. **पुनर्वितरणशील नीति के मुद्दे-** वर्तमान संसाधनों के वितरण में परिवर्तन से सम्बन्धित नीति पुनर्वितरणशील नीति के मुद्दे होते हैं।
4. **संघटक नीति के मुद्दे-** संस्थाओं के गठन या पुर्नसंगठन से सम्बन्धित नीति संघटक नीति के मुद्दे होते हैं। अन्य चिन्तकों ने अपने अपने विचारों से उपरोक्त नीति के प्रकारों को भ्रमित बताया और एक नये प्रकार को सम्मिलित किया जिसे द्वन्दात्मक नीति के मुद्दे की संज्ञा दी। संसाधनों के वितरण के मुद्दे नाम पर दो या दो से अधिक समूहों के मध्य द्वन्द उत्पन्न होना स्वाभाविक है फलस्वरूप परस्पर में द्वन्द हो जाता है। द्वन्द भिन्न-भिन्न रूप से विभिन्न कारणों से पनपते हैं। जैसे संसाधनों के विकरण में अन्यायपूर्ण होना, निजी स्वार्थ के लिए एक अन्य मुद्दे को जन्म देना, आदि।

इसके अतिरिक्त एक मुद्दा और भी है जिसे मोलभाव नीति के मुद्दे के नाम से जाना जाता है। विभिन्न निष्कर्षों, मोलभाव के स्वरूपों एवम् विकल्पों के टकरावों की सम्भावनाओं के कारण लागत तथा लाभ की कटौती का प्रयोग मोल-भाव नीति के मुद्दे में किया जाता है। पुनर्वितरण के मुद्दे के अन्तर्गत किसे क्या मिलता है? किसे अधिक मिलता है? और किसे कम मिलता है? जैसे प्रश्नों के मुद्दे मोलभाव से जुड़े होते हैं।

5.4.2 सार्वजनकि नीति का मॉडल

सार्वजनिक नीति पर विचार करने के अनेक दृष्टिकोण हैं। इन्हें एक-दूसरे से अलग कर नहीं देखा जा सकता। इनमें से प्रत्येक एक खास बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है तथा सार्वजनिक नीति की किसी खास बात को लेकर अपने सुझाव प्रदान करता है। डाई की वर्गीकरण योजना के अनुसार सार्वजनिक नीति के विविध मॉडलों को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. **संस्थावाद-** इस दृष्टिकोण के अनुसार सार्वजनिक नीतियों का उद्-भव सरकारी संस्थाओं में होता है। वे ही इनका निर्माण करती है और इन्हें कार्यान्वित करती है। कोई नीति 'नीति' तभी बन पाती है जब आधिकारिक रूप से इसका निर्धारण सरकारी संस्थाओं द्वारा होता है। सरकार नीतियों को वैधता प्रदान

करती है। अपने सरकारी उद्-भव के कारण ही इन नीतियों का चरित्र सार्वभौम हो पाता है। इस प्रकार सरकारी नीति समाज के हर व्यक्ति पर लागू होती है।

परम्परागत रूप से संस्थात्मक उपागम को सरकार के अन्दर नीति-निर्माण का स्वीकृत तरीका माना जा रहा है। इनकी मान्यता है कि सार्वजनिक नीतियों पर संस्थात्मक व्यवस्था क्रम का प्रभाव पड़ता है। इस वजह से नीतियों को बदलने के लिए अक्सर सरकारी हलकों में ढ़ाँचागत बदलाव किये जाते हैं। भारत में संस्थात्मक परिवर्तन, जैसे- लघु-कृषक विकास संस्था छोटे और सीमान्त किसानों की आर्थिक स्थिति में विकास लाने के लिए किए गए हैं। बहुत सम्भव है कि ऐसे संरचनात्मक परिवर्तनों में हमेशा अभिष्ठ परिणाम निकले। वातावरण के दबाव और प्रभाव संस्थात्मक क्रियाकलाप के आड़े आ सकते है तथा संचालन का रूख इतना मोड़ सकते हैं कि अभिष्ठ प्रभाव नगण्य होकर रह जाए।

2. **समूह सिद्धान्त-** समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार, सार्वजनिक नीति समय के किसी भी बिन्दु पर समूह-संघर्ष की साम्यावस्था को प्रतिबिम्बत करती है। विविध हित समूह सार्वजनिक नीति को अपने हित में करने के लिए आपस में संघर्ष करते हैं। सरकार के अन्दर नीतियों का वास्तविक निर्माण उन समूहों के लिए होता है जो प्रभावी होकर उभरते हैं। इसके ठीक विपरीत प्रभाव खोने वाले समूह की मांगों से अलग हटाकर सार्वजनिक नीतियां बनती हैं। अर्ल लेथम के शब्दों में, ''जिसे सार्वजनिक नीति कहा जाता है वह दरअसल किसी दिए हुए समय में समूह-संघर्ष के बीच प्राप्त इस संघर्ष की साम्यावस्था है। यह उस सन्तुलन को व्यक्त करता है जिसे संघर्षशील समूह लगातार अपने हक में हासिल करना चाहते हैं। ..... विधान समूह-संघर्ष को मुक्त रूप से होने देता है, सफल संयुक्त समूह की विजय को अनुमोदित करता है। तथा उनके आत्मसमर्पण की शर्तों को तथा समझौते और विजय की मांगों को शासकीय अनुज्ञापत्रों के रूप में जारी करता है।''

भारत में बड़े किसानों की लॉबी को अक्सर कृषिगत मूल्य निर्धारण के साथ जोड़कर देखा जाता है। इसी तरह औद्योगिक नियमन के क्षेत्र में बड़े उद्योगपतियों के प्रभावों को बड़े व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है। ये कुछ उदाहरण हैं जो ताकतवर हित समूह द्वारा शासकीय नीति पर निर्णायक प्रभाव डालने को पूर्णतया व्यक्त करते हैं।

3. **अभिजन सिद्धान्त-** सार्वजनिक नीति के ऊपर हम इस दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं कि यह शासक वर्ग की पसंदों को वरीयता देती है। नीतियों से अपेक्षा यह की जाती है कि उन्हें सार्वजनकि हितों का प्रतिबिम्बन करने वाला होना चाहिए मानों वह लोगों की मांगों को ध्यान में रखकर उन्हें संतुष्ट करने के लिए स्थायी बनायी गई है। वास्तव में, जनता अपने समग्र रूप में सरकारी नीति पर ज्यादा ध्यान नहीं देती। जनता के समग्र रूप को इस बात की भी पर्याप्त जानकारी नहीं रहती कि सरकार के अन्दर हो क्या रहा है। जनता की रहनुमाई अभिजन करते हैं। तथा जनता का इस्तेमाल भी अभिजन अपने ही हके में करते हैं। इस प्रकार से देखें तो सार्वजनिक नीति जनसाधारण की मांगों को संतुष्ट करने के लिए नहीं बनायी जाती। इन नीतियों का सम्बन्ध समाज के शीर्षस्थ लोगों की हित-साधन से होता है न कि समाज के निम्नतम वर्गों की समस्याओं से।

अभिजन सिद्धान्त का बड़ा नजदीकी सम्बन्ध समूह-सिद्धान्त से है। ये दोनों ही समाज के विशिष्ट हितों के दबाव के तहत नीतियें का बनना स्वीकार करते हैं। परन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि समूह सिद्धान्त अपनी प्रवृत्ति में बहुलतावादी (Pluralistic) है जबकि अभिजन सिद्धानत अनिवार्यतः एकात्मक (Monistic) है।

4. **युक्तिपरक मॉडल-** कोई भी नीति तर्कसंगत अथवा युक्तिपरक तब मानी जाती है जब यह सर्वाधिक कार्यकुशल हो। कार्यकुशलता के आकलन में सभी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान-मूल्यों का

ध्यान रखना पड़ता है जिन्हें या तो हासिल किया गया है अथवा जिनका परित्याग हुआ है। 'निवल मूल्य उपलब्धि' का आधिक्य ही युक्तिपरक मॉडल का प्रमाण है। 'निवल मूल्य उपलब्धि' का अर्थ होता है कि किसी नीति के निर्माण में सभी सम्बद्ध मान-मूल्यों का गम्भीरतापूर्वक ध्यान रखा गया है तथा जिन मूल्यों की कीमत पर अर्थात् परित्याग करके जिन दूसरे 'मूल्यों' को हासिल किया गया है उन 'मूल्यों' के परित्याग की मात्रा हासिल किए गए 'मूल्यों' से कहीं ज्यादा है।

हर्बर्ट साइमन ने इस बात को समझते हुए कहा है, ''तर्कसंगत अथवा युक्तियुक्तता का सम्बन्ध मूल्यों के लिहाज से चुने गए अभीप्सित आचरणों के विकल्पों से है और यह सम्बन्ध ऐसा होता है कि आचरणों के परिणामों का आकलन किया जा सके।" किसी तर्कसंगत नीति के निर्माण में निम्नलिखित प्रक्रियाएं सम्पन्न होती हैः-

- जिन नीति का निर्माण किया जा रहा है उससे सम्बधित सभी सामाजिक मूल्यों की पहचान की जाय तथा प्रत्येक को महत्व दिया जाय।
- क्रिया-व्यापार (Action) के सभी वैकल्पिक उपायों अर्थात् वैकल्पिक नीतियों पर विचार कर लिया जाय।
- प्रत्येक वैकल्पिक क्रिया-व्यापार के परिणामों की पहचान की जाए और उनका मूल्यांकन किया जाए ताकि जिन मूल्यों की प्राप्ति हुई और जिन मूल्यों का परित्याग प्रत्येक वैकल्पिक नीति के परित्याग के फलस्वरूप हुआ उसके अनुपात का आकलन किया जा सके।
- इनमें से किसी एक विकल्प को नीति के रूप में स्वीकृति और चयन जो कि सर्वाधिक मूल्यवान उद्देश्यों की प्राप्ति में सबसे उपयुक्त हो।

साइमन के अनुसार, एक तर्कसंगत अथवा युक्तिपरक नीति की निर्माण प्रक्रिया में तीन तरह की गतिविधियां शामिल होती हैं- बौद्धिक गतिविधि, अभिकल्पन सम्बन्ध गतिविधि तथा अभिष्ठ चयन से सम्बन्धित गतिविधि, उन्होंने इस प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए कहा है ''निर्णय-निर्धारण के पहले चरण को जिसमें वातावरण के उन हालातों की छानबीन की जाती है जो 'निर्णय' की मांग कर रहे होते हैं, मैं उसे खुफिया गतिविधि कहता हूँ। दूसरा चरण संभावित क्रिया-व्यापार से सम्बन्धित आविष्कार, विकास तथा विश्लेषण का होता है। इसे मैं संरचनात्मक गठन की गतिविधि कहता हूँ। तीसरा चरण एक क्रिया-व्यापार के विशेष रूप को चुन लेने का होता है जिसे मैं अभीप्सित चयन की गतिविधि कहता हूँ।"

युक्तियुक्त अथवा तर्काधारित नीति-निर्माण की पूर्व शर्तें बहुत सारी हैं। पहली शर्त तो यह है कि सामाजिक 'मान-मूल्यों' की पर्याप्त समझ होनी चाहिए। दूसरे, वैकल्पिक क्रिया-व्यापारों से सम्बन्धित आंकड़े तथा सूचनाएं अनिवार्य और त्वरित रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। तीसरे, संगठन के अंदर अनिवार्य रूप से एक 'निर्णय-निर्माणकारी तंत्र' होना चाहिए जिसके अन्दर प्रासंगिक आंकड़ों को पहचानने, उनका विश्लेषण करने तथा वैकल्पिक क्रिया व्यापार के परिणामों का पूर्वानुमान करने की समुचित और पर्याप्त क्षमता होनी चाहिए।

अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि तर्कसंगत अथवा युक्तियुक्त नीति-निर्धारण के रास्ते में अनुक बाधाएं हैं। न तो सामाजिक मान-मूल्यों को लेकर विचारों में एकता है और नही इन -'मान-मूल्यों' में से किसी एक को महत्व देना बहुत आसान है। नीति-निर्धारण प्रक्रिया में सहायक आंकड़ों और सूचनाओं की विपुल राशि को इकट्ठा करना भी कोई खेल नहीं है तथा इस क्रम में लागत भी अनिवार्यतः ऊँची हो जाती है। स्वयं निर्णय-ग्राही तंत्र ही अनेक बार इतना जटिल हेाता है कि अनेक दिमागों को एक साथ मिलकर काम करना होता है तथा मूल्यों और व्यक्तित्वों की आपसी टकराहट होती है जिससे कोई एक निर्णय लेने में काफी कठिनाई आती है। मेयेरसन तथा बेनफील्ड ने 'शिकागो पब्लिक हाउसिंग' के अपने अध्ययन की निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है- ''यह स्पष्ट है कि कोई भी 'निर्णय' पूर्णतः तर्काश्रयी तथा युक्तियुक्त नहीं होता, क्योंकि कोई भी उन सारे विकल्पों को नहीं जान पाता जो

किसी समय-विशेष में उसके लिए खुले होते हैं और न ही किसी व्यक्ति को यह जानकारी रहती है कि किसी क्रिया-व्यापार के कौन-कौन से परिणाम सामने आने वाले हैं। होता कुल यही है कि निर्णय थोड़े कम अथवा ज्यादा विकल्पों के ज्ञान के आधार पर लिए जाते हैं और परिणामों तथा सम्बद्ध उद्देश्य का पूर्वानुमान भी थोड़ा कम अथवा ज्यादा ही हो पाता है। इस प्रकार हम कुछ निर्णयों अथवा निर्णयग्राही प्रक्रिया को अन्य निर्णयों और निर्णयग्राही प्रक्रियाओं से थोड़ा ज्यादा युक्तिपरक होने की कोशिश के रूप में देख सकते हैं।"

सार्वजनिक नीतियों के अभिकल्पन में विशुद्ध बौद्धिक परिगणन का आधिक्य जितना जरूरी हेाता है उतनी ही जरूरी इसकी 'स्वीकृति' भी होती है। यही वजह है कि द्रोर जैसा बुद्धिवादी, विश्लेषक भी चाहता है कि नीति विश्लेषक अपने उपयोग का दायरा व्यापक करते हुए उसमें तर्केतर सूचनाओं, अंतर्बोधों तथा चमत्कारी नेतृत्व को सामाजिक यथार्थ के सटीक बोध के साथ शामिल करें। नीति-निर्धारण से सम्बन्धित भारत में किए गए एक हाल के अध्ययन में भी इसी तरह का निष्कर्ष निकला है। अनुसंधानकर्ता इस बात पर जोर देते हुए कहते हैं- ''हमारा विश्वास है कि न तो विज्ञान और ना ही नीति, अभिकल्पन सम्बन्धी कोई इष्टमत-अनुकूलतम तंत्र, निर्णयग्राहक के विवेक, अनुभव, फैसले तथा वातावरण के प्रति उसकी संवेदनशीलता और जनता के प्रति करूणा का स्थान ले सकता है।" उनका मानना है कि ''भारत जैसे विशाल प्रौद्योगिक-सामाजिक वातावरण की जटिलता में सार्वजनिक नीति का फैसला उसकी अनुकूलता तथा स्वीकृति दोनों पर आधारित है। बिना इन दोनों के विवेकपूर्ण समायोजन के कोई भी नीति इच्छित प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती है।"

अन्त में यह कहना समुचित है कि तर्कसंगत और युक्तिपरक नीति अभिकलन एक वांछित और अभिष्ठ वस्तु है और वातावरण में इसकी वस्तुस्थिति भिन्न होती है। वास्तविकता यह है कि नीति-निर्माण की प्रक्रिया में अनेक संस्थानिक, वैयक्तिक, वातावरणगत तथा नैतिक समस्याएं और बांधाऐं आती हैं। मार्टिन रेन के शब्दों में निष्कर्ष स्वरूप कहें तो ''हमें नीतियों की अभिकाम्यता अथवा अनुकूलता को जांचने के लिए एक साझे पैमाने की अर्थात् एक ऐसे पैमाने की जरूरत है, जो राजनीतिक रूप से व्यावहारिकता की कसौटी पर नीतियों को परख सके, विचारधारात्मक तौर पर उसकी स्वीकार्यता का निर्धारण कर सके तथा बौद्धिक आधार पर उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर सके। इस प्रकार का साझा पैमाना कभी नहीं बनाया जा सकता।"

5. **अभिवर्धनवाद-** अभिवर्धनवाद मॉडल बौद्धिक आधारों पर बनने वाली नीतियों की व्यावहारिक समस्याओं की पहचान करता है तथा समय, लागत, प्रतिभा और बौद्धिक कर्म तथा राजनीति जैसी अनेक मोलिक समस्याओं की तरफ ध्यान खींचता है जो प्रशासन के लिए बाध्यकारी साबित होते हैं। अभिवर्धनवादी औचित्य का सबसे बेहतरीन प्रतिपादन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री चार्ल्स लिंडब्लॉम ने अपने एक वक्तव्य में किया है। युक्तिपरक मॉडल पर टिप्पणी करते हुए चार्ल्स लिंडब्लॉम ने कहा है, ''यह मॉडल सूचना के ऐसे स्रोतों तथा बौद्धिक क्षमता को पहले से तय शुदा मानकार चलता है जो साधारणतः मनुष्यों में पाई ही नहीं जाती। एक नीतिगत अभिगम के रूप में यह तब भी भी असंगत साबित होता है जब किसी नीति-सम्बन्धी समस्या को लेकर आबंटित किया जाने वाला समय तथा धन दोनों सीमित होते हैं और ऐसा अक्सर होता है। जोक प्रशासकों के लिए विशेष महत्वपूर्ण तथ्य है कि सार्वजनिक ऐजेन्सियां अपने सुचारू रूप में इस प्रविधि के अंतर्गत हमेशा निदेशित नहीं की जातीं। इसका मतलब यह हुआ कि उनका वैधानिक अथवा राजनीतिक रूप से सम्भव निर्धारित कार्यकलाप तथा उसका दायरा इन एजेन्सियों के सरोकारों को अपेक्षाकृत थोड़े मानमूल्यों और कमतर वैकल्पिक नीतियों तक सीमित करता है।"

   लिंडब्लॉम के अनुसार, नीति निर्धारक हमेशा अपनी शुरूआत स्वीकृत कार्यक्रमों तथा पारित बजट से करते हैं और इसके बाद ही वर्तमान नीतियों एवं कार्यक्रमों में नए कार्यक्रम और नीतियों को जोड़ने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार पूरे वातावरण में एक किस्म की अभिवृद्धिकारी प्रक्रिया वस्तुतः चलती रहती है। आशय यह कि पुरानी गतिविधियां जारी रहती हैं और उन्हें पुनर्शोधित-संशोधित भी किया जाता है। अभिवृद्धिकारी

मॉडल एक ऐसे प्रारूप की स्थापना करता है जिसमें क्रमागत रूप से विकल्प जुड़ते रहते हैं, परन्तु उनकी संख्या सीमित होती है। अतः तुलना की संभावना भी कम ही होती है। इसकी मान्यता भी यही है कि सरकार के अंदर निर्णयों की एक ऐतिहासिक श्रृंखला विद्यमान होती है और प्रशासक इसका उपयोग भविष्य के निर्णयों के लिए कर सकता है।

लिंडब्लॉक ने ब्रेबुक के साथ मिलकर दो अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है जिन्हें 'सीमांत अभिवर्धनवाद' तथा 'पारस्परिक पक्षधर समायोजन' के नाम से जाना जाता है। शासकीय नीतियों की वास्तविक निर्धारण-प्रक्रिया की व्याख्या लिंडब्लॉम ने इन्हीं दो अवधारणाओं के आधार पर की है। पहली अवधारणा किसी विशिष्ट स्थिति के अनुकूल पड़ने वाली नीति के अन्दर आए परम्परागत और सीमित बदलाव की व्याख्या करती है जबकि दूसरी अवधारणा, विशिष्ट निर्णयों की स्थिति में विविध दृष्टिकोणों और हितों के समायोजन के महत्व को रेखांकित करती है। यहाँ बल विविध मतों तथा हितों के व्यावहारिक समायोजन पर दिया जाता है ना कि मात्र वैज्ञानिक प्रविधि के बतौर एक तर्काधारित और व्यापक निर्णय अभिधान पर। यहाँ नीति-अभिकल्पन के ऊपर विचार यथार्थवादी तरीके से किया जाता है और इसे परस्पर विरोधी मांगों तथा हितों के सीमान्त तथा असमायेजिक समन्जन के रूप में विचारा जाता है साथ ही निर्णय के अनदेखे परिणामों के सम्मुख रखकर भी विचार किया जाता है। इस प्रकार इस अभिगम की प्रवृत्ति 'असंलग्न अभिवर्धन' की होती है।

लिंडब्लॉम का अभिवर्धनवादी मॉडल साइमन और ड्रोर के युक्तिपरक मॉडल के विपरीत पड़ता है। अभिवर्धनवादी स्थापना की आलोचना करते हुए द्रोर ने बताया कि नई तथा चुनौतीपूर्ण स्थितियों को सामना करते समय हमारे सामने एक अच्छी नीति के अभिकल्पन की कोई ऐतिहासिक आधार -सामग्री उपलब्ध नहीं होती और अभिवर्धनवादी अनिवार्यतः स्थिरता की तरफ उन्मुख होते हैं। द्रोर के शब्दों में, ''ऐसे मॉडल, 'क्या करना चाहिए' इसका फैसला करने में लगातार अनुपयोगी होते जाते हैं। जब पुरानी नीतियों के परिणाम असंतोषजनक हों तब इन परिणामों का महत्व 'आगे क्या किया जाए' के निर्धारण में नगण्य हो जाता है। ऐसी नीतियें में अभिवर्धनकारी परिवर्तनों से कोई महत्वपूर्ण परिणाम सामने नहीं आ पाता।'' उनके अनुसार प्रबन्धन विज्ञान तथा आनुभविक शोधों के कारण अब एक इष्टमत नीति बनाना सम्भव हो गया है। ऐसी आलोचनाओं के बावजूद अनेक मामलों में पाया गया है कि 'अभिवर्धनवादी मॉडल' वास्तविक के ज्यादा निकट है और सरकारी संगठनों की वास्तविक प्रशासनिक स्थितियों के लिए यक मॉडल माफिक बैठता है।

समाज विज्ञानी ऐमिटेई इत्जियोनी ने एक मध्यवर्ती मॉडल भी सुझाया है, जिसमें युक्तिपरक मॉडल तथा 'असंलग्न अभिवर्धनवादी मॉडल' दोनों के ही तत्व समाहित हैं। उन्होंने दो तरह की निर्णय-प्रक्रिया की कल्पना की है-

- मूलभूत नीति, अभिकल्पन जो आधारभूत निर्देशनों को तय करती है।
- संयुक्त अभिवर्धनकारी प्रक्रिया जो मूलभूत निर्णयों को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है तथा इसके बाद उनका विकास आगे की तरफ करती है। इत्जियोनी की मिश्रित अन्वीक्षण पद्धति दोनों काम करती है। पहले तो यह सारे सम्बद्ध क्षेत्र का व्यापक तौर पर परीक्षण करती है तथा उसके व्याख्या के विस्तार में नहीं जाती और इसके बाद उन पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करती हे जहाँ गहराई में जाकर पड़ताल करने की जरूरत है।''

6. **खेल सिद्धान्त-** संघर्ष की स्थितियों में, मसलन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मामले में खेल सिद्धान्त का उपयोग निर्णय अभिधान में किया जाता है। व्यक्तिगत रूप से निर्णय की इकाई खेल की स्थिति में, एक व्यक्ति, एक समूह अथवा पूरा राष्ट्र हो सकती है। यह इकाई किसी अन्य निर्णयकर्ता इकाई, जिसके साथ इस अंतःक्रिया में संलग्न होना पड़ता है, के नियंत्रण में नहीं होती। हर निर्णयकर्ता इकाई का अपना अलग

तथा स्वतंत्र लक्ष्य अथवा उद्देश्य होता है। हर इकाई को अधिकाधिक लक्ष्य-पूर्ति की फिक्र रहती है, परन्तु हर एक को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि अन्य निर्णयकर्ता इकाईयां भी हैं और इन इकाइयों के लक्ष्य इसके अपने लक्ष्य से भिन्न हैं तथा इन इकाईयों के क्रियाकलाप का प्रभाव स्थिति से सम्बद्ध सभी इकाइयों पर पड़ सकता है। निर्णयकर्ता इकाई अथवा खेल में शिरकत करने वाले प्रतिभागी इस तरह से व्यवस्थित होते हैं कि उनके काम के अनेक संभावित परिणाम हो सकते हैं तथा इनके मानमूल्य भी अलग-अलग हो सकते हैं। पारस्परिक निर्भरता की स्थिति में ही निर्णयकर्ताओं को रहना पड़ता है। हर एक को अपनी स्वतंत्र पसन्द तय करनी पड़ती है। जहाँ स्वतंत्र रूप से सर्वोत्तम चयन करना सम्भव नहीं होता वहाँ नीति-निर्माण में खेल-सिद्धान्त उपयोगी होता है। ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम परिणाम इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे क्या कर रहे हैं।

संघर्षपूर्ण स्थितियों में सामाजिक व्यवहारों की व्याख्या के लिए समाज विज्ञानी खेल सिद्धान्त को उपयोग विश्लेषणकारी उपकरण के रूप में करते हैं। सार्वजनिक नीति के निर्माण में खले सिद्धान्त का उपयोग विरले ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम परिणाम इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे क्या कर रहे हैं।

संघर्षपूर्ण स्थितियों में सामाजिक व्यवहारों की व्याख्या के लिए समाज विज्ञानी खेल सिद्धान्त का उपयोग विश्लेषणकारी उपकरण के रूप में करते हैं। सार्वजनकि नीति के निर्माण में खेल सिद्धान्त का उपयोग विरले ही किया जाता है क्योंकि 'खेल' की स्थिति लोक-प्रशासन मे शायद ही उत्पन्न होती हो। थॉमस डाई ने निष्कर्ष रूप में कहा है- ''खेल-सिद्धान्त नीति-निर्माण का निगमनात्मक तथा अमूर्त मॉडल है। यह इस बात की तो कोई व्याख्या नहीं करता कि वास्तव में लोग निर्णय कैसे लेते हैं लेकिन यह जरूर बताता है कि यदि लोग पूर्णतः बुद्धिवादी हों तो प्रतियोगी स्थितियें में किस प्रकार निर्णय लेंगे। इस प्रकार खेल सिद्धान्त एक तरह से बुद्धिवाद का रूप है लेकिन इसका प्रयोग प्रतियोगी स्थिति में अर्थात ऐसी स्थिति में होता है, जहाँ परिणाम दो या दो से अधिक प्रतिभागियों के क्रियाकलापों पर निर्भर करता है।''

7. **व्यवस्था सिद्धान्त-** सार्वजनिक नीति कि व्यवस्था सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक रूप में देखता है तथा इसे राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम मानता है। डेविड ईस्टन के अनुसार राजनीतिक प्रणाली समाज की उन विशेष संरचनाओं तथा प्रक्रियाओं के पक्ष में होती है जो समाज में प्रभावपूर्ण तथा आधिकारिक रूप में मूल्यों का निर्धारण और आवंटन किया करते हैं। 'तंत्र' अथवा 'प्रणाली' की सीमा का अंकन उन गतिविधियों तथा प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में करना चाहिए जिन्हें 'राजनीतिक' कहकर पहचाना जाता है। केाई भी 'तंत्र' अपने वातावरण में ही निहत होता है तथा उसके साथ निरन्तर अंतःक्रिया में संलग्न रहता है। राजनीतिक प्रणाली में आदान वाह्य वातावरण में जरूरतों, मांगों तथा समर्थन के रूप में ग्रहण किया जाता है। मांगे नीति-निर्धारण प्रक्रिया को उत्तेजित करती है। ताकि एक आधिकारिक निर्णय पर पहुँचा जा सके। इस नीति की कीमतों में गिरावट, प्रतिबन्ध, किसी कानून के निराकरण-निवारण तथा अन्य ऐसी ही सार्वजनिक जरूरतों के लिए अभिमुखित किया जा सकता है। समर्थन सार्वजनिक नीति के 'स्वीकार्यता' की तथा चुनाव, करारोपण आदि कामों के परिणामों के अनुमोदन का सूचक है।

ईस्टन के अभिकल्पित आवधारणा में आधिकारिक आवंटन का सम्बन्ध नीतिगत निर्णयों से है। इस प्रकार तंत्राभिमुख सिद्धान्त सार्वजनिक नीति को राजनीतिक प्रणाली का परिणाम मानता है। तंत्राभिमुख सिद्धान्त को नीति-प्रक्रिया को समझने का एक उपयोगी तरीका माना जाता है, क्योंकि यह वास्तविक रूप में शासकीय प्रयोजनों में उपयोगी साबित होता है। तंत्राभिमुख सिद्धान्त ने नीति अभिकल्पन तथा परिणामों के मूल्यांकन को अत्यन्त सुगम बना दिया है।

5.5 प्रशासन

प्रशासन का सम्बन्ध संगठन, निर्णय प्रक्रिया तथा नीतियों के कार्यान्वयन से होता है। लोक प्रशासन के सरोकार सांगठनिक तथा प्रशासनिक को जानने-समझने एवम् इनका परीक्षण करने तथा उनके कार्यान्वयन-कार्य सम्पादन आद की बातों से होते हैं। कार्यक्रमों के क्रियान्वयन, राजनीतिक-आर्थिक तथा संगठनात्मक सिद्धान्तों के ऊपर लोक प्रशासन में अधिक चर्चा होती है। वस्तुतः लोक प्रशासन का नीति-विश्लेषक कार्योंन्मुख होता है। इस सन्दर्भ में क्रियान्वयन का मसला अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नीति विश्लेषक सरकारी संचालनों का आपदामस्तक पर्यवेक्षण करता है। आधारभूत रूप से नीतियों का वास्तविक परिणाम क्या होता है? इस प्रश्न के साथ क्रियान्वयन का मुद्दा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार नीतिगत विश्लेषक तथा कार्यक्रमों का क्रियान्वयन ये दोनों एक दूसरे से आन्तरिक रूप से जुड़े हुए हैं।

शासकीय प्रशासन में क्रियान्वयन की चिन्ता सर्वप्रमुख होती है। क्रियान्वयन का सम्बन्ध में महज प्रशासन की प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं है वरन् प्रशासनिक क्रियाकलपाप के परिणामों से भी है। फलस्वरूप नीति निर्माण एवम् नीति क्रियान्वयन एक अन्तहीन जाल के रूप में बुने हुए दिखते हैं। क्रियान्वयन की सफलता अथवा विफलता का सम्बन्ध बहुधा लक्ष्य प्राप्ति की समस्या से जोड़ा जाता है। उदाहरण के लिए एक अमुख कार्यक्रम का उद्देश्य निश्चित समयावधि में सीमित संसाधनों के माध्यम से चिन्हित लोगों को लाभ पहुँचाना है। अब क्रियान्वयन की जाँच दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो उद्देश्य पूर्ति हेतु जिन्हें चिन्हित किया गया है उनको लाभ पहुँचा है या नहीं। दूसरा कार्य पूर्ति में गुणवत्ता का ध्यान रखा गया है या नहीं। गुणवत्ता से तात्पर्य है कि जिस मापदण्ड के अनुरूप क्रियान्वयन के उद्देश्य का लक्ष्य निर्धारित किया है वह उसके मानक के आधार पर है या नहीं।

5.5.1 कार्य निष्पादन

अपेक्षित कार्य निष्पादन में प्रशासन को कई अनेक कारकों पर निर्भर रहना पड़ता है। उदाहरण के लिए, आवास निर्माण के क्रियान्वयन में। प्रथम कारक कार्यक्रमों की अनिश्चितताएं, जैसे- स्थल आवंटन, प्रौद्योगिकी तथा मानव संसाधन जो समय-विशेष तथा स्थान विशेष पर ना उपलब्ध हो सके। द्वितीय समस्या यह है कि सभी संसाधन (Men, Mateiral and Money) आवश्यकता अनुरूप ना उपलब्ध हों। समय की परिधि में संसाधनों की पूर्ति की भी एक अनिश्चितता बनी रहती है। शासकीय विनिर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए यह एक परम्परा सी बन गई है, कि वित्तीय वर्ष के समापन समय में 'निधि' प्रदान करना है। अंतिम समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। इसी तरह एक समस्या अधिकारी एवम् कर्मचारियों के स्थानान्तरण से सम्बधित है। स्थानान्तरण तो कर दिया जाता है पर उस पद पर नियुक्ति में विलम्ब होता है। तीसरा कारक कार्यक्रम के क्रियान्वयन को बाधित करने वाली कुछ जानी पहचानी समस्याए हैं जो समस्याएं संगठन के अन्दर ही पायी जाती हैं। किसी विभाग में, बहुत सम्भव है कि नये कार्यक्रम को स्वागत योग्य न समझा जाए, इसके प्रति अधिकांश विभागीय कर्मचारियों के उत्साहहीन रवैये के कारण नियुक्तियों में विलम्ब किया जाये। नया कार्यक्रम नए संगठन की मांग करता है और इसक संघटित करने में समय लगता है। चौथी समस्या संघटन स्वयं ही होता है। नेतृत्व किसी संगठन और उसके कार्यक्रमों को बना भी सकता है ओर बर्बाद भी कर सकता है। विशेषकर जब किसी क्षेत्र में नये कार्यक्रम प्रारम्भ किए जाते है तो एक व्यापक सीमा तक नेतृत्व ही उसके परिणामों का निर्धारण करता है। इस सन्दर्भ में जेम्स क्यू0 विल्सन का वक्तव्य सार्थक है। ''सर्मथन तथा अनुभवी अधिशासी की आपूर्ति उसी तीव्रता में नही बढ़ रही जिस तीव्रता से सार्वजनिक नीतियों द्वारा समस्याओं को निपटाया जा रहा है।''

उपरोक्त तथ्यों से विदित होता है कि अनेक शासकीय कार्यक्रम ऐसे होते है जो एक विभाग के उत्तर दायित्व से परे होते। इनकी सफलता अनेक विभागों के आन्तरिक समायोजन पर निर्भर करती है, यदि किसी कार्यक्रम के सभी सहयोगी विभाग समान रूप से कार्यकुशल नही है तथा उद्देश्य पूर्ति के लिए सन्तुलनकारी ढंग से कार्य नहीं कर रहे

है तो कार्यक्रम बाधित होता है, एवम् कार्यक्रम के भाग्य का निर्णय उनके आन्तरिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। वर्तमान में कार्यों के निष्पादन में 'निजीकरण' संस्थाओं के माध्यम से सम्पन कराने की प्रथा सी बन गई है। जैसे स्वयं सेवी संगठन अथवा निजी संस्थान तीसरी एजेन्सी के नाम पर सौंप दिये जाते हैं। इसका दूसरा नाम भी है जिसे ठेका कहते हैं। इस स्थिति में कार्यक्रम की सफलता इस बाहरी एजेन्सी के कार्य सम्पादन पर निर्भर करती है।

यह कार्यान्वयन सम्बन्धी समस्याओं की एक संक्षिप्त सूची है। वास्तविक जीवन में समस्याएं इससे भी अधिक हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, अन्त:वैयक्तिक-सम्बन्ध, वरिष्ठों और अधीनस्थों का सम्बन्ध तथा समय पर परिणाम उत्पन्न करने में अक्षमता जैसी समस्याओं का सम्बन्ध कार्यक्रम के क्रियान्वयन से हो सकता है। इस सन्दर्भ में, प्रशासनिक प्रतिप्रेषण (Feedback) की जरूरत पर बल देने की आवश्यकता है। सूचनाओं के प्रवाह में रूकावट भी क्रियान्वयन के मार्ग में बहुत बड़ी बांधा बनती हे।

'अग्रसारी मापन'(Forward mapping) तथा 'पश्चाभिमुख मापन' (Backward Mapping) क्रियान्वयन सम्बन्धी अनुसंधानों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परम्परागत रूप से प्रशासक ही इस बात का निर्णय लेते है कि कौन से परिणाम उनहें प्राप्त करने हैं और तब लोगों से जुड़े उत्तर दायित्व की व्याख्या विस्तार पूर्वक करते हैं कि कार्यान्वयन प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में क्या-क्या होगा? इस पूरी प्रक्रिया में दिक्कत यह है कि कार्यान्वयन करने वाला उन सारे तथ्यों पर नियंत्रण नहीं रख पाता जो क्रियान्वयन की पूरी प्रक्रिया को प्रभावित करता है, परन्तु इसे 'पश्चाभिमुख मापन' द्वारा सुधारा भी जा सकता है। इससे यह मान लिया जाता है कि प्रशासन की शुरूआत प्रक्रिया के अंतिम बिन्दु से होती है, आरम्भिक बिन्दु से नहीं।

अन्त में यह विदित होता है कि कार्यक्रम के क्रियान्वयन की सारी विफलता क्रियान्वयन प्रक्रिया में सम्मिलित त्रुटियों पर ही नहीं आधारित होती है। यह भी सम्भव है कि नीति का चयन ही समुचित रूप से न हुआ हो तथा इसका आकलन भी सही रूप से न हो पाया हो। इस प्रकार असफलता नीति निर्धारिण में ही निहित हो सकती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति का क्या तात्पर्य है?
2. नीति के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?
3. नीति निर्धारण में शासन की कौन-कौन सी शाखाएं सम्मलित होती हैं?
4. नीति निर्धारण में मुक्तिपरक मॉडल की व्याख्या कीजिए।

5.6 सारांश

नीतियां लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बनाई जाती हैं। संगठन जिन गतिविधियों को अंजाम देता है और जो काम इसके विविध भागों द्वारा पूरा किया जाता है, वह सब कुछ उन्हीं नीतियों के तहत होता है। सामाजिक जिज्ञासा के क्षेत्र में सार्वजनिक नीति निर्धारण एक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में उभरा है। हर समाज व्यापक प्रभाव वाले अभिकल्पित नीतिगत हस्तक्षेप की सहायकता से अपने पुर्ननिर्माण तथा नियमन में लगा रहता है। नीतियां कैसे बनाई जाएं यह बात स्वाभाविक रूप से ध्यान आकर्षित करती है। इस अध्याय में वर्णित विविध मॉडल अभिकल्पन सम्बन्धी वास्तविकताओं को समझने में प्रयास है।

5.7 शब्दावली

वितरण- संसाधनों को बांटना, नियमन- नियमानुसार, संघटक- संस्थाओं के गठन, द्वन्द- विचारों का मतभेद, मोलभाव- सौदे बाजी करना, अभिजन- उच्च कुल में जन्म, वंश, अभिवर्धन- विकसित रूप में लाना या बढ़ाना

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. प्रथम प्रश्न का उत्तर प्रस्तावना में निहित है। **2.** नीति के उद्देश्य 5.1 में दर्शाये गये हैं। **3.** प्रश्न तीन का उत्तर 5.4 में दिया गया है। **4.** मुक्ति परक मॉडल को 5.4.1.2 में बताया गया है।

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक प्रशासन के नये आयाम- मोहित भट्टाचार्य।
2. लोक नीति- आर0के0 सप्रू।
3. लोक प्रशासन- रूमकी बसु।
4. लोक प्रशासन- एम0 पी0 शर्मा, बी0 एल0 सडाना।

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक नीति- आर0 के0 सप्रू।
2. लोक प्रशासन- बी0 एल0 फड़िया।

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नीति निर्धारण के अर्थ तथा महत्व की विवेचना कीजिए।
2. नीति निर्धारण में किन्हीं तीन प्रतिमानों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. नीति निर्धारण एवम् प्रशासन के मध्य स्थापित मूल्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 6 नीति का निर्माण, भारत में नीति निर्माण

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 नीति निर्माण का महत्व
6.3 नीति विश्लेषण की प्रणाली
6.3.1 नीति विश्लेषण के लिए संस्थायी उपागम
6.4 तर्कसम्मत नीति निर्माणक मॉडल
6.4.1 सिमॉन के मॉडल
6.5 सरकारी नीति निर्माता
6.6 भारत में नीति निर्माण
6.6.1 संस्थागत कारक
6.6.2 संसद
6.6.3 कार्यपालिका
6.6.4 सुस्थापित संस्थाऐं
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

लक्ष्य, उद्देश्य, नीति तथा प्रयोजन आदि शब्दों का व्यवहार बहुधा एक ही अर्थ में एक दूसरे की जगह किया जाता है। वास्तविक विशिष्टता के कारण इनमें अन्तर होता है। लक्ष्य तथा उद्देश्य का सम्बन्ध व्यापक अभीष्ट से होता है। इसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिए नीतियों तथा प्रयोजनों (Objectives) का निर्माण किया जाता है। इस अर्थ में लक्ष्य तथा नीति मूल्यात्मक पद है और इनका सम्बन्ध चीजों की उस सूदूरवर्ती अवस्था से है, जिन्हें प्राप्त करने का संकल्प किया जाता है। इस प्रकार गरीबी-उन्मूलन को एक लक्ष्य माना जा सकता है, जिसका भारत सरकार अनुगमन करना चाहती है। इस आधार पर ग्रामीण विकास, शहरी विकास तथा औद्योगिक विकास की नीतियां बनाई गई हैं, जो इस व्यापक सार्वजनिक लक्ष्य की प्राप्ति के साधक हैं। इस सन्दर्भ में नीतियों को वृहद उपकरण माना जा सकता है।

नीति-निर्माण तथा निर्णय-निर्माण में एक सूक्ष्म अन्तर है। ज्याफ्री वाईकर्स(Geoffery Vickers) ने नीति निर्माण तथा क्रियाशील निर्णय में अन्तर करते हुए कहा है कि ''नीति निर्माण का कार्य क्रियाकलाप का निर्देशन करना, उनमें समन्वय लाना तथा निरन्तरता उत्पन्न करना है। इसके लिए नीति-निर्माणकारी निकाय उत्तर दायी होता है। निर्णय अभिग्रह का प्रयोजन इस प्रकार से लागू हाने वाली नीतियों को प्रभावी बनाना है।'' कार्यकारी निर्णय तथा नीतिगत निर्णय में अन्तर स्थापित करते हुए वाइकर्स का कहना है, ''नियमनकारी क्रियाकलाप का वह तत्व जो

वर्तमान शासनिक स्थितियों में मामलों के पूरे घटनाक्रम की देखभाल करता है, उसे मैं कार्यकारी निर्णय कहता हूँ। शासकीय स्थितियों के आपसी सम्बन्धों के संशोधन का काम करने वाला तत्व, नीति निर्माण का तत्व है।"

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति निर्माण के महत्व, नीति विश्लेषण प्रणाली, तर्क सम्मत नीति निर्माणक मॉडल के विषय में जान पायेंगे।
- भारत में नीति निर्माण के विषय में विस्तार से जान पायेंगे।

6.2 नीति निर्माण का महत्व

लोकतांत्रिक समाज में एक राज्य सरकारी संरचनाओं और संस्थाओं का जाल होता है। राज्य की कई भूमिकाऐं होती है। यह संघर्षशील सामाजिक एवं आर्थिक हितों के बीच सामंजस्य बनाये रखने की कोशिश करता है। सकारात्मक राज्य को समुदाय के सभी वर्गों का अभिभावक माना जाता है। नीति निर्माण में न केवल नीतिगत विषय वरन् नीति-निर्माता के अवबोधन और मूल्य भी होते हैं। नीति निर्माण में सम्मलित सभी संस्थाओं का बहुत योगदान होता है। निर्णयात्मक नीति वास्तविक रूप से नीति का आकार तब प्रदान करती है, जब यह सरकारी संस्थाओं द्वारा अपनाई एवम् लागू की जाती है। सरकार नीति को वैधानिक प्राधिकार प्रदान करती है। लोक नीति, विधान मण्डल का प्रतिपादन है तथा इसे वैधानिक अनुमोदनों द्वारा विशिष्ट बनाया गया है। इसे ऐसी वैधानिक बाध्यता के रूप में माना जाता है, जो लोगों की आज्ञाकारित को नियंत्रित करता है। राज्य नीतयों का उल्लंघन करने वालों पर इसे वैधानिक रूप से लागू करता है। नीतियां राज्य के समस्त नागरिकों पर लागू होती हैं। यह समाज के प्रत्येक वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा करने में समर्थ होता है।

6.3 नीति विश्लेषण की प्रणाली

नीति निर्माण प्रक्रिया को समझने के लिए प्रणालियों का सिद्धान्त समझना अत्यन्त उपयोगी होता है। राजनीतिक प्रणालियों के विश्लेषण में डेविड ईस्टन कहते हैं कि राजनीतिक प्रणाली समाज का वह अंग है जो ''मूल्यों के प्राधिकृत विधान" में सम्बद्ध रहता है। निवेशों को वातावारण में भौतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उत्पादों के रूप में देखा जाता है, वे राजनीतिक प्रणाली में मांगों और समर्थन दोनों रूपों में प्राप्त किये जाते हैं। मांगों का दावा राजनीतिक प्रणाली पर व्यक्तियों तथा समूहों द्वारा वातावरण के कुछ पहलुओं को परिवर्तित करने के लिए किया जाता है। मांगें उस समय उठती हैं, जब व्यक्ति या समूह वातावरणीय दशाओं में प्रतिक्रिया स्वरूप लोक नीति को प्रभावित करने के लिए कार्य करते हैं।

वातावरण को राजनीतिक प्रणाली की सीमाओं से बाहर की किसी दशा अथवा घटना के रूप में परिभाषित किया गया है। राजनीतिक प्रणाली के समर्थन में नियम, कानून और रीतियां, शामिल होती हैं जो राजनीतिक सम्प्रदाय या प्राधिकारियों को कायम रखने के लिए आधार प्रदान करती हैं। यह तब होता है जब व्यक्ति या समूह निर्णयों अथवा कानूनों को स्वीकार कर लेते हैं।

राजनीतिक प्रणाली के मूल में नीति निर्माण के लिए संस्थाऐं या कार्मिक होते हैं। इनमें मुख्य प्रशासक, विधायक, न्यायाधीश एवं अधिकारी-तंत्र शामिल होते हैं। प्रणाली के रूप में वे निवेशों को उत्पादनों में परिवर्तित करते हैं।

तब उत्पादन राजनीतिक प्रणाली के प्राधिकृत मूल्य विधान होते हैं तथा ये विधान लोकनीति अथवा नीतियों का निर्माण करते हैं। प्रणाली सिद्धान्त लोकनीति को राजनीतिक प्रणाली के उत्पादन के रूप में वर्णित करता है। प्रतिपुष्टि की संकल्पना यह निर्दिष्ट करती है कि लोकनीतियां वातावरण पर प्रभाव को कम कर सकती हैं। उसमें

मांगें उत्पन्न होती हैं तथा राजनीतिक प्रणाली की स्वरूप पर प्रभाव डाल सकती हैं। नीति उत्पादन नयी मांगों अथवा समर्थनों को उत्पन्न कर सकते हैं तथा प्रणाली के लिए पुराने समर्थनों को वापस ले सकते हैं। प्रतिपुष्टि भावी नीति के लिए उचित मांगों को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

प्रणालियों का सिद्धान्त नीति निर्माण विधि को समझने में उपयोगी होता है तथा नीति विश्लेषणों में इसका मूल्य इन प्रश्नों में निहित होता है-

1. वातावरण के महत्वपूर्ण आयाम क्या हैं? जो राजनीतिक प्रणाली पर मांगें उत्पन्न करते हैं।
2. राजनीतिक प्रणाली की महत्वपूर्ण विशिष्टताएं क्या हैं? जो मांगों को लोक नीतियों में परिवर्तित करने तथा स्वयं समय बचाने के लिए उपयुक्त हैं।
3. वातावरणीय निवेश किस प्रकार राजनीतिक प्रणाली को प्रभावित करते हैं?
4. राजनीतिक प्रणाली की विशिष्टताएं किस प्रकार लोकनीति की सन्तुष्टि को प्रभावित करती हैं?
5. वातावरणीय निवेश किस प्रकार लोकनीति की संतुष्टि को प्रभावित करते हैं?
6. लोकनीति किस प्रकार प्रतिपुष्टि, वातावरण एवं राजनीतिक प्रणाली की स्वरूप द्वारा प्रभावित की जाती हैं?

फिर भी अनेक कारणों से लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए प्रणालियों के मॉडल की उपयोगिता सीमित है।

इस मॉडल की आलोचना कल्याणकारी अर्थव्यवस्थाओं की मूल्य-युक्त तकनीकों का प्रयोग करने के कारण हुई है, जो स्पष्टतया परिभाषित ''सामाजिक कल्याण कार्य'' की महत्व वृद्धि पर आधारित हैं।

प्रणाली उपागम में लुप्त तत्व हैं, नीति-निर्माण की ''शक्ति, कार्मिक एवं संस्थाएं।'' इनका परीक्षण करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीतिक निर्णयकर्ता राजनीतिक प्रणाली के परिवेश में आर्थिक कारकों द्वारा अत्यधिक प्रतिबन्धित होते हैं।

यह इस्टोनिआई मॉडल भी नीति प्रक्रिया के एक महत्वपूर्ण तत्व की उपेक्षा करता है। नीति निर्माण (संस्थाओं सहित) जिस परिवेश में वे कार्यशील होते हैं उस परिवेश को प्रभावित करने की काफी क्षमता रखते हैं। पारम्परिक आगत-निर्गत मॉडल में निर्णय प्रणाली प्रेरणार्थाक (कारणवचाक) के बदले 'सुविधाकारी' और मूल्य-मुक्त अर्थात् पूर्णतया उदासीन संरचना होती है। दूसरे शब्दों में, प्रणालियों में संरचना परिवर्तनों का लोकनीति पर कोई सीधा कारणीय प्रभाव नहीं होता।

अन्त में, जिस हद तक आन्तरिक और वाह्य परिवेश नीति-निर्माण पर प्रभाव डालता है, वह प्रणाली के निर्णयकर्ताओं के मूल्यों और विचारधाराओं द्वारा निर्धारित होता है। यह संकेत देता है कि नीति-निर्माण में ना केवल नीतिगत विषय वरन् नीति-निर्माता के अवबोधान और मूल्य भी होते हैं। नीति निर्माताओं के मूल्यों को बनाये जाने वाले नीतिगत विकल्पों को समझने में महत्वपूर्ण माना जाता है।

6.3.1 नीति विश्लेषण के लिए संस्थायी उपागम

अनेकवादी समाज में व्यक्तियों एवं समूहों के क्रियाकलाप समान्यतः विधानमण्डल, प्रशासक, न्यायपालिका, राजनीतिक दलों इत्यादि जैसी सरकारी संस्थाओं की ओर निर्देशित होते हैं। अन्य शब्दों में यह नीति का आकार तब तक नहीं लेती है जब तक यह सरकारी संस्थाओं द्वारा अपनायी एवं लागू नहीं की जाती है। सरकारी संस्थाओं ने लोकनीति की तीन भिन्न विशिष्टताएं बतायी हैं। पहला- सरकार नीति को वैधानिक प्राधिकार प्रदान करती है। लोकनीति विधानमण्डल का ही प्रतिपादन है तथा इसे वैधानिक अनुमोदनों द्वारा विशिष्ट बनाया गया है। इसे ऐसी वैधानिक बाध्यता के रूप में माना गया है जो लोगों की आज्ञाकारिता को नियंत्रित करता है। दूसरा- राज्य में समस्त नागरिकों के लिए इसके विस्तार करने से लोक नीति को लागू करना सार्वजनिक हो गया है। तीसरा- केवल राज्य इसकी नीतियों का उल्लंघन करने वालों पर इसे वैधानिक रूप से लागू कर सकता है।

इस तरह लोकनीति और सरकारी संस्थाओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह आश्चर्य की बात तब तक है, जब तक राजनीतिक वैज्ञानिक, सरकारी संरचनाओं और संस्थाओं के अध्ययन पर प्रकाश ना डालें। संस्थावाद को संस्थाओं के संरचनात्मक और वैधानिक पहलुओं पर इसके संकेन्द्रण के कारण नीति विश्लेषण में प्रयुक्त किया जा सकता है। संरचनाएं और संस्थाएं तथा उनकी व्यवस्थाएँ और अन्तःक्रियाएँ लोक नीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती हैं।

परम्परागत रूप में इस अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु सरकारी संरचनाओं एवं संस्थाओं का वर्णन था। सरकारी संरचनाओं एवं नीति के परिणामों के मध्य सहलग्नता का अध्ययन मुख्यतया अविश्लेषित एव उपेक्षित ही रहा।

नीति विश्लेषण के संस्थायी उपागम का मूल्य यह प्रश्न पूछने में कि संस्थागत विन्यासों एवं लोक नीति के विषय वस्तु के बीच क्या सम्बन्ध होते हैं? तथा तुलनात्मक तरीके से इन सम्बन्धों की जाँच-पड़ताल में निहित है। यह मानना सही नहीं होगा कि संस्थायी संरचना में हुआ कोई विशेष परिवर्तन लोकनीति में परिवर्तन ले आएगा। संरचना और नीति के बीच वास्तविक सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल किए बिना लोकनीतियों पर संस्थायी विन्यासों के प्रभाव का मूल्यांकन करना मुश्किल है।

6.4 तर्कसम्मत नीति निर्माणक मॉडल

तर्कसम्मत बोधगम्य पद्धति में प्रशासक को अपने सामने प्रस्तुत लक्ष्य का सामना करना पड़ता है, जिसमें प्राथमिकताओं के रूप में मूल्यों की सूची के सापेक्ष महत्व के अनुसार निर्धनता कम करने जैसी चुनौती होती है। सर्वोत्तम नीति का चयन करते समय नीति निर्माता निर्धनों के स्वास्थ्य में सुधार करने, अपराध कम करने और निरक्षरता का उन्मूलन करने जैसे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सभी संगत मूल्यों या लाभों को तर्क-सम्मत रूप में श्रेणीबद्ध करता है। ये विकल्प उदाहरणार्थ इस प्रकार हो सकते हैं- गारन्टीयुक्त आय योजना, प्रत्यक्ष आर्थिक सहायताएं, उच्च कल्याणकारी भुगतान या बेरोजगार राहत कार्यक्रम। वह अनेक विकल्पों में से ऐसे सर्वोत्तम विकल्प का चयन करता है जो मूल्यों की श्रेणीबद्ध सूची को पूर्ण बनाने में सहायक होते हैं। निर्णय लेने का उपागम तर्क-सम्मत है, क्योंकि इसमें विकल्पों और मूल्यों का तर्क-सम्मत ढंग से चयन किया जाता है और सापेक्ष महत्व में उनका मूल्यांकन किया जाता है। यह उपागम बोधगम्य भी है, क्योंकि नीति निर्माता द्वारा सभी विकल्पों और मूल्यों का अध्ययन किया जाता है।

फिर भी नीति का निर्माण करने वाली एजेन्सियों के भीतर और उनके वातावरण से उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कारक और साथ ही इन कारकों में सतत रूप से घटित होने वाले परिवर्तन नीति निर्माता के कार्य को जटिल और तर्क सम्मत प्रक्रिया को कठिन बना देते हैं।

यदि नीति निर्माता को तर्कसम्मत निर्णय करने के नमूने के मानकों का अनुसरण करना पड़े तो वह एजेन्सी की समस्याओं से संगत लगने वाले सभी लक्ष्यों को सूचीबद्ध करके उनका मूल्यांकन करेगा तथा वह प्रत्येक नीति के लिए ऐसे कदम उठायेगा जो प्रत्येक सम्भव लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम होंगे। लक्ष्यों और नीतियों के प्रत्येक समूह से जुड़े सम्भावित लाभों और हानियों के विषय में सभी संगत सूचनाओं के आधार पर नीति निर्माता एजेन्सी के कार्यक्रम उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम नीति व लक्ष्य संयोजन का चयन करेगा।

नीति निर्माण का तर्कसंगत नमूना अधिकारियों से यह अपेक्षा करता है, कि प्रत्येक मुद्दे पर विचार करें और स्पष्ट रूप से ऐसे निर्णय लें जो अधीनस्थ कर्मचारियों की कार्यवाहियों का मार्गदर्शन कर सकते हों। इसके परिणामस्वरूप एकीकृत नीतियों का निर्माण होगा जो परस्पर विरोधी ना होकर पूरक होंगी। फिर भी तर्कसम्मत मॉडल के निर्देशन को स्वीकार करने वाले प्रशासक अपने आपको उन अनेक ऐसी बाधाओं से घिरा हुआ पायेंगे जो प्रजातांत्रिक समाजों में विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती है। वे विषय जातीयता और संघर्ष को दर्शाती है, जिन्हें बहुत से लेखकों ने तांत्रिक प्रक्रिया के घटक के रूप में माना है।

प्रशासनिक इकाइयों में कार्मिक द्वारा तर्कसम्मत निर्णय करने की प्रक्रिया को बाधित करने वाली लोक प्रशासन प्रणालियों की जाँच प्रमुख विशेषताएं बतायी हैं- (1) समस्याओं, लक्ष्यों और नीति प्रतिबद्धताओं का बाहुल्य जो प्रशासनिक इकाई के वातावरण में सक्रिय तत्वों द्वारा ऊपर से लाद दिया जाता है या नीति निर्माताओं पर हावी हो जाता है, (2) विभिन्न प्रकार के 'स्वीकार्य' लक्ष्यों और नीतियों के बारे में प्रर्याप्त सूचना एकत्र करने के मार्ग में आने वाली बाधाएं, (3) नीति निर्माताओं की व्यक्तिगत जरूरतें व प्रतिबद्धताएं, निषेध और अपर्याप्तताएँ जो उनकी एजेन्सी के दृष्टिकोण से स्वीकार्य होते हुए भी लक्ष्यों और नीतियों के मूल्यांकन में हस्तक्षेप करती हैं, (4) प्रशासनिक इकाइयों के भीतर की संरचनात्मक कठिनाइयां और सरकार की विधायी व कार्यकारी शाखाओं के साथ इन इकाइयों के सम्बन्धों को समाविष्ट करने वाली कठिनाइयां एवम् (5) अलग-अलग प्रशासकों का पथ भ्रष्ट व्यवहार। इन समस्याओं का सामना करते समय नीति निर्माता ऐसे निर्णयों की खोज करने में प्रवृत्त होते हैं, जो इष्टतम होने की अपेक्षा सन्तोषप्रद होंगे। वे यथासम्भव कठिन चयन की स्थिति बचाना चाहते हैं।

आलोचकों द्वारा तर्कसम्मत पद्धति की अव्यावहारिक पद्धति के रूप में भी आलोचना की गयी है, जैसा इस प्रक्रिया में अपेक्षित है। नीति विकल्पों की पूरी सूचना बनाना और सभी सूचनाएं एकत्र करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त, यह प्रक्रिया बहुत समय लेती है जबकि नीति निर्माता को बिना देर किये कार्यवाही करनी चाहिए। साथ ही, यह पूर्वानुमान भी भ्रान्तिपूर्ण है कि मूल्यों को श्रेणीबद्ध और वर्गीकृत किया जा सकता है। विधायक, प्रशासक, जनता और राष्ट्र जिन मूल्यों को प्राप्त करना चाहता है, उनके सम्बन्ध में बार-बार असहमत होते हैं। इसके अलावा इस पद्धति के अनुसार, नयी नीतियों का निर्णय करने से पहले प्रत्येक चीज पर विचार किया जाना चाहिए। इसमें जोखिम बना रहता है, क्योंकि नयी नीतियों को अपनाने के परिणाम अज्ञात होते हैं।

लिंडब्लाम ने तर्क दिया है कि प्रशासनिक निर्णयों में वास्तव में कुछ घटित होता है। जबकि वह नितान्त भिन्न प्रक्रिया है, यथा- क्रमिक सीमित तुलनाएं या 'शाखा' तकनीक। उदाहरणार्थ, धनराशि के निर्धारित नियमन द्वारा निर्धनता कम करने का उद्देश्य स्थापित किया जाता है। लेकिन नीति निर्माण में यह बहुधा समझौते में फस जाता है। शीघ्र ही इसमें अल्पसंख्यक उद्देश्य छात्रों को शिक्षित करने या बेरोजगार लोगों को बेरोजगारी राहत उपलब्ध कराने जैसे अन्य लक्ष्य घुल मिल जाते हैं। प्रशासक प्राथमिकता के आधार पर तात्कालिक प्रासंगिकता के कार्यक्रमों का सबसे पहले प्रारम्भ करता है। उपयुक्त नीतियों का चयन करने में वे विभिन्न प्रकार की सम्भावनाओं की रूपरेखा नहीं बनाते, बल्कि वे कुछ वृद्धि सम्बन्धी कदम ही उठाते हैं, जो उन्हें अपने अनुभव के आधार पर व्यावहारिक जान पड़ते हैं। लिंडब्लाम कहते हैं कि नीति निर्माता इष्टतम कार्यक्रम का तर्कसम्मत रूप से चयन नहीं करते वरन् जनप्रशासक-वर्ग वस्तुतः क्रमिक सीमित तुलनाओं की पद्धति के अन्तर्गत प्रस्तुत तात्कालिक विकल्पों में से व्यवहारिक रूप में ऐसे सर्वाधिक उपयुक्त समझौते का चयन करते हैं, जो कार्यक्रम सम्बन्धी समूहों और वृत्तियों को सन्तुष्ट कर सके।

लिंडब्लाम के अनुसार 'वृद्धिवाद' के दो लाभ हैं- पहला, यदि नीति निर्माता वृद्धि सम्बन्धी छोटे परिवर्तनों के जरिये आगे बढ़ता है तो उसे गम्भीर बदलावों से बचने का लाभ प्राप्त होता है, बशर्ते कि इसमें गलतियां नहीं की गयी हों। दूसरे, यह पद्धति उन प्रजातांत्रिक राज्यों में नीति निर्माण प्रक्रिया को सही रूप में प्रदर्शित करती है, जो लोक नीतियों में भारी परिवर्तनों की अपेक्षा मुख्यतया मतैक्य और अनुक्रमवाद के जरिए संचालित होती है। फिर भी लिंडब्लाम यह स्वीकार करते हैं कि शास्त्रीय सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण से यह उपागम अवैज्ञानिक और असम्बद्ध जान पड़ता है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वृद्धिवाद के परिणामस्वरूप महत्वपूर्ण नीति विकल्पों को अनदेखा किया जा सकता है। फिर भी उनका यह विश्वास है कि प्रजातांत्रिक समाजों में व्यक्ति किसी भी सम्भव सार्वजनिक हित के पक्ष में एकजुट होने के लिए स्वतंत्र है। इसलिए नीति निर्माताओं के एक समूह द्वारा उपेक्षित मूल्यों पर दूसरे समूह द्वारा विचार करने की सम्भावना बनी रहती है।

यद्यपि यह व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है कि वृद्धिवाद नीति निर्माण प्रक्रिया की वास्तविकता का वर्णन करता है। तथापि यह भी सच है कि सरकार जिन समस्याओं का सामना करती है, वे प्रायः इतनी गम्भीर होती हैं कि वृद्धि सम्बन्धी परिवर्तन के लिए उनके समाधान पर्याप्त नहीं होते और इसके लिए नवीन प्रक्रिया की अपेक्षा की जाती है। 'अमिताई एतजिओनी का मिश्रित क्रमवीक्षण' इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह वृद्धिवाद और बुद्धिवाद इन दोनों को जोड़ देता है।

तर्कसम्मत उपागम के सम्बन्ध में वे लिंडब्लाम की आलोचना से सहमत हैं, लेकिन उनका यह भी विश्वास है कि वृद्धिवाद भी त्रुटियों से सर्वथा मुक्त नहीं है। वे महसूस करते हैं कि वृद्धिवाद सामाजिक नव-परिवर्तन प्रक्रिया को हतोत्साहित करता है और यह दृष्टिकोण में पक्षपाती है। जिसका वास्तव में यह अर्थ है कि सर्वाधिक शक्तिशाली और संगठित लोगों के हितों पर नीति निर्माता अधिकतम ध्यान देते हैं। इसके अलावा वृद्धिवाद युद्ध घोषणा को जैसे मूलभूत निर्णय लेने में लागू नहीं किया जा सकता। अतः 'एतजिओनी' मिश्रित क्रमवीक्षण उपागम का सुझाव देते हैं, जिसमें तर्कसम्मत पद्धति के साथ वृद्धि पद्धति के तत्वों को संयुक्त कर दिया जाता है।

वे अपने 'मिश्रित क्रमवीक्षण' उपागम की व्याख्या एक साधारण उदाहरण के जरिए करते हैं- मान लिया हम मौसम उपग्रहों का प्रयोग करके विश्वव्यापी मौसम प्रेक्षण व्यवस्था की स्थापना करने वाले हैं। तर्कसम्मत उपागम में यह आवश्यक होगा कि मौसम का व्यापक सर्वेक्षण किया जाए, जिसमें ऐसे कैमरों का उपयोग हो जो विस्तृत प्रेक्षण करने में सक्षम हों। साथ ही, इसमें सम्पूर्ण आकाश का यथासम्भव पुनःनिरीक्षण कार्यक्रम चलाया जाये। इससे अतिविस्तृत सूचनाएं प्राप्त होंगी, जो हमारी कार्यक्षमताओं को बढ़ा सकती हैं। वृद्धिवाद उन क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करेगा, जिनमें निकट अतीत में उसी प्रकार के प्रतिमान विकसित हुए थे और सम्भवतः समीपवर्ती क्षेत्रों में भी ध्यान केन्द्रित किया जाये। अतः यह उन सभी सूचनाओं को नकार देता, जो अनपेक्षित क्षेत्रों से प्राप्त होंगी और जिन पर ध्यान दिया जाना अनुचित होगा। मिश्रित वीक्षण कार्य नीति दो कैमरों का उपयोग करके दोनों उपागमों के तत्वों को सम्मिलित कर लेगा। चौड़े लेन्स वाला कैमरा जो आकाश के सभी भागों को समेट लेगा, किन्तु जिसमें सूक्ष्मता नहीं होगी और दूसरा कैमरा जो अधिक गहन जाँच करने के लिए पहले कैमरे से उद्-घाटित क्षेत्रों के निम्नतम बिन्दु में प्रवेश करेगा। जबकि मिश्रित वीक्षण से उन क्षेत्रों के छूट जाने की सम्भावना है, जिनके अन्तर्गत आने वाली परेशानी को केवल विस्तृत कैमरा ही उद्-घाटित कर सकता था। ऐसी सम्भावना कम है कि वृद्धिवाद अपरिचित क्षेत्रों में सुस्पष्ट परेशानी वाले बिन्दुओं को छोड़ दें।

सामाजिक समस्याओं के लिए एतजिओनी के प्रतिमान का प्रयोग विस्तुत सामाजिक सर्वेक्षण की दिशा में ले जायेगा, जिसमें रोजगार स्तरों के संकेत जैसी सामान्य सूचनाएं एकत्र की जाती हैं। यदि यह परेशानी वाला बिन्दु उद्-घाटित करता है तो अर्थव्यवस्था के परेशानी वाले क्षेत्रों के गहन विश्लेषण से ध्यान के केन्द्र-बिन्दु को हटा दिया जाना चाहिए। इस प्रकार विस्तृत अध्ययन किये गये क्षेत्रों के सम्बन्ध में बोधगम्य कार्यवाही से यह सम्भावना होगी कि नवीन प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिले, जबकि उसी समय इस बात की अव्यवहारिकता को मान लिया जायेगा कि सभी समुदायों की बोधगम्य समीक्षा और वृद्धिवाद के स्थायित्व एवं पूर्वानुमान का संरक्षण प्राप्त किया जायेगा।

6.4.1 सिमॉन के मॉडल

लोकनीति के अध्ययन के रूप में लोक प्रशासन की पुनर्परिभाषा को चुनौती देने वाले एक पहले आलोचक हर्बर्ट सिमॉन थे, जिन्होंने चेताया कि इसका क्षेत्र सरकारी समस्याओं जितना विस्तृत होगा और यह अन्ततः राजनीतिशास्त्र के साथ-साथ अन्य सम्भव समाजशास्त्रों को समाहित कर लेगा। अन्ततोगत्वा यह प्रयोज्य समाजशास्त्र बन जाएगा। उनकी चाहत थी कि विद्वान लोग लोक नीति पर कम और जिन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र निर्णय किए उनके व्यवहार तथा जिन प्रक्रियाओं द्वारा उन्होंने लोक नीति को परिभाषित किया उन पर अधिक

ध्यान केन्द्रित करें। प्रशासनिक सिद्धान्त को ''निर्णय और क्रिया की प्रक्रियाओं से सम्बद्ध होना चाहिए।'' प्रशासन का एक सामान्य सिद्धान्त ''ठीक उसी तरह संगठन के सिद्धान्तों को शामिल करेगा जो सही निर्णय सुनिश्चित करेंगे। इस तरह ऐसे सिद्धान्तों को शामिल करना चाहिए जो प्रभावी क्रिया सुनिश्चित करेंगे।'' निर्णय प्रशासन का सार-तत्व है, यह समस्त प्रशासनिक प्रक्रिया में उतना ही व्याप्त है जितना काम कराने की कला में।

'प्रशासनिक व्यवहार' नामक पुस्तक में सिमॉन ने लिखा कि संगठन के प्रत्येक स्तर पर निर्णय लिए जाते हैं। उनमें परिवर्तनीय अंश में तथ्यपरक (प्रशासनिक, साधनों के सम्बन्ध में) तथा मूल्यगत (नीति, उद्देश्यों के सम्बन्ध में) निर्णय होते हैं। विभेदीकरण कठिन है, क्योंकि अधिकांश मूल्य निर्धारणों में तथ्यपरक सवाल होते हैं। इसके अलावा, यह सुनिश्चित करने के लिए अनुशास्ति आवश्यक है कि तथ्यपरक सवालों का निर्णय करने वाले विशेषज्ञ लोकतांत्रिक रूप से सूत्रित मूल्य निर्धारणों का अनुसरण करें। उन्होंने प्रस्तावित किया कि आदर्शतः तथ्यपरक और नैतिक तत्व, जहाँ तक सम्भव हो, पृथक किए जाएं तथा राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के बीच उनके आपेक्षिक महत्व तथा नैतिक मसलों के विवादास्पद होने की हद के अनुसार आवंटित किए जाएं। जहाँ तक निर्णयों के कारण अंतिम (संगठनात्मक) लक्ष्यों का चयन होता है वहाँ तक वे ''मूल्य निर्धारण'' होते हैं एवं जहाँ वे ऐसे लक्ष्यों को लागू करते हैं वहाँ वे ''तथ्यपरक निर्धारण'' होते हैं। जहाँ प्रतिनिधियों के तथ्यपरक निर्णय (अर्ध-वैज्ञानिक, अर्ध-न्यायिक, अर्ध-व्यापारिक) करते हैं, वहाँ उन्हें उपयुक्त सूचना एवं सलाह दी जानी चाहिए। जहाँ प्रशासक मूल्य-निर्णय (सामाजिक नीति, राजनीति) करते हैं, वहाँ उन्हें समुदाय के मूल्यों के प्रति अनुक्रियाशील एवं अपने निर्णयों के लिए उत्तर दायी होना चाहिए। व्यवहार में, प्रतिनिधि अक्सर प्रशासकों से उनके लिए उच्च नीतिगत विषय-वस्तु वाले निर्णय लेने का निवेदन करते हैं। प्रशासक उच्च राजनीतिक विषय-वस्तु वाले सवालों के निर्णय में अपने मूल्यों का अनुपालन करते हैं। संक्षेप में, तथ्य और मूल्य संस्थायी तौर पर पृथक नहीं किए जा सकते और व्यक्ति विशेष तथ्यपरक मूल्यगत अवयवों को निर्णय में पूर्णतः पृथक नहीं कर सकते।

सिमॉन का प्रस्थान बिन्दु था सही निर्णयों के साथ-साथ कार्य करने के सही तरीकों पर उसके द्वारा दिया गया बल, एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कुशल निर्णय साधनों में यांत्रिक कुशलता की निर्मम खोज नहीं अपितु विकल्पों का वह चयन है जो प्रदत्त संसाधनों के प्रयोग के लिए सर्वोत्तम परिणाम दे सके। यह वांछित लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने में प्रयुक्त साधनों के बीच का सम्बन्ध है। इसका आदर्श अप्राप्य पूर्ण विवेकशीलता है, जिसके जरिए सभी उद्देश्य प्राथमिकता के अनुसार परिभाषित और सज्जित होंगे। सभी सम्भव वैकल्पिक रणनीतियां अपने परिणामों के साथ एक साथ सूचीबद्ध होंगी और उन राजनीतियों और उनके परिणामों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जाएगा, जिससे कि प्रयुक्त संसाधनों से अधिकतम परिणाम प्राप्त हों। तथापि व्यवहार में पूर्ण सूचना अप्राप्य है, मनुष्य पूर्णतया तर्कपरक व्यक्ति नहीं है और लोकनीति में उद्देश्य और परिणाम दोनों ही परिमाणात्मक मापन अथवा यहाँ तक कि लगभग सटीक मूल्यांकन के उपयुक्त नहीं हैं। वस्तुनिष्ठ तर्कपरकता के अतिरिक्त व्यक्तिनिष्ठ, व्यक्तिगत तर्कपरकता भी होती है। अनुभवजन्य अध्ययन उद्-घाटित करेंगे कि कैसे लोग वास्तव में निर्णय करते हैं और उन्हें सर्वाधिक प्रभावित क्या करता है? किन्तु सिमॉन का विश्वास था कि उनके प्रारम्भिक शोध ने कुशल निर्णय के मापन और मूल्यांकन की सम्भावना एवं प्रशासनिक चयन को परिभाषित करने, नापने और मापने की आवश्यकता को उजागर किया है।

डी0 डब्ल्यू0 स्मिथवर्ग एवं वी0 ए0 थॉम्पसन के सहयोग से सिमॉन ने लोक प्रशासन में प्रथम व्यवहारवादी पाठ्य पुस्तक लिखी, जिसका उद्देश्य यह बताना था कि कैसे अमरीकी लोक प्रशासन, प्रशासन की प्रक्रियाओं के यथार्थवादी, व्यवहारपरक विवरण के माध्यम से कार्य करता है? इसने लोक प्रशासन में समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की संकल्पनाओं को समाविष्ट करते हुए लोक प्रशासन के अनौपचारिक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया। यद्यपि यह खास तौर से निर्णय उपागम के इर्द-गिर्द नहीं बनाया गया था, किन्तु इसने ''प्रशासनिक व्यवहार'' पुस्तक के अधिकांश तर्कों को दोहराया और इस धारणा को काफी बढ़-चढ़कर चुनौती दी कि लोक प्रशासन का

आदर्श यांत्रिक कुशलता की खोज के लिए तर्कपरकता है। किन्तु जब इस सम्बन्ध में अधिक अनुभवजन्य प्रमाण मिलने लगे कि वस्तुतः कैसे निर्णय अधिकधिक एकत्र होने लगे तो सिमॉन ने महत्तम तर्कपरक चयन की धारणा को सर्वथा छोड़ ही दिया और सीमित तर्कपरकता एवं निर्णय के संतोषजनक मॉडल को अपनाया। अर्थात् जो अच्छा या संतोषजनक है उसे लोग स्वीकार कर लेते हैं और सभी सम्भव विकल्पों की तलाश नहीं करते। उनकी अपेक्षाएं उनकी तलाश को सीमित करती हैं और वे सर्वाधिक संतोषजनक लगने वाले विकल्प को अपना लेते हैं। ''मनुष्य के मॉडल'' (न्यूयार्क:विली, 1957) नामक पुस्तक में उन्होंने सीमित तर्कपरकता के अन्तर्गत कार्यक्रम औचित्य के गणितीय मॉडल का पूर्वानुमान किया यदि समय-सीमा, मूल्य-तंत्र एवं तथ्यपरक उपलब्ध विकल्प एक बार ज्ञात हो जाए तो। इन आधार भूत विचारों का और भी विकास सिमॉन ने 1960 में दिए एवं ''प्रबन्ध न निर्णय का नूतन विज्ञान'' न्यूयार्क: हार्पर एवं रो, 1960 में प्रकाशित व्याख्यानों में किया। निर्णय प्रक्रिया को आसूचना (निर्णय हेतु आवश्यक स्थितियों के लिए परिवेश की खोज), रूपरेखा (सभी सम्भव क्रियाविधियों का पता लगाना, विकास करना तथा विश्लेषण करना) एवं चयन (एक क्रियाविधि का चयन) में विभक्त कर दिया गया, इसमें कार्यान्वयन और अधिक विस्तृत नीति निर्माण के बीच कोई भेद नहीं है। प्रत्येक की दक्षताएं सीखने और प्रशिक्षण के योग्य होती हैं, बशर्ते कि व्यक्तिगत और संगठनात्मक निर्णय में भेद किए जाऐ। निर्धारित निर्णय जो कि पुनर्रावृत्ति और नैत्यक होते हैं और जिनके लिए एक निश्चित दिनचर्या बनाई गई, ताकि वे हर समय नऐ ना समझे जाऐं तथा अनिर्धारित निर्णय जो नए, असंरचित एवं परिणामी थे, जिनके लिए समस्याओं के समाधान की कोई नपी-तुली विधि नहीं है, क्योंकि ये पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई हैं। क्योंकि इसकी सही-सही स्वरूप और संरचना भ्रामक और जटिल है और यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसे परम्परा-निर्मित दृष्टिकोण से देखना चाहिए। इन दोनों निर्णयों के बीच विद्यमान सातत्यक के सहारे निर्णय होते हैं।

सिमॉन ने 1960 तक निर्णय के तीन प्रमुख मॉडलों की पहचान कर ली थी, यथा (क) मूल प्रवृत्ति, निर्णय, अंतःप्रज्ञा एवं अन्य तर्कपरेकतर कारकों पर आधारित अनिर्धारित निर्णय, (ख) विशुद्ध-तर्कपरकता महत्तम निर्णय, एवं (ग) संतोषजनक निर्णय। सिमॉन ने 1960 के दशक के निर्णय का पेचीदा मॉडल भी प्रस्तुत किया, समस्या समाधानकर्ता विभिन्न मार्गों पर चलते हैं, उनमें से कुछ सटीक समाधान दे देते हैं, जबकि अन्य फिर नए मार्ग सुझाते हैं।

6.5 सरकारी नीति निर्माता

सरकारी नीति निर्माता वे लोग हैं, जिन्हें जन नीति सूत्रबद्ध करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त है। यह बात उन लोगों की सम्भावना का पूर्वाभास नहीं देती जो अन्य लोगों द्वारा नियंत्रित होते हैं, तथा राजनीतिक दल के प्रधान अथवा दबाव समूह इनमें विधायकों, कार्यपालकों, प्रशासकों और न्यायाधीशों को शामिल किया जाता है।

1. **विधायिका-** औपचारिक रूप से विधानमण्डल नियम बनाने का कार्य करते हैं। आवश्यक रूप में इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके पास स्वाधीन निर्णय करने की शक्तियां होती हैं या वे वास्तव में सरकारी नीति का निर्णण करते हैं। प्रायः यह कहा जाता है। कि ब्रिटिश और भारतीय संसदें केवल उन नियमों को अपनी सहमति प्रदान करती हैं, जिनका उद्-भव राजनीतिक दलों और दबाव समूहों द्वारा होता है, जिनकी रचना अधिकारी तंत्र द्वारा की जाती है और जिनको विधानमण्डल में समुचित बहुमत रखने वाली सरकार यह जानती है कि वह अपने द्वारा चयन किये गये किसी उपाय को संसद द्वारा पारित करा लेंगी। विधि निर्माण का अनुमोदन प्रदान करने के दौरान संसद जनता के लिए सरकारी नीतियां और उनके परिणामों पर विचार-विमर्श करने, छानबीन करने, आलोचना करने और उनका प्रचार करने जैसे अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करती है। फिर भी शक्ति के पृथक्करण की अमरीकी पद्धति में विधानमण्डल अक्सर नियम निर्माण के मामले में स्वाधीन और अन्तिम निर्णय लेते हैं। संयुक्त राज्य की कांग्रेस में स्थायी समिति का प्रस्तावित

विधि निर्माण पर चरम प्राधिकार प्राप्त है और वह सदन के सदस्यों के बहुमत के विरोध में भी अपना कार्य कर सकती है। कराधान, नागरिक अधिकारी, कल्याण और श्रम सम्बन्धी मामलों पर नीतियों के प्रमुख भाग का निर्माण कांग्रेस द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत, विदेश और रक्षा नीति के मामलों में कांग्रेस को अधिकाधिक रूप में राष्ट्रपति की पहलों द्वारा दिशा-निर्देश प्राप्त होता है। विधायक मत देते समय व्यक्तिगत रूझान या सैद्धान्तिक अभिविन्याय की अपेक्षा अपने दलीय सम्बन्ध द्वारा अधिक नियंत्रित होते हैं। कुछ विशिष्ट मामलों में उनका निर्णय अपने निर्वाचन क्षेत्र की अपेक्षाओं से भी नियंत्रित हो सकता है। संसदीय प्रजातंत्रों में मतदान दलीय आधार पर होता है। इसकी तुलना में, रूसी और चीनी राष्ट्रीय विधानमण्डल प्रायः कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर उच्च अधिकारियों द्वारा दिये गये निर्णयों का केवल अनुमोदन या पुष्टि करते हैं। अतः स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तानाशाही देशों की अपेक्षा प्रजातांत्रिक देशों में लिये जाने वाले नीति निर्णय में विधानमण्डल अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और प्रजातांत्रिक पद्धति में विधानमण्डलों को नीति निर्माण में संसदीय पद्धति (भारत) की अपेक्षा अध्यक्षीय पद्धति (संयुक्त राज्य अमेरिका) में अधिक स्वाधीनता प्राप्त होती है।

नीति प्रस्तावों में यदि वजन पैदा करना हो तो इसके लिए संसद या कांग्रेस में निहित अधिकार को विकेन्द्रित करना होगा। चर्चा के लिए इन्हें योग्य बनाने के लिए प्रस्तावों से संबद्ध मुद्दों के बारे में विशेषज्ञता को विकसित करने की आवश्यकता होती है। तथापि चुने हुए सदस्य मुश्किल से सभी चीजों के विशेषज्ञ होते हैं फिर भी अनेक समितियों के लिए संसदीय अधिकार का विकेन्द्रीकरण किया जाता है। ये समितियां प्रत्येक सदस्य को कुछ नीति क्षेत्रों में विशेषता के लिए अनुमोदित करती है। विधानमण्डल समिति का विचार वास्तव में ब्रिटिश संसद से आया किन्तु इग्लैण्ड में समितियां कैबिनेट सरकार के उदय के साथ ही क्षीण हो जाती हैं। संसदीय समितियां एक बार प्रस्तावों के अधिक विशेषज्ञों को अनुमोदित करने के लिए बनायी गयीं, जिससे यह आशा की जाती है कि संसद समिति के निर्णयों के प्रति भिन्नता के उचित स्तर को प्रदर्शित करती है। इस प्रकार समितियां सरकार के संसदीय एवं अध्यक्षीय दोनों अवस्थाओं में विधि निर्माण के भाग्य के निर्धारण में निर्णायक होती है।

अंततः संसदीय प्रणालियों में संसदीय समय पर दबाव, विधायनों की तकनीकी गुणवत्ता एवं उचित प्रशासनिक मशीनरी विकसित करने के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता के कारण मूल विधानों द्वारा मंत्रियों को दी शक्तियों के तहत काफी विधायन बनाये जाते हैं। तथापि, अधिकांश देशों में ऐसे सार्वजनिक उपकरण प्रदत्त विधायन का एक छोटा हिस्सा ही संसदीय संवीक्षा के अधीन आता है।

2. **कार्यपालिका-** जिसे कार्यपालिका केन्द्रित युग कहा गया है, उसके अनुसार सभी जगह आधुनिक सरकारें नीति निर्माण एवं उसके कार्यान्वयन में अधिकाधिक रूप में कार्यकारी नेतृत्व पर निर्भर करती हैं। संसदीय पद्धति वाले देशों में सभी नीतियों को मंत्रिमण्डल का अनुमोदन प्राप्त करना पड़ता है और संसद में सभी महत्वपूर्ण नियम सरकार के मंत्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कानूनों को लागू करने के लिए राष्ट्रपति के अधिकारों को मान्यता प्राप्त है। समिति पद्धति के परिणामस्वरूप कांग्रेस के विभाजन और सशक्त दलीय नेतृत्व की कमी के कारण वह संस्था स्थिर एवं सुसम्बद्ध विधायी कार्यक्रमों का विकास करने में अक्षम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप, धीरे-धीरे कांग्रेस राष्ट्रपति से यह अपेक्षा करने लगती है कि वह विधि निर्माण के लिए प्रस्ताव रखने में पहल करे। इसका यह आशय नहीं कि कांग्रेस राष्ट्रपति के आदेश पर कार्य करती है या उसके प्रस्तावों का केवल अनुमोदन ही करती है। राष्ट्रपति के प्रस्तावों को अधिनियम बनाने से पहले रद्द या पर्याप्त रूप में संशोधित कर दिया जाता है। घरेलू नीति की अपेक्षा विदेश या रक्षा नीतियों के क्षेत्र में राष्ट्रपति को बड़ी संवैधानिक शक्ति एवं

संक्रियात्मक स्वतंत्रता प्राप्त है। संयुक्त राज्य की विदेश नीति अधिकाधिक रूप में राष्ट्रपति के नेतृत्व और उसकी कार्य पद्धति का परिणाम होती है।

विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में सम्भवतः कार्यपालिका का नीति निर्माण में अधिक हाथ रहता है। इसका यह कारण है कि इन देशों में प्रायः मजबूत अधिकारी तंत्रीय आधार नहीं होता है और कार्यपालिका नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, क्यों कि सरकार के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण अधिक होता है और विधानमण्डल के प्रति उसकी जवाबदेही कम होती है। ऐसे देशों में दबाव समूहों में परिष्कार और समन्वय की कमी के कारण नीति निर्माण में उनका प्रभाव कम हेाता है। फिर भी कार्यपालिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वह संविधान वैधानिक उपबन्धों और न्यायालय के निर्णयों के अनुरूप कार्य करे। विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय प्रायः अन्य देशों द्वारा उनकी स्वीकार्यता पर निर्भर करते हैं, जबकि आन्तरिक मामलों में नीति निर्णय विधानमण्डलों, प्रशासकों और जनता की स्वीकार्यता पर निर्भर कर सकते हैं।

3. **प्रशासनिक एजेन्सियां-** विश्व भर की प्रशासनिक पद्धतियां आकार एवं जटिलता, सोपान की संगठन और स्वयत्तता की मात्रा के हिसाब से विभिन्न प्रकार की है। यद्यपि पहले इस राजनीतिक विज्ञान का स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता था कि प्रशासक सरकार के अंगों द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने वाले होते हैं, लेकिन अब इस स्वीकृति की भ्रामकता अधिकाधिक रूप में सामने आने लगी है। अब यह आम समझ की बात बन गयी है कि राजनीति और प्रशासन घुल मिल गये हैं और प्रशासन अनेक तरीकों से नीति निर्माण प्रक्रिया में संलग्न है।

   विशेषतः जटिल औद्योगिक समाजों में नीति विषयक बहुत से मामलों में प्राविधिकता एवं जटिलता, लागातार नियंत्रण की आवश्यकता और विधायकों के पास समय तथा सूचना की कमी के कारण प्रशासनिक एजेन्सियों को, जिन्हें औपचारिक रूप में नियम निर्माण करने वाला समझा जाता था, अब पर्याप्त विवेकाधिकारी प्राप्त हो गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी अध्यक्षीय तथा ब्रिटेन जैसी संसदीय सरकारों में ये एजेन्सियां विधि निर्माण के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्तावों का प्रमुख स्रोत हैं। सरकारी कर्मचारी तीन प्रमुख तरीकों से नीति-निर्माण से सम्बद्ध होते हैं। पहले, नीति की व्यवहारिकता के सम्बन्ध में उन्हें मंत्रियों के तथ्य, आंकड़े और आलोचना सामग्री की आपूर्ति करनी पड़ती है और यदि नीति निर्माण के लिए विधायकों द्वारा पहल होती है तो विधायकों को यह कार्य करना पड़ता है। संसद सदस्य या मंत्री गैर-पेशेवरों का परिवर्तनशील निकाय होता है। जिनमें राजनीतिक निपुणता या जनप्रियता तो हो सकती है, लेकिन उनमें विद्वता या अनुभव की कमी होती है। इसलिये उन्हें कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है तथा उनके सुझावों को समुचित महत्व देना पड़ता है। दूसरे, नीति अधिनियम के लिए अक्सर प्रशासन द्वारा पहल की जाती है। इसका यह कारण है कि प्रशासक ही सतत रूप में जनसाधारण के सम्पर्क में रहते हैं और इसलिए वे नीति के कार्यान्वयन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भलीभाँति समझने की स्थिति में होते हैं। अधिकारी तंत्र द्वारा उन कठिनाइयों को भी दूर करने या वर्तमान नियम में संशोधन करने के सुझाव एवं प्रस्ताव अक्सर प्रस्तुत किये जाते हैं। तीसरे, समय और ज्ञान के अभाव के कारण विधानमण्डल आधारभूत अंश में ही अधिनियमों को पारित करते हैं और उनको विस्तृत रूप प्रदान करने का काम प्रशासन पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार नीति निर्माण का अधिकतम क्षेत्र प्राप्त हो जाता है। इन अधिनियमों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से प्रशासन नियमावली, विनियम और उप-विधि बनाता है, जो नीति निर्माण में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

4. **प्रशासनिक भूमिका-** भारतीय संविधान में नीति चुनाव में सुझाव देने का संवैधानिक उत्तर दायित्व उच्च लोक सेवकों पर होता है। उदाहरणार्थ भारत सरकार के सचिव स्वयं या मंत्रियों को ऐसे निर्णय लेने

का सुझाव देता है जो नियम अथवा नीति निर्धारण को बनाने में लेने पड़ते हैं अन्यथा जो दैनिक क्रियाविधि में व्यवहारित नहीं किये जा सकते हैं। ऐसे निर्णय नीति के क्षेत्र को स्पष्ट करते हैं तथा इसको नयी और विशेष स्थितियों में अन्तिम रूप में लागू करते हैं। फिर भी वे व्यापक स्तर पर प्रचलित नीतियों के संचालन पर मंत्रालयी उपयोग के लिए व्याख्यात्मक सामग्री से सम्बद्ध रहते हैं। वे विभिन्न नीति उपागमों की प्रशासनिक जटिलताओं एवं वित्तीय मामलों पर सलाह भी देते हैं। इस प्रकार उच्च लोक सेवक मूल रूप से भारत सरकार तथा राज्य सरकार के सचिव लोक नीति प्रतिपादन विधि में अपेक्षाकृत अधिक सलाहकार भूमिका अदा करते हैं।

उच्च लोक सेवकों को अपने उस ज्ञान पर लगभग एकाधिकार प्राप्त होता है जो वे अपनी शैक्षिक योग्यता एवं लोक नीतियों के संचालन के अनुभव से प्राप्त करते हैं। उनके विशाल अनुभव एवं ज्ञान उन्हें नीति प्रस्तावों की वित्तीय एवं प्रशासनिक कठिनाइयों, प्रभावित गुटों की सम्भावित प्रतिक्रियाओं तथा नीतिगत समस्याओं से निपटने की नई विधियों के बारे में अधिक प्रभावी स्थितियों से तर्क प्रस्तुत करने में समर्थ बनाते हैं। यह तथ्य कि वे नीति निर्णयों के लिए आंकड़े एकत्र करते हैं, सम्बद्ध समस्या का विश्लेषण करते हैं एवं नीतिगत विकल्पों का चयन करते हैं और नीति निर्माण पर प्रभाव डालते हैं। नीतियों के सम्बन्ध में कुछ नए प्रस्ताव उदित होते हैं, जब वे उन समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करते हैं, जिनके लिए कोई संतोषप्रद समाधान नहीं मिला हो। अनेक नई नीतियों के ब्यौरे प्रशासनिक और राजनीतिक रूप में व्यवहार्य विषयों द्वारा अनुकूलित होते हैं।

5. **न्यायालय-** जिन देशों में न्यायालय में न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्राप्त होती है, वे (जैसा संयुक्त राज्य अमेरिका में है) नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। न्यायालयों के सम्मुख जो मामले लाये जाते हैं। उनके सम्बन्ध में न्यायिक समीक्षा और वैधानिक अर्थ निरूपण की शक्ति के प्रयोग के जरिए न्यायालयों ने जनजाति की स्वरूप एवं विषय-वस्तु को प्रायः अत्यधिक प्रभावित किया है।

तथापि किसी राजनीतिक पद्धति में न्यायपालिका अप्रत्यक्ष रूप से नीति निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी निभाती है। न्यायालय वे उपागम हैं, जो उन विधायी प्रावधानों का अर्थ और निर्वाचन करने के लिए हैं, जो प्रायः सामान्यतया कथित और व्याख्याओं में विवाद को अनुमति प्रदान करती है। काई न्यायाधीश दो या अधिक विधायी कार्यों की व्याख्याओं और कार्यान्वयन, प्रशासकीय आदेश अथवा उनमें से चुने गये संवैधानिक प्रावधान के बीच आमने-सामने चुनाव करता है, क्योंकि निर्णय दिया जाना अथवा विवादों को समाप्त कया जाना आवश्यक होता है। न्यायाधीश ऐसा तब करता है जब विशिष्टवादी के लिए उसकी व्याख्या नीति बन जाती हो। जब कोई न्यायालय किसी व्याख्या को स्वीकार करता है अथवा कोई निर्णय अन्य न्यायालयों द्वारा स्वीकृत होता है तो इसका तात्पर्य है कि न्यायालय ने इन सभी अधिकार क्षेत्रों के लिए एक नीति बनायी है, जिनमें वह विचार प्रभावी होता है।

प्रजातांत्रिक प्रणाली में न्यायपालिका सामाजिक और आर्थिक नीतियों के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अधिकांश नियमों से सम्बद्ध नियम की सुरक्षा, सम्पति स्वामित्व, निगमों, कर्मचारी मालिक सम्बन्ध तथा समाज में महिलाओं की समान दशा जैसे मामले न्यायालय द्वारा विकसित तथा आम नियमों के रूप में लागू किये गये हैं। भारत में सर्वोच्च न्यायालय का तथा उच्च न्यायालय का महत्व बढ़ रहा है। भारतीय न्यायालय की कुछ क्षेत्रों के लिए निर्दिष्ट विशिष्ट नीतियों तथा विद्यालय, श्रमदशाओं अथवा कल्याण सहायताओं से सम्बद्धता अधिकाधिक बढ़ रही है।

बुनियादी तौर से न्यायकि समीक्षा, विधायी एवं कार्यकारी शाखाओं की कार्यवाहियों की संवैधानिकता का निर्माण करने और यदि इस प्रकार की कार्यवाहियां संवैधानिक उपबन्धों के विपरीत हों तो उन्हें रद्द और शून्य घोषित करने की शक्ति न्यायालय के पास है। न्यायपालिका ने संयुक्त राज्य अमेरिका में

आर्थिक नीति के निर्माण में प्रमुख भूमिका अदा की है। सम्पत्ति पर स्वामित्व, अनुबन्ध, निगम और मालिक-कर्मचारी सम्बन्ध जैसे मामले के बहुत से कानून, न्यायालयों के पास सामान्य नियम और साम्य रूप में विकसित एवं प्रयुक्त किये गये हैं। इनका उद्-गम इंग्लैण्ड में हुआ था, लेकिन अमरीकी न्यायाधीशों द्वारा अमरीकी जरूरतों एवं दशाओं में इनका अनुकूलन कर लिया गया। विगत काल में संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायिक सक्रियवाद मुख्यतया आर्थिक विनिमयन और नियम प्रवर्तन के क्षेत्र तक ही सीमित था। लेकिन गत दो दशकों से न्यायालयों ने सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाकलाप के बहुत से नये क्षेत्रों में भी प्रवेश करने का साहस किया है। विधायी विभाजन, कल्याण प्राप्त करने वाले अधिकार, पब्लिक स्कूल, कारागार एवं अस्पताल जैसे जिन संस्थाओं की अवस्थिति इस प्रकार के प्रमुख उदाहरण हैं। ना केवल सरकारी कार्यवाही सम्बन्धी सीमाओं का विशेष उल्लेख करके बल्कि यह भी कह कर कि विधिक या संवैधानिक दायित्व को पूरा करने के लिए उसे क्या करना चाहिए? न्यायालय सकारात्मक भूमिका निभा रहे हैं। लोगों के जीवन में सरकारी हस्तक्षेप के क्षेत्र के वृद्धि, बहुत सी समस्यओं को हल करने में विधायी एवं कार्यकारी अंगों की विफलता, न्यायालयों की अधिक सकारात्मक भूमिका निभाने की इच्छा, ये सभी मिलकर सम्भवतः भविष्य में भी नीति निर्माण में न्यायिक सहभागिता के इस विस्तार को बनाये रखने की गारंटी देते हैं।

भारत में भी न्यायालयों ने अपनी न्यायिक समीक्षा के अधिकारी के द्वारा नीति निर्माण प्रक्रिया को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। फिर भी, भारत में उन पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि वे संविधान की व्याख्या में रूढ़िवादी भूमिका निभाते हैं, जिससे विधायिका एवं न्यायपालिका में पर्याप्त खींचतान होती रहती है। मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धान्तों के बीच और विधायिका की संविधान संशोधन की शक्ति की व्याख्या से सम्बन्धित विषय द्वन्द के प्रमुख क्षेत्र रहे हैं। न्यायालयों का अधिमत प्रायः सरकार के प्रगतिशील नियमों के विरूद्ध रहा है। न्यायिक बांधा को पार करने के लिए सरकार ने अक्सर संवैधानिक संशोधन का मार्ग अपनाया है।

6. **गैर-सरकारी सहभागी-** सरकारी नीति निर्माताओं के अतिरिक्त दबाव समूह, राजनीतिक दल और नागरिक जैसे अनेक अन्य लोग भी नीति निर्माण प्रक्रिया में भाग ले सकते हैं। अनिवार्य नीतिगत निर्णय करने के कानूनी प्राधिकार के बिना ये लोग नीति निर्माण को पर्याप्त रूप से प्रभावित कर सकते हैं।
7. **दबाव समूह-** अधिकांश देशों में दबाव समूह गुट नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विभिन्न देशों में समूहों की शक्ति और वैधता विभिन्न प्रकार की होती है, जो इस बात पर निर्भर करती है कि देश प्रजातांत्रिक है या तानाशाही, विकसित है या विकासशील। सोवियत रूस या चीन की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका या ब्रिटेन में दबाव समूह अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इन समूहों का प्रमुख कार्य मांगें रखना या नीति कार्यान्वयन के लिए विकल्प प्रस्तुत करना है। वे सरकारी नियम निर्माताओं को किसी विशिष्ट प्रश्न के पक्ष या विरोध में अत्यधिक तकनीकी सूचना प्रदान कर सकते हैं और किसी नीति प्रस्ताव के सम्भावित परिणामों की जानकारी दे सकते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अमरीकी समाज में बहु-सामुदायिक स्वरूप के कारण वहाँ संख्या, स्वत्व, आकार, संगठन और कार्यान्वयन शैली की दृष्टि से दबाव समूहों की काफी बड़ी संख्या व उनके विविध प्रकार हैं। दबाव समूहों की मूल चिन्ता किन्हीं विशिष्ट मामलों में नीति को प्रभावित करने की होती है। किसी विशेष नीतिगत प्रश्न पर अक्सर बहुत से समूह परस्पर विरोधी कार्य करते हैं, जिससे नीति निर्माताओं को विरोधी मांगों के बीच चयन करने की समस्या का सामना करना पड़ता है। सुसंगठित और सक्रिय समूहों का प्रभाव असंगठित और मूक सदस्यता वाले समूहों की अपेक्षा अधिक पड़ता है। संख्यात्मक शक्ति, आर्थिक या अन्य संसाधन,

संशक्तिशीलता, नेतृत्व कुशलता, सामाजिक हैसियत और विशिष्ट नीतिगत प्रश्नों पर नीति निर्माताओं की अभिवृत्तियां आदि कारक भी प्रभावित करते हैं।

8. **राजनीतिक दल-** आधुनिक समाजों में सामान्यतया राजनीतिक दल हित समूहीकरण का कार्य करते हैं अर्थात् वे हितों की विशिष्ट मांगों को सामान्य नीति विकल्पों में रूपान्तरित करने का प्रयत्न करते हैं। जिस तरीके से दल हितों को संकलित करते हैं यह दलों की संख्या से प्रभावित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन जैसे देशों में जहाँ प्रमुख रूप में द्वि-दलीय प्रणालियां हैं वहाँ दोनों दलों का विस्तृत निर्वाचन समर्थन प्राप्त करने की इच्छा, अपने-अपने नीति प्रस्तावों में जनप्रिय मांगों को शामिल करने के लिए प्रेरित करेंगी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक समूहों से विमुख होने से बचने का प्रयत्न करेगी। दूसरी ओर बहु-दलीय प्रणाली में दल कम से कम सामूहीकरण का प्रयत्न करेंगे, जैसा फ्रान्स में दिखाई पड़ता है वे हितों के काफी संकीर्ण समुच्चयों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। भारत में बहुदलीय प्रणाली है, जिसमें आधा दर्जन राष्ट्रीय दल और उससे दुगनी संख्या में क्षेत्रीय दल हैं। अधिकांश दलों के चुनाव घोषणा-पत्र ऐसे हैं, जो विषय-वस्तु की अपेक्षा विशेष बातों में बल देने के आधार पर ही विभिन्नता दर्शाते हैं, क्योंकि उनकी सर्वमान्य इच्छा यह भी होती है कि वे अपने निर्वाचन आधार को यथा सम्भव बनायें। फिर भी क्षेत्रीय दल अपने उपागम में अधिक सम्प्रदायवादी होते हैं, क्योंकि वे जनसंख्या के विशेष क्षेत्रीय भाग को ही प्रमुख रूप से फुसलाने की इच्छा से प्रेरित होते हैं। सोवियत रूस और एक दलीय प्रणालियों में वे जन नीति के प्रमुख सरकारी निर्माता होते हैं। फिर भी सामान्यतया स्वत्व समूहों की अपेक्षा राजनीतिक दलों की नीतिगत चिन्ताओं का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। इसलिए वे नीति निर्माण में विशिष्ट स्वत्व के अधिवक्ता के बजाए एजेन्टों के रूप में कार्य करते हैं।

   संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में जिस राजनीतिक दल का बहुमत होता है, वह सरकार बनाता है और वह प्रमुख सरकारी नीति निर्माता होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अधिकांश सरकारें, जिस घोषणा पत्र के आधार पर चुनी जाती हैं, उसी के अनुसार अपनी नीति बनाती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की अध्यक्षीय प्रणाली में विधानमण्डल के सदस्य प्रायः अपनी दलीय नीति के अनुसार मतदान करते हैं। वहाँ जिस दल का कांग्रेस पर नियंत्रण होता है, उसके पास ही महत्वपूर्ण नीतिक निहितार्थ होते हैं।

9. **नागरिक-** चूँकि प्रजातंत्र सरकारें प्रतिनिधि सरकारें होती हैं, अतः अक्सर यह कहा जाता है कि नागरिक समस्त नीति निर्माण प्रक्रिया में अप्रत्यक्ष रूप से शामिल होते हैं। अमूर्त रूप से यह सच है, किन्तु ठोस रूप से यह सूत्र अर्थहीन है। यहाँ तक कि प्रजातांत्रिक देशों में भी नीति निर्माण में नागरिक सहभागिता बहुत कम होती है। बहुत से लोग ना तो अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं और ना राज्य की राजनीतिक में रूचि लेते हैं। ना तो वे दबाव समूहों में होते हैं और ना ही जनकार्यों में रूचि दर्शाते हैं, यहाँ तक कि मतदान करते समय मतदाता नीतिगत विचारों से अपेक्षाकृत कम प्रभावित होते हैं। फिर भी, अधिसंख्य नागरिकों की इस प्रकार की राजनीति अभिवृद्धि के बावजूद कुछ नागरिक निर्णय लेने की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से अवश्य भाग लेते हैं। कुछ अमरीकी राज्यों (यथा-कैलीफोर्निया) में और कुछ देशों (यथा-स्विटजरलैण्ड) में नागरिक विधि निर्माण या संविधान संशोधन में प्रत्यक्ष रूप में मतदान कर सकते हैं और करते हैं जो अनुमोदन के लिए मतदाताओं के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रजातंत्रीय देशों में जनमत या जनप्रिय आकांक्षाओं की थाह लेने के लिए चुनाव प्रमुख साधन होते हैं। जैसा चार्ल्स लिंडब्लाम ने अपना तर्क सारांश प्रस्तुत किया है, ''अधिनायकवादी और प्रजातांत्रिक शासनों में सर्वाधिक सुस्पष्ट अन्तर यह है कि प्रजातांत्रिक देशों में सर्वोच्च नीति निर्माताओं का चयन प्रमाणिक निर्वाचन के द्वारा किया जाता है।'' कुछ राजनीतिक वैज्ञानिक यह अनुमान लगाते हैं कि प्रमाणिक निर्वाचन में मतदान ही नीति पर नागरिक प्रभाव की महत्वपूर्ण पद्धति हो सकता है। इसका कारण केवल

यह नहीं है कि इससे नागरिकों को अपने कर्मचारियों का चयन करने और कुछ सीमा तक नीति के सम्बन्ध में इनको हिदायत देने की अनुमति मिल जाती है, बल्कि यह भी कारण होता है कि प्रमाणिक निर्वाचन के नागरिक सहभागिता पर अनुमोदन की मुहर लग जाती है। इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन नीति निर्माताओं को इस नियम से अवगत करा देता है कि नीति निर्माण में नागरिकों की आकांक्षाएं महत्वपूर्ण होती हैं।

फिर भी यह सच है कि कोई भी सरकार, चाहे वह जितनी भी तानाशाह हो, जनता की इच्छाओं, आकांक्षाओं, रीति-रिवाजों या परम्पराओं के विरूद्ध नहीं जा सकती। यहाँ तक कि तानाशाह भी शासन के विरूद्ध अशांति या असन्तोष दूर करने के लिए बहुत से जनप्रिय उपाय करते हैं। सोवियत संघ जैसी एक दलीय व्यवस्थाएं भी नीति निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से आधिकाधिक नागरिकों को सहभागिता से दूर रखते हुए भी अनेक नागरिक आवश्यकओं की पूर्ति में दिलचस्पी लेते दिखाई पड़ती हैं।

6.6 भारत में नीति निर्माण

भारत में नीति निर्धारण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निम्नांकित विभिन्न संगठन भाग लेते हैं- विधानमण्डल, कार्यकारिणी, न्यायपालिका, प्रशासन, राजनीतिक दल, दबाव समूह और जनमत। नीति निर्माण का कार्य बहुधा एक सरकारी प्रयत्न के रूप में किया जाता है, जिसमें बहुत से लोग और एजेन्सियां भाग लेती हैं।

भारतीय संविधान के प्रावधानों के लिए लोक नीति को पूर्व में वर्णित मौलिक अधिकारों, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों तथा राज्य नीति की धाराओं आदि के लिए सुनिश्चित होना चाहिए। संविधान की धाराएं, जो मौलिक अधिकारों एवं नीति-निर्देशक तत्वों का वर्णन करती हैं, भारतीय राजनीति में अपने महत्व और स्थिति के सम्बन्ध में राजनीतिक दलों के बीच सार्वजनिक बहस एवं विवाद के विषय बनी हुई हैं। वर्तमान न्यायिक धारणा है कि मौलिक अधिकार एवं निर्देशक सिद्धान्त एक-दूसरे के प्रतिपूरक हैं, चूँकि वे स्वरूप में एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं। लोक नीतियों के निर्धारण के लिए सरकार के दोनों स्तर सिद्धान्तों को अपनाने के लिए बाध्य हैं। फिर भी इन सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत किये गये नीति विकल्प अनेक हैं तथा सरकार इनकी प्राथमिकताओं की निर्भरता के आधार पर इन्हें चुन सकती हैं।

6.6.1 संस्थागत कारक

चार संवैधानिक कारकों के क्रम में सम्प्रभु गणराज्य में लोकतंत्र, संसदीय प्रणाली, संविधान की संघीय स्वरूप तथा व्यापक स्तर पर सामाजिक-आर्थिक मान्यता आदि, भारत में नीति निर्माण कार्य को संचालित करने वाले अन्य कारक भी हैं। नीति निर्माण वह संयुक्त प्रयास है, जिसमें अनेक संस्थाएं भाग लेती हैं। भारत में कुछ महत्वपूर्ण संस्थाएं हैं-

6.6.2 संसद

भारत में संसद सर्वोच्च नीति निर्माणकर्ता निकाय है। यह सर्वोच्च है, क्योंकि प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद सत्ता में बने रहने की लिए संसदीय बहुलता के समर्थन पर निर्भर करती है। यह ऐसे नियमों को बनाती है जो नीतियों को प्रभावी बनाते हैं।

फिर भी वास्तव में यह सर्वोच्च नहीं होती है। यह संवैधानिक तथ्यों को छोड़कर अन्य नीतियों को निर्धारित नहीं करती है। यह वाद-विवादों तथा सामान्य चर्चाओं के माध्यम से लोकनीतियों को प्रभावित करती है। भारत में अधिकांश विधायन कार्यपालिका द्वारा तैयार तथा जिम्मेदार मंत्री द्वारा पुन:स्थापित किया जाता है। अपने द्वारा प्रस्तुत नीति प्रस्तावों के लिए कार्यपालिका विधायी बहुमत के प्रति आश्वस्त होती है। संसद का कार्यपालिका पर

किया गया कोई भी नियंत्रण स्पष्टया परोक्ष होता है। परिणामस्वरूप, नीति निर्माण में संसद की भूमिका अधिक सही तरह से समझी जा सकती है। यदि संसद को एक स्वतंत्र नीति निर्मात्री संस्था के बजाए सरकार के निर्णयों को अनुमोदित करने वाली ''संवैधानिक प्रक्रियात्मक युक्ति'' के रूप में समझा जाए।

6.6.3 कार्यपालिका

कार्यपालिका का यह संवैधानिक कार्य होता है कि वह संसद में प्रस्तुत की जाने वाली नीतियों को तय करे। भारतीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद और सरकारी-तंत्र समाहित होते हैं। राज्य का प्रमुख होने के नाते राष्ट्रपति अपने अधिकारों का प्रयोग मंत्रीपरिषद के परामर्श पर करता है(धारा-74)।

1. **कैबिनेट-** कैबिनेट वास्तविक प्रशासक मंत्रिपरिषद होती है जिसमें प्रधानमंत्री, कैबिनेट मंत्री, राज्य मंत्री तथा उपमंत्री शामिल होते हैं। यह भली-भाँति ज्ञात है कि परिषद स्वयं मुश्किल से बैठक कर पाती है, तथा समस्त नीति कार्य एकता के सिद्धान्त पर कैबिनेट द्वारा कार्यान्वित किये जाते हैं। यह सरकार में सर्वोच्च नीति निर्माता होता है, किन्तु केवल बड़े प्रस्ताव ही इसके निर्णयों के लिए रखे जाते हैं। अन्य छोटे तथा कम महत्व के मामले सम्बद्ध मंत्रियों को सौंप दिये जाते हैं।

   इसके कार्य को सुविधाजनक बनाने के लिए कार्य-नियम कैबिनेट की स्थाई समितियों के गठन का प्रावधान रखते हैं, ताकि राष्ट्रीय महत्व के विषय या अन्य विविध मामलों पर तीव्र निर्णय सुनिश्चित हो सके।

   नीति की भूमिका में कैबिनेट की सहायता कैबिनेट सचिवालय द्वारा की जाती है, जिसका प्रमुख कैबिनेट सचिव होता है। वह कैबिनेट तथा इसकी समितियों की समस्त बैठकों में उपस्थित होता है। कैबिनेट सचिव प्रायः कैबिनेट बैठकों का प्रारूप तैयार करता है, विवरण प्राप्त करता है, निर्णयों को वितरित करता है तथा उनका अनुसरण यह देखने के लिए करता है कि विभागों में कार्यवाही की गयी है या नहीं। नीति निर्माण प्रक्रिया में कैबिनेट सचिव की भूमिका अत्यधिक जटिल महत्व की होती है।

2. **प्रधानमंत्री और उसका कार्यालय-** सामान्यतः मंत्रिपरिषद् में तथा विशेषतः कैबिनेट में प्रधानमंत्री ही नीति निर्माण में प्रमुख होता है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है वरिष्ठ लोक सेवक नीति निर्माण में अधिकाधिक महत्वपूर्ण परामर्शदात्री भूमिका अदा कर रहे हैं। चूँकि लोक नीति-निर्माण को विशेषज्ञों की तकनीकी सलाह तथा सामान्यवादियों के प्रशासनिक अनुभव पर अधिकाधिक भरोसा करना पड़ता है। मंत्रियों द्वारा उनकी सलाह को अधिक महत्व दिया जाता है। वस्तुतः जिस तरीके से वरिष्ठ लोक सेवक नीति निर्णयों के लिए आवश्यक आंकड़े एकत्र करते हैं, निहित समस्याओं का विश्लेषण करते हैं एवं चुनिंदा नीति विकल्पों के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क देते हैं, उसका अन्तिम नीति निर्णय पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। प्रायः मंत्री प्रस्तुत नीति विकल्पों के चयन का विरोध करने में कठिनाई महसूस करते हैं, यदि वे भविष्य की आवश्यकताओं के बेहतर विश्लेषण पर आधारित हों।

6.6.4 सुस्थापित संस्थाऐं

साधारण संस्थागत व्यवस्थाओं से अलग कुछ निश्चित कार्यात्मक संस्थाएं स्थापित की गयी हैं तथा जो विशिष्ट तथा सम्बद्ध परामर्शीय भूमिकाएं अदा करती हैं। इनमें रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, मोनोपॉलीज एण्ड रिस्ट्रिक्टेड ट्रेड प्रैक्टिसेस कमीशन, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एग्रीकल्चर प्राइसेज एवं कास्ट्स कमीशन इत्यादि।

इसी क्रम में बड़ी संख्या में संस्थाएं और निकाय भी होते हैं, जो नीति नियोजन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। उनमें से कुछ इण्डियन इन्स्टीट्यूट, द नेशनल काउन्सिल ऑफ एप्लाइड इकॉनामिक रिसर्च, द काउन्सिल ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च एवं इण्डियन काउन्सिल आफ मेडिकल रिसर्च हैं।

इसके अतिरिक्त सरकार के बाहर अनेक निकाय होते हैं, जो सरकारी नीतियों पर तब प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं जब उनके हित निहित होते हैं। ऐसे निकायों का उल्लेख फेडरेशन आफ द इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, द एसोसिएट चेम्बर्स आफ कामर्स, द इण्डियन नेशनल टेड यूनियन कांग्रेस तथा इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन के रूप में किया जा सकता है।

भारत में नीति निर्माण प्रक्रिया पर दो अन्य संस्थाएं -योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद, अत्यधिक प्रभाव डालती हैं।

परिषद से 'राष्ट्रीय योजना के कार्य कारण की समीक्षा करने' एवं 'सामाजिक, आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने' तथा 'राष्ट्रीय योजना में नियत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपायों की सिफारिश करने' की अपेक्षा की जाती है।

के0 संथानम भी कहते हैं ''एन0डी0सी0 (राष्ट्रीय विकास परिषद्) की स्थिति भारत सरकार और सभी राज्य सरकारों के लिए क्रियाशील कैबिनेट जैसी हैं।'' इस प्रकार, एन0डी0सी0 देश में सर्वोच्च नीति निर्मात्री संस्था है।

1. **न्यायपालिका-** यह लोक नीतियों को स्वरूप प्रदान करने में रचनात्मक भूमिका अदा करती है तथा लोक नीतियों पर दो तरह से प्रभाव डालती है। यथा, न्यायिक अवधारणा की शक्ति एवं न्यायिक निर्णय। संविधान ने राज्य स्तरों पर विधायन की न्यायिक समीक्षा करने की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को अधिकार दिए हैं। न्यायिक समीक्षा विधानमण्डल तथा कार्यपालिका की क्रियाओं की संवैधानिकता सुनिश्चित करने के लिए न्यायालयों की शक्ति होती है। यदि ऐसी क्रियाएं संवैधानिक तौर पर विवाद के दायरे में आती हैं तो न्यायालय उन्हें व्यर्थ और शून्य घोषित कर सकते हैं। वे कुछ निश्चित कार्यों के बारे में सरकार की सीमाएं निर्धारित करती हैं और यह भी बताती है कि लोक हित के लिए क्या करना चाहिए? आर्थिक विनियम के क्षेत्रों में उनकी सक्रियता के अतिरिक्त न्यायालयों ने सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों के नये क्षेत्रों में कदम रखे हैं। अस्पतालों, जेलों तथा विद्यालयों जैसी लोक संस्थाओं के क्रियाकलाप तथा लोक सुविधाओं की स्थिति की ओर भी अब न्यायालयों का ध्यान आकृष्ट हो रहा है।

   इस प्रकार, प्रशासनिक क्रिया के प्रत्युत्तर में न्यायपालिका की भूमिका नागरिकों के अधिकारों को बचाने की रही है। नागरिकों के जीवन में बढ़ रहा सरकारी हस्तक्षेप, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से निपटने में सरकारी कदमों की विफलता और अधिक रचनात्मक भूमिका अदा करने की न्यायपालिका की तत्परता नीति निर्माण में न्यायिक सक्रियता की निरन्तरता सुनिश्चित करने की ओर प्रवृत्त हैं।

2. **गैर-सरकारी संस्थाएं-** नीति निर्माण प्रक्रिया में लोगों तथा विधानमण्डल, कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा अधिकारी तंत्र जैसी संस्थाओं के अतिरिक्त, कुछ गैर-सरकारी संस्थाएं यथा राजनीतिक दल, दबाव समूह, मीडिया तथा नागरिक वर्ग भी शामिल होते हैं। नीति निर्माण प्रक्रिया में उनके विचार और प्रभाव का बहुत अधिक महत्व होता है।

3. **राजनीतिक दल-** भारतीय राजनीतिक प्रणाली बहुदलीय प्रणाली है। संसद में राष्ट्रीय तथा बड़े प्रान्तीय दल दोनों का प्रतिनिधित्व होता है। सबसे बड़ा राजनीतिक दल कांग्रेस पार्टी है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात कुछ समय को छोड़कर अधिकांश राज्यों और केन्द्र सरकार में निरन्तर सत्ता में है। बहुदलीय प्रणाली होने से अधिकांश सामाजिक-आर्थिक नीतियां संसद में बहस के परिणामस्वरूप बनायी जाती हैं। लोगों की राजनीतिक अभिव्यक्ति मुख्यतः लोकप्रिय सरकार निर्वाचित करने तक ही सीमित होती है। जब कोई दल सत्ता में होता है तो हर प्रकार के विरोध के बावजूद शासन में बने रहना चाहता है। यह बात तर्कसंगत और ठोस नीतियों के निर्माण की प्रक्रिया को और भी अनिश्चित बना देती हैं।

4. **दबाव समूह-** संगठित या हित समूहों के माध्यम से राजनीतिक प्रभाव का प्रयोग हमारी लोकतांत्रिक सरकार का एक प्रमुख लक्षण है। एकल नागरिकों के लिए हित समूह एक महत्वपूर्ण संचार वाहिका होते हैं। नीतिगत विषयों पर वे जन अधिकारियों के साथ एकल नागरिकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी तरीके से बातचीत कर लेते हैं। राजनीतिक पद हथियाने का प्रयास किए बिना ही वे सरकार के निर्णयों पर प्रभाव डालने की कोशिश करते हैं। ये समूह अक्सर विशेष नीतिगत विषयों पर परस्पर विरोधी मूल्य रखते हैं तथा नीति निर्माताओं को परस्पर मांगों में चुनाव करने की समस्या का सामना करना पड़ता है। स्पष्टतः सुसंगठित और सक्रिय दबाव समूह का उन समूहों से अधिक प्रभाव रहता है जिनके सदस्य कुसंगठित एवं वर्गहीन होते हैं।
5. **एकल नागरिकता-** लोकतांत्रिक सरकार लोगों की इच्छाओं को प्रतिबिम्बित करने वाली मानी जाती है। तथापि, यथार्थ में नीति निर्माण में नागरिकों की भागीदारी अत्यन्त नगण्य होती है। एक अरब से ज्यादा लोगों के देश में अकेले क्रियाशील एकल नागरिक शायद ही कोई महत्वपूर्ण बल होता है हमारे देश में अनेक लोग अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर पाते अथवा दलीय राजनीति में हिस्सा नहीं ले पाते। जनसंख्या का केवल बहुत छोटा अंश ही लोकनीतियों के चयन पर प्रभाव डाल पाता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति निर्माण तथा निणर्यन में भेद स्पष्ट कीजिए।
2. नीति विश्लेषण की कौन-कौन सी सीमाऐं हैं?
3. नीति निर्माण में नागरिक समाज संगठनों की क्या भूमिका है?
4. दबाव समूह का नीति निर्माण में किस प्रकार महत्व है?

6.7 सारांश

लोक नीति राजनीति एवं लोक प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। एक पृथक प्रस्ताव के रूप में नीतियां बनाने वाली सरकार और जिनके लिये नीतियां बनाई जाती है, उन नागरिकों के बीच परस्पर क्रिया का अध्ययन करने के लिए यह उपयोगी होता है। दो प्रकार के नीति प्रस्ताव है, जिनकी अपनी विधियां एवं महत्व हैं। पहले प्रकार को नीति विश्लेषण और दूसरे प्रकार को राजनीतिक लोक नीति कहते हैं। नीति निर्माण के लिए वृद्धिवादी प्रस्ताव दुविधा की स्थिति में है। वृद्धिवादी समीकरण स्थिर विकास के प्रतिमान के रूप में काम करता है। अपनी सहजता के साथ यह प्रतिमान नीति प्रक्रिया की जटिलता के सन्दर्भ में अत्यधिक सख्त नजर आता है। लिंडब्लोम ने लिखा हैः लोगों की भलाई के लिए सरकार के प्रयत्नों की खामियों को जो समझना चाहते है उन्हें पहले यह समझना होगा कि लोकनीति को बनाने और बिगाड़ने में शक्ति सम्बन्ध कैसी भूमिका निभाते हैं।

हर्बर्ट साइमन का कहना है कि असल में नीति निर्माता अशान्वित नहीं करते वरन् संतुष्ट करते हैं। इनके अनुसार एक अच्छा निर्णय भी कारगर हो सकता है, भले ही वह श्रेष्ठ निर्णय न हो। बुद्धिसंगत निर्णय स्पष्ट एवम् अच्छी तरह परिभाषित लक्ष्यों पर निर्भर करता है, साथ ही कार्यवाही के समन्वयन के पर्याप्त अधिकार पर भी निर्भर करता है।

नीति निर्माण एक अत्यन्त जटिल विश्लेषणात्मक तथा राजनैतिक प्रक्रिया है, जिसका कोई प्रारम्भ या समापन नहीं होता और जिसकी सीमाएं पूरी तरह अनिश्चित होती है। येनकेन प्रकारेण शक्तियों की एक जटिल समिष्ठ 'नीति निर्माण' में सन्नद्ध होती है और सामूहिक रूप से जो प्रभाव उत्पन्न करती हैं, उन्हें नीतियां कहते हैं। संसद के लिए भारतीय संविधान द्वारा कानून पारित करके नीति निर्माण में लोगों के प्रतिनिधित्व का प्रकार्य सुनिश्चित किया गया है। विधायी प्रक्रिया सार्वजनिक नीति की अभिव्यक्ति के लिए एक मौलिक प्रणाली है। भारत में सभी आधारभूत नीतियां विधायी अधिनियम पारित करके निर्धारित की जाती हैं। यद्यपि विधायन की परिधि में विधायी तथा

संवैधानिक ढ़ाँचे के अन्दर सरकार की कार्यपालिका शाखा द्वारा अत्यधिक विशिष्ट नीति निर्माण तथा न्यायपालिका के समीक्षात्मक प्रकार्य की अनुमति भी होती है।

6.8 शब्दावली

नीति विश्लेषण- प्रतिमानों का निर्माण (प्रणालियों का मॉडल), बुद्धिसंगतवाद- नीति निर्माण के समय नीति के विकल्पों का चयन, वृद्धिवाद- क्रमिक सीमित तुलनायें अथवा शाखा तकनीक।

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. प्रस्तावना में विस्तृत व्याख्या की गई है।
2. 6.3.1 में 'प्रणालियों के उपागम की सीमाएं' नामक शीर्षक का अध्ययन करें।
3. नीति निर्माण के परिवेश में राजनैतिक दलों, दबाव समूहों, जनसम्पर्क माध्यमों तथा नागरिका समूहों जैसे कुछ गैर-सकरारी संगठन शामिल हैं। उनके दृष्टिकोण और प्रभाव नीति निर्माण की प्रक्रिया में अत्यधिक महत्व रखते हैं। नीतियों के निर्माण में वाह्य परिवेश की संस्थाऐं भी बहुत प्रभावित करती हैं। देश की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं पर संयुक्त राष्ट्र संघ और इसके सम्बद्ध अभिकरणों, विश्व बैंक आदि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
4. 6.4.4 के अन्तर्गत 'दबाव समूह' की भूमिका का उत्तर निहित है।

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पब्लिक पालिसी एण्ड सिस्टमस- प्रवीर कुमार डे।
2. लोक प्रशासन- एम0 पी0 शर्मा, बी0 एल0 सडाना।
3. लोक नीति- आर0 के0 सप्रू।
4. लोक प्रशासन के नये आयाम- मोहित भट्टाचार्य।

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन- एम0 पी0 शर्मा, बी0 एल0 सडाना।
2. लोक नीति- आर0 के0 सप्रू।
3. लोक प्रशासन- बी0 एल0 फड़िया।

6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नीति- निर्माण में विभिन्न अभिकरणों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
2. नीति-निर्माण में आने वाली बाधाओं की सविस्तार विवेचना कीजिए।
3. नीति-निर्माण में नौकरशाही अथवा प्रशासनिक एजेन्सियों के कार्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 7 निर्णय करना: महत्व, स्वरूप , निर्णय करने के आधार

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 निर्णय का अर्थ एवं परिभाषा
7.3 निर्णय की स्वरूप
7.4 निर्णय की विशेषताएँ
7.5 निर्णय के प्रकार
7.6 निर्णय का महत्व
7.7 निर्णय करने के आधार
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

'निर्णय लेना' मनुष्य का मूलभूत स्वभाव एवं क्रिया है। व्यक्ति का अधिकांश जीवन अनेक प्रकार के निर्णय लेने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में ही व्यतीत होता है। बैंजामिन डिजरायली का कथन है कि ''हम केवल अपने निर्णयों के कारण ही पहचाने जाते हैं।'' यदि हम अपनी दैनिक जीवनचर्या का अध्ययन करें तो महसूस होगा कि हम अपना साठ प्रतिशत समय निर्णय लेने में ही गुजारते हैं।

व्यावसायिक जगत में भी प्रबन्धकों को प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण निर्णय लेने होते हैं, जो संस्था की कार्यप्रणाली को प्रभावित करने वाले होते हैं। जार्ज टैरी लिखते हैं कि 'प्रबन्धकों का कार्य ही निर्णय लेना है। उन्हें निर्णय लेने तथा निर्णयों को लागू करने के लिए ही भुगतान किया जाता है।' वे आगे लिखते हैं कि 'यदि प्रबन्धक की कोई सार्वभौमिक पहचान है तो वह है, निर्णय लेना।' यही कारण है कि अनेक विद्वानों ने प्रबन्ध को निर्णय का पर्यायवाची माना है। निर्णय करना सामान्य एवं नित्यप्रति की घटना है। हममें से सभी हर समय किसी न किसी मामले पर निर्णय लेते रहते हैं, चाहे वह मामला व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, महत्वपूर्ण हो या सामान्य। वस्तुतः बिना निर्णय लिए कोई भी संगठन चल नहीं सकता; और यदि उसे दृढ़तापूर्वक चलाना है तो निर्णय ठीक होने चाहिए तथा ऐसे होने चाहिए कि उन्हें समय पर पूरा भी किया जा सके। अतः निर्णय करना सभी प्रबन्ध का सार है, चाहे वह निजी हो या सार्वजनिक। निर्णय करने की शक्ति को प्रबन्ध करने की शक्ति के समरूप मानना ठीक है। कोई भी सफल निष्पादक बनने की कल्पना नहीं कर सकता, यदि वह निर्णय देने के योग्य नहीं है, या गलत निर्णय देने की उसमें प्रवृत्ति पायी जाती है। एक बड़ा नेता एक विलक्षण सूझबूझ का विकास कर लेता है। इसका कारण प्रायः ठीक निर्णय लेने की क्षमता होती है।

फिर भी निर्णय करना जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही कठिन भी है। लोग निर्णय करने से जी चुराते हैं। कदाचित यह ठीक ही कहा गया है कि निर्णय करने की अपेक्षा व्यक्ति तोप का सामना करना अधिक अच्छा समझते हैं। समाधान करने के लिए समस्याओं का बड़ा समूह, थोड़ा समय, बुरे परिणामों का भय और क्या निर्णय दिया जाय,

आदि कुछ असाधारण कठिनाइयाँ हैं। समस्याएँ बहुत अधिक होती हैं और उनकी दृष्टि से समय बहुत कम होता है। बहुधा होता यह है कि कम समय के साथ-साथ अति तीव्र गति से कार्य करने वाले व्यस्त तथा उत्पीड़न निष्पादकों पर निर्णयों का पूर्ण दायित्व रहता है। वास्तव में यह समस्या अत्यधिक कार्य की है, जिन्हें अत्यन्त कम समय में पूर्ण करना होता है। निर्णयों के पश्चात परिणामों का भय भी निष्पादकों के समक्ष रहता है। कोई भी निर्णय सम्भवतः हर किसी को प्रसन्न नहीं कर सकता और प्रशासन को प्रायः ऐसे कार्य करने पड़ते हैं कि वह प्रसन्न थोड़े ही व्यक्तियों को कर पाता है, किन्तु अप्रसन्न बहुतों को कर लेता है। यही नहीं, सम्भवतः उसे ठीक-ठीक यह ज्ञान नहीं होता कि उसे क्या निर्णय करना चाहिए, अर्थात् सम्भव है कि विविध विकल्पों में से वह अपना मार्ग ढूँढ़ने में असमर्थ हो। प्रोफेसर मार्च के शब्दों में, ''व्यापारिक संगठन के जटिल पर्यावरण में निष्पादक के समक्ष निर्णय की तीन चरणों वाली समस्या सदैव विद्यमान रहती है- (1) बहुत-सी समस्याओं में से जो उसके समक्ष हैं, किस समस्या विशेष की ओर वह अपना ध्यान ले जाय; (2) किसी समस्या विशेष की अनिश्चितता को हल करने में वह कितना समय, प्रयत्न और धन लगाये; (3) समस्या के किस समाधान को वह अपनाये।''

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- यह जान पायेंगे कि निर्णय क्या है।
- निर्णय की प्रक्रिया क्या होती है, इसे जान पायेंगे।
- किसी भी विभाग या संस्थान के लिये निर्णय कितना महत्व रखता है, इसकी भी जानकारी इस इकाई से हमको हो पायेगी।
- यह भी जान पायेंगे कि निर्णय का अर्थ क्या है, यह कैसे कार्य करता है।
- यह भी जान पायेंगे कि निर्णय की तकनीकी या विधियां क्या हैं।

7.2 निर्णय का अर्थ एवं परिभाषा

'निर्णय' किसी कार्य के सम्बन्ध में विभिन्न विकल्पों में से किसी एक 'श्रेष्ठ विकल्प' का चयन करने की प्रक्रिया है। यह एक बौद्धिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी समस्या के समाधान या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कुछ सम्भावित विकल्पों में से एक उपयुक्त विकल्प का चुनाव किया जाता है।

'निर्णय' की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं-

कूंज एवं वीहरिच के अनुसार, ''निर्णय किसी क्रियाविधि के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का चयन करना है।''

टैरी के शब्दों में ''किसी मानदण्ड के आधार पर दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक का चुनाव करना निर्णय है।''

वेब्स्टर शब्दकोष के अनुसार, ''निर्णय किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में किसी विचार या क्रियाविधि को निर्धारित करने की क्रिया है।''

ऐलन के अनुसार, ''निर्णय वह कार्य है जिसे एक प्रबन्धक किसी निष्कर्ष या निर्णय पर पहुँचने के लिए करता है।''

चेस्टर बर्नार्ड के अनुसार, ''निर्णय की प्रक्रियाएँ प्रमुख रूप से 'चयन' को सीमित करने की तकनीकें हैं।''

जोसेफ मैसी के अनुसार, ''निर्णय वांछित परिणामों की प्राप्ति के उद्देश्य से उपलब्ध विकल्पों में से सचेत रूप से चुना गया क्रिया-पथ है।''

डॉ0 जे0 सी0 ग्लोवर के अनुसार, ''चुने हुए विकल्पों में से किसी एक के सम्बन्ध में निर्णय करना ही निर्णय है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि निर्णय एक बौद्धिक क्रिया है, जिसमें किसी कार्य को करने अथवा समस्या के समाधान के लिए विभिन्न सम्भावित विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प का चयन किया जाता है। निर्णय किसी वांछित लक्ष्य या प्रक्रिया है।

दूसरे शब्दों में, ''जटिल एवं अनिश्चित परिस्थितयों के अन्तर्गत उपलब्ध विकल्पों में से संगठन की क्षमता, लक्ष्यों एवं साधनों के अनुसार एक श्रेष्ठ विकल्प चुनने तथा उसे प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करने को ही 'निर्णय' के नाम से पुकारा जाता है।''

7.3 निर्णय की स्वरूप

वेब्स्टर शब्दकोष में 'निर्णय करना' शब्द की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'किसी अभिमत या कार्यवाही के विषय में अपने मन में निश्चित कर लेने का कार्य।' टैरी के शब्दों में ''दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से एक व्यवहार्य विकल्प को चुन लेना ही निर्णय देना है।'' संक्षेप में, निर्णय करने का अर्थ किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना है। निर्णय प्रायः नीति द्वारा निश्चित किये गये मार्ग के अन्तर्गत ही किये जाते हैं। नीति अपेक्षाकृत विस्तृत होती है। बहुत सी समस्याओं को प्रभावित करती है और उसका प्रयोग बार-बार किया जाता है। इसके विपरीत, निर्णय तो किसी विशेष समस्या पर लागू होता है और वह निरन्तर ना होने वाला व्यवहार है। निर्णय के विषय में यह ठीक कहा गया है कि वह ''नीति-निर्धारिण की प्रक्रिया में एक क्षण होता है।'' फिर भी नीति स्वयं भी किसी निर्णय का परिणाम होती है। निर्णय के विषय में याद रखने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यह केवल साध्य की ओर ले जाने वाला साधन मात्र है, स्वयं में एक साध्य नहीं है; और फिर निर्णय देना कोई स्थिर प्रक्रिया नहीं है। बदली हुई आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न निर्णय लेने होते हैं। निर्णय में पवित्रता जैसी कोई बात नहीं होती है और ना कुछ स्थायित्व ही होता है। अब्राहम लिंकन तथा एक समिति से सम्बन्धित एक कथा द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस समिति के सदस्यगण अब्राहम लिंकन से सेनापति ग्राण्ट के सेनापतित्व के विषय में शिकायत कर रहे थे। समिति के सभापति ने कहा: ''क्यों राष्ट्रपति जी! यह तो आप निश्चय ही जानते हैं कि सेनापति ग्राण्ट बहुत से निर्णय देते हैं। वे एक के बाद दूसरा सही निर्णय देते हैं, परन्तु उनमें से कुछ तो बिलकुल गलत होते हैं'' लिंकन ने अपना सिर उठाया, एक मिनट चुप रहे और तब उन्होंने उत्तर दिया: ''अच्छा, सभापति जी! मेरा ख्याल है कि आप बिल्कुल ठीक कहते हैं, किन्तु मेरा अनुमान है कि यदि वे कोई बुरा फैसला देते भी हैं तो शीघ्र ही उन्हें वह मालूम भी हो जाता है और तब वे उसे अविलम्ब बदल देते हैं। सज्जनो! मैं सेनापति ग्राण्ट का समर्थन करना ही उचित समझता हूँ।''

मिलेट के अनुसार प्रक्रिया को समझने के लिए निर्णय सम्बन्धी निम्नलिखित तीन पहलुओं की समीक्षा आवश्यक है-

1. **व्यक्तिगत अन्तर जो कुछ को निर्णायक और दूसरों को अनिर्णायक बनाता है-** कुछ लोग ऐसे हैं जो निर्णय में देर लगाते हैं, अस्थायी निर्णय करते हैं, उन्हें स्थापित कर देते हैं तथा उनसे किनारा काटते हैं। वे किसी भी निर्णय पर दृढ़ नहीं रह सकते और सदा उनमें कोई ना कोई ऐसी कमी रखते हैं जिसमें से बाद में स्वयं बचकर निकल जायें। दूसरी ओर, कुछ लोग निर्णय लेने में कृतसंकल्प, दृढ़ तथा शीघ्रगामी होते हैं। किसी कारण लोग एक या दूसरी तरह का आचरण करते हैं। यह इस अध्ययन के क्षेत्र से परे की समस्या है। कदाचित सामाजिक तथा व्यावसायिक पृष्ठभूमि का इससे कुछ सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप, वकीलों की अपेक्षा न्यायाधीशों में निर्णयात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है। इस प्रकार यह भी अनुमान है कि बुद्धिजीवी लोग, जिन्हें किसी विषय का गहन ज्ञान होता है, प्रायः निर्णय देने की कम ही योग्यता रखते हैं। उदाहरण के लिए, नेतृत्व के मामलों में वे अनुत्तरदायी (शून्य-मनस्क, समय के पाबन्द नहीं) निर्णय ना

कर सकने वाले (अतिन्यायिक, इतने अधिक पहलुओं पर गौर करते हैं कि वे निश्चय नहीं कर पाते) तथा विश्वास ना दिला सकने वाले (कुछ 'विचित्र' से, जिन्हें लोगों में रूची नहीं रहती) सिद्ध होते हैं।

2. **निर्णय करने में ज्ञान का योग-** मिलेट के अनुसार ''विस्तृत तथ्यों का सावधानी के साथ संचय, उनका विश्लेषण तथा व्याख्या, भावी विकासों का पूर्वानुमान, मानवीय तथा भौतिक आचरण की सामान्य अवधारणाओं का प्रयोग ऐसे तत्व हैं, जो निर्णय करने में ज्ञान का प्रयोग करते समय भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रभावित करते हैं। निर्णय लेने के लिए ठीक विवरण एकत्र करने हेतु सांख्यिकी, कार्य अध्ययन (work study), प्रवर्तन, अनुसन्धान तथा प्रबन्ध सर्वेक्षण का प्रयोग हितकर होता है।
3. **सीमाएँ-** व्यक्तिगत तथा संस्थागत, जो निर्णय करने में प्रतिबन्ध लगाती हैं। मिलेट का मत है कि ''एक ओर निर्णय करने में उच्चाकांक्षाओं, परम्पराओं तथा कार्य को सम्पन्न करने वाले अभिकरण के दृष्टिकोणों को समझना आवश्यक है, दूसरी ओर प्रशासकों में निहित व्यक्तिगत रूचि एवं भावना भी निर्णय करने के कार्य को सीमित कर देती है।''

7.4 निर्णय की विशेषताएँ

निर्णय प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं, जिससे निर्णय कार्य की स्वरूप भी स्पष्ट हो जाती है।

1. निर्णय विभिन्न चरणों में विभाजित एक प्रक्रिया है।
2. यह 'श्रेष्ठ विकल्प' की खोज एवं चयन की प्रक्रिया है।
3. यह एक बौद्धिक एवं विवेकपूर्ण प्रक्रिया है।
4. यह बौद्धिक तर्क एवं विवेक के साथ-साथ अन्तर्ज्ञान पर भी आधारित है।
5. यह रचनात्मक मानसिक क्रिया है, जिसमें पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक विकल्प का चयन किया जाता है।
6. इसमें श्रेष्ठ विकल्प का चयन करके एक निश्चित क्रिया-विधि का निर्धारण किया जाता है।
7. निर्णय की समस्या तभी उत्पन्न होती है, जब किसी कार्य को करने या ना करने का निर्णय लेना हो अथवा किसी समस्या के समाधान के लिए दो या अधिक विकल्प विद्यमान होते हैं।
8. निर्णय किसी कार्य को करने, कोई वांछित परिणाम प्राप्त करने अथवा किसी समस्या के समाधान के सम्बन्ध में हो सकता है।
9. निर्णय अनिश्चय की स्थिति को निश्चयात्मक स्थिति में बदल देता है।
10. निर्णय से वचनबद्धता या कार्यवाही का जन्म होता है।
11. निर्णय के कुछ मानदण्ड या आधार होते हैं।
12. निर्णय परिस्थितियों, संसाधनों व कार्य-वातावरण से भी प्रभावित होता है।
13. ड्रकर के अनुसार ''निर्णय एक फैसला है। यह विकल्पों के मध्य एक चयन है। यह 'सही' और 'गलत' के बीच चयन नहीं, वरन् 'लगभग सही' तथा 'सम्भवतः गलत' के बीच का चुनाव है।''
14. निर्णय वास्तविक स्थिति के समरूप होता है।
15. निर्णय स्वयं में एक लक्ष्य नहीं हैं, वरन् अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन है।
16. निर्णय में 'समय तत्त्व' का विशेष महत्त्व होता है।
17. निर्णय प्रत्येक क्रिया के पूर्व की स्थिति है।
18. निर्णय प्रबन्ध में सर्वव्यापी है। कुछ विद्वान इसे प्रबन्ध का समानार्थक मानते हैं।
19. निर्णय ''नियोजन'' का एक भाग है तथा निर्णय में ''पूर्वानुमान'' सम्मिलित हो जाता है। पूर्वानुमान निर्णय का एक उपकरण भी है।
20. क्रियान्वयन निर्णय का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

21. 'असहमत'' निर्णय का आवश्यक तत्व है। ड्रकर के अनुसार ''असहमति के बिना कोई निर्णय नहीं होता।''
22. निर्णय 'उद्देश्यात्मक' होता है। यह मानवीय एवं सामाजिक प्रक्रिया भी है।
23. निर्णयों की एक क्रमिक श्रृंखला होती है। कोई भी निर्णय अकेला नहीं होता; वह अपने पहले के और बाद के निर्णयों से किसी ना किसी रूप में जुड़ा रहता है।
24. कोई भी निर्णय किसी विषिष्ट समयावधि में होता है, जिससे सहगामी घटनाएँ उसके परिणाम को प्रभावित करती हैं।
25. साइमन के अनुसार, ''निर्णय को हम पूर्व विचारों में से निकाले गये निष्कर्ष मान सकते हैं। ये निष्कर्ष बड़े निर्णयों के लिए पूर्व विचार बन जाते हैं।''
26. निर्णय प्रायः नीति, नियम, आदेश अथवा निर्देश के रूप में व्यक्त होते हैं।

7.5 निर्णय के प्रकार

प्रबन्ध का अन्तिम उत्पाद, निर्णय होता है। प्रबन्धक का प्रत्येक कार्य निर्णय से ही प्रारम्भ होता है। संगठन के विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् प्रकार के निर्णय लिए जाते हैं। प्रबन्ध के क्षेत्र में लिए जाने वाले निर्णयों के कुछ प्रमुख प्रकार अग्रलिखित हैं-

1. **निर्णयों को उनके महत्त्व के** आ**धार पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है-** आधारभूत तथा नैत्यक निर्णय।
    - आ**धारभूत निर्णय-** ये निर्णय संस्था के अस्तित्व के लिए आधारभूत होते हैं। ये निर्णय संस्था की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को प्रभावित करने वाले होते हैं। अतः इन्हें सामरिक निर्णय भी कहा जाता है। दुसरे शब्दों में, ''उच्च प्रबन्ध नीतिगत निर्णयों'' को आधार भूत निर्णय माना जाता है। इसीलिए कुछ लेखक इन्हें एक बार के निर्णय भी कहते हैं।
    - **नैत्यक निर्णय-** ये निर्णय संस्था के दैनिक कार्यकलापों से सम्बन्धित होते हैं जो प्रतिदिन लिए जाते हैं। ऐसे निर्णय पूर्व निर्धारित नियमों एवं नीतियों के अन्तर्गत लिए जाते हैं। इनकी कार्यप्रणाली भी पूर्व-निर्धारित होती है। ये अल्पकालीन, कम जोखिम वाले, पुनर्रावृत्त स्वरूप के तथा परिचालन क्रियाओं से सम्बन्धित होते हैं।
2. **चेस्टर बर्नार्ड ने निर्णयों को उनके वातावरण एवं उद्देश्यों के** आ**धार पर दो भागों में विभाजित किया है-** व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक निर्णय।
    - **व्यक्तिगत निर्णय-** वे निर्णय होते हैं जो एक व्यक्ति द्वारा अपनी व्यक्तिगत स्थिति में रहकर लिए जाते हैं। ये निर्णय व्यक्तिगत उद्देश्यों व हितों की पूर्ति के लिए लिए जाते हैं। ऐसे निर्णय उस व्यक्ति के जीवन को भी प्रभावित करते हैं। संस्था पर ऐसे निर्णयों का प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है।
    - **संगठनात्मक निर्णय-** वे होते हैं जो किसी व्यक्ति द्वारा संस्था की ओर से औपचारिक स्थिति के अन्तर्गत लिए जाते हैं। ये औपचारिक पद धारण करने के फलस्वरूप किसी कर्मचारी द्वारा अपनी औपचारिक सत्ता एवं अधिकारों के अन्तर्गत लिए जाते हैं। प्रबन्धकों द्वारा माल खरीदने, विक्रय अनुबन्ध करने, सम्पत्ति क्रय करने, कर्मचारियों को नियुक्त करने आदि से सम्बन्धित निर्णय संगठनात्मक निर्णय होते हैं।
3. **कार्यक्रमिक तथा अकार्यक्रमिक निर्णय-** निर्णयों का यह विभाजन हर्बर्ट साइमन द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

- **कार्यक्रमिक निर्णय-** वे निर्णय हैं, जो प्रतिदिन बार-बार लिए जाते हैं। ये पुनर्रावृत्ति स्वरूप के होते हैं। ऐसे निर्णय पूर्व-निर्धारित नियमों, नीतियों, कार्यविधियों, प्रमापों तथा मापदण्डों के आधार पर लिए जाते हैं। इनके लिए प्रत्येक बार नये नियमों की आवश्यकता नहीं होती। ये निर्णय प्रतिदिन की समस्याओं एवं संचालकीय कार्यो के सम्बन्ध में लिए जाते हैं।
  ये निर्णय अधिकांशत: संगठन के निम्न स्तरों पर लिए जाते हैं। ऐसे निर्णय बार-बार लिए जाने के कारण प्रबन्धक भी अनुभवी हो जाते हैं तथा ऐसे निर्णयों में किसी विशेष ज्ञान या परामर्श की आवश्यकता नहीं रहती।
  ऐसे निर्णयों में निर्धारित विधि का प्रयोग किये जाने के कारण प्रबन्धकों को अपने विवेक का प्रयोग कम करना पड़ता है तथा निर्णय लेने में स्वतंत्रता भी कम हो जाती है।
- **अकार्यक्रमिक निर्णय-** ये निर्णय किसी नवीन समस्या या परिस्थिति से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे निर्णयों में समाधान भी अनुपम, भिन्न तथा बेजोड़ होता है। ये किसी अप्रत्याशित समस्या के सम्बन्ध में लिए जाते हैं, दैनिक कार्य-कलापों के सम्बन्ध में नहीं। ऐसी समस्या का पहले से ही अनुमान लगाना कठिन होता है। अतः ऐसे निर्णयों के नियम एवं कार्यविधियाँ पहले से निर्धारित नहीं की जा सकती हैं। ऐसे निर्णय समस्या या परिस्थिति के अनुकूल लिए जाते हैं।
  अकार्यक्रमिक निर्णय, प्रायः उच्च प्रबन्धकों या मध्यवर्ती प्रबन्धकों द्वारा लिए जाते हैं। संगठन के निचले स्तरों पर इनकी मात्रा घटती जाती है। ये निर्णय ''परिस्थितिगत'' होते हैं।

4. **कुछ विद्वानों ने निर्णयों को नीतिगत तथा परिचालन सम्बन्धी वर्गों में विभाजित किया है-**
   - **नीतिगत निर्णय-** ये निर्णय संस्था की आधारभूत नीतियों से सम्बन्धित होते हैं। ये सम्पूर्ण संस्था पर दीर्घकालीन प्रभाव डालते हैं। ये निर्णय उच्च प्रबन्धकों द्वारा लिए जाते हैं तथा इनमें असामान्य विवेक एवं अनुभव की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, सीधी भर्ती करना, योग्यता के आधार पर पदोन्नति देना, केवल सरकारी निगमों से ऋण स्वीकार करना आदि नीतिगत निर्णय हैं।
   - **परिचालन सम्बन्धी निर्णय-** ये निर्णय नीतियों के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में लिए जाते हैं। ये निर्णय संस्था के कार्यों का संचालन करने, उत्पादन कार्यों का परिचालन करने अथवा अन्य संचालकीय कार्यों हेतु लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ कार्य बाँटने, अधिकार सौंपने, कार्यविधि तय करने आदि निर्णय परिचालन सम्बन्धी हैं।
5. **प्रो0 अनेस्ट डेल ने तीन प्रकार के निर्णयों का उल्लेख किया है-** नीतिगत, प्रशासकीय और कार्यकारी निर्णय। उनके अनुसार नीतिगत निर्णय नीतियों के निर्धारण से सम्बन्धित होते हैं। प्रशासकीय निर्णय संसाधनों को निश्चित करने से सम्बन्धित होते हैं। कार्यकारी निर्णय नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित होते हैं। ये नीतियों को लागू करने से सम्बन्ध में लिए जाते हैं।
6. आर0 ए0 **किलियन ने दो प्रकार के निर्णयों को प्रस्तुत किया है-** नियोजित एवं अनियोजित निर्णय।
   - **नियोजित निर्णय-** पूर्व-निर्धारित ढंग से निश्चित नियमों, विधि एवं नीतियों के अन्तर्गत लिए जाते हैं। इनमें निर्णय की प्रक्रिया निश्चित होती है।
   - **अनियोजित निर्णय-** ये निर्णय परिस्थितियों एवं समस्या के उत्पन्न होने पर लिए जाते हैं। इनकी प्रक्रिया, विधि एवं प्रभाव पूर्व-निर्धारित नहीं होते। ''निर्णय की तात्कालिकता'' इनकी प्रमुख विशेषता है।

7. **प्रसिद्ध प्रबन्ध विद्वान पीटर ड्रकर ने निर्णयों के दो महत्त्वपूर्ण प्रकार बतलाये हैं। ये हैं-** सामरिक एवं व्यूहरचना सम्बन्धी निर्णय।
    - **सामरिक निर्णय-** ड्रकर के अनुसार ये निर्णय ''समस्या समाधान'' की स्वरूप के होते हैं। ये एक आयामीय होते हैं, क्योंकि इनमें ''स्थिति'' व ''उद्देश्य'' ज्ञात होते हैं। इनमें परिस्थिति की दशाएँ दी हुई होती हैं, केवल एक विकल्प का चयन करना होता है। ये सरल होते हैं।
    - **व्यूहरचना सम्बन्धी निर्णय-** ये निर्णय अत्यन्त जटिल होते हैं। ये समस्या समाधान तक ही सीमित नहीं होते, वरन् इनमें 'सही प्रश्न' को खोजना होता है। ये द्विआयामीय होते हैं, अर्थात् इन निर्णयों में पहले 'सही समस्या' का निर्धारण करना होता है तथा उसके बाद 'सही समाधान' खोजना होता है। ये निर्णय प्रायः बाह्य समस्याओं से सम्बन्धित होते हैं।
8. **निर्णयकर्ताओं की संख्या के** आ**धार पर निर्णय दो प्रकार के हो सकते हैं-** एकाकी निर्णय तथा सामूहिक निर्णय।
    - **एकाकी निर्णय-** ये एक व्यक्ति द्वारा लिए हुए निर्णय होते हैं जिसके लिए वह स्वयं ही उत्तर दायी होता है। छोटी व्यावसायिक संस्थाओं में ऐसे निर्णय एकाकी व्यवसायी या प्रबन्धक द्वारा लिए जाते हैं। ये निर्णय निरंकुश प्रबन्ध की प्रवृत्ति को दर्शाते हैं।
    - **सामूहिक निर्णय-** आधुनिक वृहत् संगठनों में व्यक्तियों के समूहों, समितियों, प्रबन्ध बोर्ड, कार्य दल अथवा अन्य प्रबन्ध परिषदों द्वारा सामूहिक निर्णय लिए जाते हैं। सामूहिक निर्णय उद्योगों में जनतांत्रिक भावनाओं एवं प्रवृत्ति के प्रतिक हैं। ये प्रबन्ध में सहभागिता को प्रोत्साहित करते हैं। सामूहिक निर्णय अधिक ठोस एवं सन्तुलित होते हैं। ऐसे निर्णयों का क्रियान्वयन भी सरल होता है। ये समूह उत्तर दायित्व को जन्म देते हैं, किन्तु इनमें किसी व्यक्ति को उत्तर दायी ठहराना कठिन हो जाता है। इस प्रकार ये दायित्वहीनता एवं 'दायित्व टालने' की प्रवृत्ति को विकसित करते हैं।
9. **कई बार प्रबन्धकीय निर्णयों को उनकी अत्यावश्यकता के** आ**धार पर निम्न तीन वर्गों में बाँटा जाता है-** संकट, अन्तर्दर्शी तथा शोध निर्णय।
    - **संकट निर्णय-** ये निर्णय किसी संकटावस्था, समय के दबाव अथवा परिस्थिति की नजाकत के अन्तर्गत लिए जाते हैं। ये तत्काल, अचानक तथा आनन-फानन में लिए जाते हैं। ऐसे निर्णयों में पर्याप्त सूचना-संकलन या सोच-विचार सम्भव नहीं होता।
    - **अन्तर्दर्शी निर्णय-** ये निर्णय भी ''तत्काल कार्यवाही'' किस्म के होते हैं। ये निर्णय व्यक्ति के अन्तर्ज्ञान, सहज अनुभूति, अनुभव, तत्काल सूझ के आधार पर लिए जाते हैं। इनमें तटस्थता का अभाव रहता है।
    - **शोध निर्णय-** ये निर्णय सुविचारित होते हैं तथा पर्याप्त सूचनाओं एवं तथ्यों के संकलन एवं विश्लेषण के आधार पर लिए जाते हैं। इनमें समय का दबाव कम होता है। शोध निर्णय प्रायः व्यूहरचना स्तर पर ही अधिक लिए जाते हैं।
10. **विलियम हेन्स ने निर्णयों के तीन प्रकार बतलाये हैं-** तकनीकी, प्रबन्धकीय तथा संस्थागत निर्णय।
    - **तकनीकी निर्णय-** ये निर्णय संस्था की आधारभूत क्रियाओं अर्थात् ''संगठन के कार्य'' से सम्बन्धित हाते हैं।

- **प्रबन्धकीय निर्णय-** ये निर्णय नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियंत्रण एवं समन्वय आदि प्रबन्धकीय कार्यों से सम्बन्धित होते हैं।
- **संस्थागत निर्णय-** ये निर्णय दीर्घकालीन नियोजन, व्यवसाय विस्तार, क्रियाओं के विविधिकरण तथा नीति निर्धारण से सम्बन्धित होते हैं।

7.6 निर्णय का महत्व

निर्णय के महत्व को समझाते हुए बी0 एम0 बास ने लिखा है कि 'निर्णय प्रत्येक संस्था की जीवन उर्जा है।' निर्णय के बारे में यह भी कहा जाता है कि प्रशासनिक अधिकारी जो कुछ भी करता है, निर्णय के द्वारा ही करता है। किसी भी संगठन या संस्थान में निर्णय उस संगठन या संस्थान के लिये हृदय का कार्य करता है। किसी भी संगठन या संस्थान में प्रबन्ध करना निर्णयों पर आधारित होता है। कोई भी कार्य प्रबन्धन के बिना नहीं चलते हैं और प्रबन्धन का कार्य निर्णय की प्रक्रिया पर आधारित होता है। निर्णय के महत्व को हम विस्तार से निम्न रूप से समझ सकते हैं-

1. **प्रबन्ध एक प्रक्रिया है, जो निर्णय के आधार पर क्रियान्वित होती है-** प्रभावी निर्णय के कौशल के द्वारा ही किसी विभाग या संगठन का शीर्ष अधिकारी प्रबन्धन की प्रक्रिया को अपने विभाग से सकुशल तरीके से संचालित कर सकता है। किसी संगठन या संस्थान में कार्यों को सकुशल सम्पन्न कराने का आधार निर्णय ही होता है। अनेक विद्वानों के अनुसार निर्णय प्रबन्धकों या शीर्ष अधिकारियों का समग्र कार्य है। यह सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रबन्ध प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है।
2. **प्रशासन का हृदय-** लोक प्रशासन व प्रबन्ध के कई विद्वानों ने माना है कि समस्त प्रशासन की प्रक्रिया निर्णय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। संगठन के उच्च स्तर पर समस्त प्रशासनिक, आर्थिक व कल्याणकारी नीतियों का निर्धारण निणर्यन के द्वारा ही होता है। इस प्रक्रिया के सन्दर्भ में जॉन मैकडोनल्ड का कथन है कि व्यवसायिक अधिशासी पेशे से एक निर्णय लेने वाला होता है। एस0 आर0 डाबर भी लिखते हैं कि, एक प्रशासक का जीवन सत्त रूप से निर्णय लेने की कला है।
3. **प्रभावशाली नियोजन-** नियोजन करना निर्णय करना ही है। नियोजन निर्णय का एक दूसरा रूप कहा जा सकता है। नियोजन एक योजना है जो कि भविष्य में किये जाने है। इन योजनाओं के निर्माण के लिये अनेकों निर्णय लेने पड़ते हैं, जैसे कि- नियोजन क्यों किया जाये? इससे क्या लाभ होगा? योजना के साधन क्या हैं? कितने लागत की योजना है? कितने समय में यह नियोजन सम्पूर्ण कर लेना होगा आदि-आदि। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निर्णय लिये बिना कोई योजना अपने सफलता की ओर नहीं बढ़ सकती है। कूंज एवं बिहरिच ने नियोजन को निर्णय की आत्मा माना है।
4. **मजबूत संगठन का आधार -** संगठन में कार्यों व अधिकारों का आवंटन किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता व कुशलता के आधार पर उत्तर दायित्वों को वितरित किया जाता है। विभागों का वितरण व विभागीय शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के लिये ठोस निर्णय की आवश्यकता होती है।
5. **कुशल निर्देशन-** सकुशल निर्देशन के लिये निर्णय की आवश्यकता होती है। कर्मचारियों को प्रोत्साहित करने व नये आदेशों व सूचनाओं को निर्गत करने के लिये संस्थान या संगठन के अधिकारियों को निर्णय की आवश्यकता होती है। कर्मचारियों को आदेश देने व उनके व्यवहार को प्रभावित करने वाले आदेशों के लिये शीर्ष अधिकारियों को निर्णय की आवश्यकता होती है।
6. **प्रभावी नियंत्रण-** किसी भी संस्थान या संगठन के लिये नियंत्रण एक सुधारात्मक व प्रभावी प्रक्रिया है। यह वास्तिवक कार्यों तथा पूर्व निर्धारित योजनाओं के अन्तरों को दूर करने कार्य करने का कार्य करती है। इस प्रक्रिया में ठोस निर्णय ही लिया जा सकता है।

7. **निर्णय की सर्वमान्यता-** किसी भी संस्थान या विभाग में हर स्तर पर कार्मचारी अपना कार्य अपनी कार्य-कुशलता के आधार पर करते हैं। निर्णय की आवश्कयता संगठन या संस्था के शीर्ष अधिकारी से लेकर निम्न कर्मचारी तक सभी के लिये होती है। अतः हम कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया सर्वमान्य होती है।
8. **शीर्ष अधिकारियों का मूल्यांकन-** निर्णय की प्रक्रिया केवल संस्थान या विभाग के लिये ही सहायक नहीं होता है, बल्कि यह इस बात में भी सहायक होता है कि, लिये गये निर्णय कितने प्रभावशाली हैं, उनका विभाग या संस्थान पर क्या प्रभाव पड़ा है। निर्णय की प्रक्रिया में जो भी अधिकारी निर्णय ले रहा होता है उसका मूल्यांकन इस बात से होता है कि उसके द्वारा लिया गया निर्णय विभाग के लिये कितना हितकारी रहा।
9. **निर्णय संस्था या विभाग की सफलता का भी आधार है-** यदि विभाग के शीर्ष अधिकारी या उत्तर दायित्व प्राप्त अधिकारी विभाग या संस्था के हित में कोई भी निर्णय लेते हैं, जिससे विभाग उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता है तो यह उस विभाग की कार्य प्रणाली व अधिकारियों व कर्मचारियों की कार्य प्रणाली को दर्शाता है। सही निर्णय संस्थान में कर्मचारियों के असंतोष को पैदा नहीं होने देते हैं। हड़ताल, बंदी या कार्य बहिष्कार जैसी घटनाएं सही निर्णय लेने वाले संस्थान में नहीं पायी जाती है।

7.7 निर्णय करने के आधार

निर्णय करने में सहायता देने वाले तत्वों के सम्बन्ध में सभी एकमत दिखाई पड़ते, कदाचित ऐसे कोई निश्चित आधार नहीं हैं। हर निर्णय ऐसे मानदण्ड या आधार पर निर्भर करता है, जो उस परिस्थिति विशेष में महत्वपूर्ण होता है। निर्णय तक पहुँचने से साधन विवेकपूर्ण, विमर्शित, भावनात्मक, आवेगशील या अभ्यासयुक्त हो सकते हैं। प्रज्ञा, तथ्य, अनुभव तथा सत्ता ऐसे सामान्य आधार हैं, जो निर्णय तक पहुँचने में प्रयोग किये जाते हैं। सेक्लर-हडसन ने ऐसे बारह तत्व गिनाये हैं, जो निर्णय करते समय अवश्य विचारणीय हैं: ''कानूनी मर्यादाएँ, बजट, लोकाचार, तथ्य, इतिहास, मनोबल, अनुमानित भविष्य, उच्च श्रेणी, निपीड़ समूह, कर्मचारी-वर्ग, कार्यक्रम की स्वरूप तथा अधीनस्थ कर्मचारीगण।'' निर्णय करते समय जिस बात पर जोर दिया जाना चाहिए वह यह है कि निर्णय का आधार कल्पना न होकर व्यावहारिक होना चाहिए। हमारे देश में शासन के विरूद्ध दुर्भाग्य से प्रायः यह शिकायत सुनी जाती है कि निर्णय योग्यता पर आधारित ना होकर जाति, धर्म, भाषा, प्रदेश राजनीति, इत्यादि पर अधिक आधारित होते हैं। अन्य शब्दों में, निर्णय पक्षपातपूर्ण होते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. जार्ज टैरी के अनुसार "प्रबन्धकों का कार्य निर्णय लेना है।" सत्य/ असत्य
2. यह कथन किसका है कि "निर्णय किसी क्रिया विधि के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का चयन करना है।"
   क. टैरी ख. कूंज एवं विहरिच ग. ऐलन घ. जोसेफ मैसी
3. डॉ0 जेपी ग्लोवर कहते हैं कि "चुने हुए विकल्पों में से किसी एक के सम्बन्ध में निर्णय करना ही निर्णय है।" सत्य/ असत्य
4. निर्णय की विशेषता है कि यह श्रेष्ठ विकल्प की खोज एवं चयन की प्रक्रिया है। सत्य/ असत्य
5. निर्णय में 'समय तत्व' का विशेष महत्व होता है। सत्य/ असत्य
6. चेस्टर बर्नाड ने निणर्य को उसके उद्देश्यों एवं वातावरण के अनुसार कितने भागों में बॉटा गया है?
   क. 2 ख. 3 ग. 4 घ. 5
7. प्रो0 अनेस्ट डेल ने कितने प्रकार के निर्णयों का उल्लेख किया है ?

क. 3 ख. 4 ग. 8 ग. 10

7.8 सारांश

इस इकाई में हमने निणर्य लेने की प्रक्रिया का पूर्ण अध्ययन किया और हम यह समझ पाऐ कि निर्णयों का महत्व इसी में है कि वो क्रियान्वित किये जायें अन्यथा निर्णयों का कोई महत्व नहीं रह जायेगा। निर्णयों को कैसे लिया जाये? निर्णयों को लेने की प्रक्रिया क्या हो इसका भी इस पाठ में हमने गम्भीरता के साथ अध्ययन किया। निर्णयों का पालन किसी विभाग में कैसे हो, क्या निर्णय का पालन कराने में शक्ति का प्रयोग किया जाये या फिर सहयोग की भाषा से निर्णय का पालन कराया जाये इसका अध्ययन भी इस अध्याय में किया गया। साराशंतः हमने इस इकाई में सीखा कि प्रशासन में निर्णय एक निश्चित प्रक्रिया का परिणाम होते हैं। निर्णय की तीन विशेषताएं होती हैं। पहला- निर्णय लक्ष्योन्मुख होता है। निर्णय सामान्यतः किसी लक्ष्य या उद्देश्य को पूरा करने के लिये किये जाते हैं। दूसरा- निर्णय एक क्रमिक श्रंखला होती है, यानि हम कह सकते हैं कि कोई भी निर्णय अकेला नहीं होता है। सारे निर्णय एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। तीसरा- कोई भी निणर्य किसी खास अवधि में होता है। निर्णय की घटना उस समय के सभी कारकों को प्रभावित करती हैं। अतः हम इस अध्याय को पढ़ने के बाद यह कह सकते हैं कि प्रशासन में निणर्य प्रक्रिया का अध्ययन जैसे-जैसे वैज्ञानिक बने वैसे-वैसे उनकी उपयोगिता बढ़ती चली गयी।

7.9 शब्दावली

उत्तरोत्तर- क्रमबद्ध विकास, श्रंखला- कड़ी, अन्तर्दर्शी– सूक्ष्मता से देखने वाला या गहराई से देखने वाला, शीर्ष- उच्च।

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** क, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** क, **7.** क

7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. व्यवसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एव उद्यमिता- जी0 एस0 सुधा, रमेश बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली।
2. लोक प्रशासन - अवस्थी एवं माहेश्वरी ।
3. बिजनस डिसीजन मैकिंग- जे0 एस0 मार्च।
4. एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर- हर्बट सीमेन्स।
5. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।

7.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन- अवस्थी एवं माहेश्वरी ।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।

7. 13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. इस कथन को स्पष्ट कीजिए कि प्रशासन मूलतः निर्णय की प्रक्रिया है।
2. निर्णय का अर्थ एवं स्वरूप को समझाइये।
3. आपके अनुसार निर्णय क्या है विस्तार में समझाये।
4. निर्णय कितने प्रकार का होता है? विस्तार से चर्चा करिये।

इकाई- 8 निर्णय करने की समस्याएं, नीति निर्धारण एवं हर्बर्ट साइमन

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 निर्णय कैसे लेना चाहिए?
8.3 निर्णय करने की समस्याएँ
8.4 नीति निर्धारण और निर्णय में सम्बन्ध
8.5 नीति निर्धारण एवं हर्बर्ट साइमन
8.6 हर्बर्ट साइमन तथा निर्णय प्रक्रिया एक दृष्टि में
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

हर्बर्ट साइमन ने निर्णय प्रक्रिया में मूल्य-वरीयताओं के सन्दर्भ में मानव के व्यवहार का विश्लेषण भी किया है। निर्णय की प्रक्रिया में जटिलताओं और समस्याओं को भी मानव व्यहार के साथ जोड़ा जा सकता है। यही कारण है कि लोक प्रशासन में व्यवहारवादी उपागम के प्रमुख स्तम्भों में हर्बर्ट साइमन का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। साइमन ने माना है कि मानव व्यवहार जटिल और गतिशील है। साइमन के लिये प्रशासन कार्य करने की कला है। उन्होंने उन प्रक्रियाओं तथा विधियों पर बल दिया, जिनसे कार्यवाही सुनिश्चित हो। वह यह कहते हैं कि प्रशासनिक विश्लेषण में उस चयन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, जो कार्यवाही से पहले किया जाना है। कार्यवाही की अपेक्षा क्या करना है? के प्रश्न के निर्धारण पर उचित ध्यान नहीं मिला। निर्णय लेना चयन की वह प्रक्रिया है जिस पर कार्यवाही आधारित होती है। किसी भी संगठन में निर्णय बहुत से लोगों द्वारा किया जाता है। अतः निर्णय सहकारी रूप में सहयोगपूर्वक ही किये जाते हैं। सार्वजनिक विश्लेषण सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय कदाचित ही एक मनुष्य करता है। सेक्लर हडसन के शब्दों में, ''शासन में निर्णय करना एक ऐसा कार्य है जिसे एक से अधिक लोग मिलकर करते हैं। अकेला व्यक्ति चाहे निर्णय की घोषणा भले ही कर दे किन्तु निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया में बहुत-से व्यक्तियों का योग रहता है। यह कार्य राजनीतिक प्रणाली का ही एक भाग है।'' फिर भी, जब निर्णय के अन्तिम विश्लेषण का समय आता है, तब संगठन के प्रबन्धक या मुख्य निष्पादक को ही अन्तिम निर्णय करना होता है। कोई भी प्रशासक जो अपने पद के योग्य हो, अपने इस उत्तर दायित्व से पीछे नहीं हट सकता। या तो वह निर्णय करता है या उसे पद-त्याग करना पड़ता है। व्यस्त तथा कार्यभार से दबे एक निष्पादक को निसन्देह सहायता और कर्मचारी वर्ग के सहयोग की आवश्यकता होती है। उसे ये सारी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। निर्णय देते समय प्रशासक को प्रश्न से सम्बन्धित आवश्यक पूर्व उदाहरणों का ज्ञान प्राप्त होनी चाहिए और उसे भावी परिस्थितियों तथा घटनाओं और उन पर निर्णय के प्रभाव का पूर्वानुमान कर लेने का प्रयत्न करना चाहिए।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- यह जान पायेंगे कि निर्णय की समस्याएं क्या हैं।
- निर्णय की स्वरूप क्या होती है, इसे जान पायेंगे।
- किसी भी विभाग या संस्थान के लिये निर्णय करने का आधार क्या होता है, यह कैसे लिये लिया जाता है, निर्णय लेने में कैसी समस्याएं आ सकती हैं।
- इस इकाई में हम निर्णय प्रक्रिया को विस्तृत रूप से अध्ययन कर पायेंगे।

8.2 निर्णय कैसे लेना चाहिए?

इस प्रश्न का कदाचित कोई भी पूर्ण रूप से सही उत्तर नहीं दे सकता। कोई भी ऐसा नियम नहीं जो सम्भवतः सभी अवसरों पर ठीक प्रकार से प्रयुक्त हो सके। फिर भी इस प्रक्रिया में एक बात विशेष रूप से सहायक होती है; वह है निर्णय लेने का अभ्यास। यह ठीक ही कहा गया है कि कोई भी मनुष्य तैरने के विषय में पुस्तकें पढ़कर या दूसरों को तैरते देखकर तैरना नहीं सीख सकता। तैरना सीखने के लिए उसे पानी में तैरने का अभ्यास करना पड़ेगा। यह कथन निर्णय लेने के सम्बन्ध में भी पूरी तरह लागू होता है। इसीलिए प्रशासकों को निर्णय देने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। टैरी ने इस विषय में निम्नांकित उपाय निर्धारित किये हैं, जिनका क्रमवार अनुगमन करने से निर्णय लेने में बड़ी सहायता मिलती है-

1. यह निश्चय करना चाहिए कि समस्या क्या है;
2. समस्या की सामान्य पृष्ठभूमि से सम्बन्धित सूचना तथा विभिन्न दृष्टिकोण एकत्र करने चाहिए;
3. कार्य-साधन का सर्वोत्तम मार्ग बताना चाहिए;
4. योजना तथा कामचलाऊ निर्णय निश्चित करने का प्रयास करना चाहिए;
5. इस कामचलाऊ निर्णय का मूल्यांकन करना चाहिए;
6. निर्णय करना चाहिए और उसे क्रियान्वित करना चाहिए; तथा
7. प्राप्त परिणामों के प्रकाश में भावी कदम निश्चित करना और यदि आवश्यक हो तो निर्णयों में संशोधन करना चाहिए।

8.3 निर्णय करने की समस्याएँ

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि निर्णय करना अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। इसके पश्चात निर्णय करने में आने वाली निम्नलिखित कठिन समस्याओं की ओर भी ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य है-

1. **दिनचर्या में लगना-** किसी सार्वजनिक या व्यापारिक संगठन में निर्णय करने की क्रिया का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि रोजमर्रा की समस्याएँ कभी-कभी हावी होने लगती हैं, जिसके कारण दीर्घकालीन निर्णय या तो छोड़ दिये जाते हैं या स्थगित कर दिये जाते हैं। ऐसे मनुष्यों का, जिन पर रोजमर्रा की क्रियाओं तथा दीर्घकालीन योजना दोनों का ही उत्तर दायित्व है, यह अनुभव है कि उनका अधिकांश समय रोजमर्रा की क्रियाओं के संचालन में ही चला जाता है। इस इस स्थिति को मार्च 'ग्रेशम का योजना सम्बन्धी नियम' कहता है। उसके द्वारा इस क्षेत्र में प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों के परिणाम ज्यों के त्यों यहाँ दिये जाते हैं-

''हमने निष्पादन की निर्णय सम्बन्धी समस्या की मुख्य विशेषताओं को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। प्रारम्भिक प्रयोग में प्रयोज्यों को अपेक्षाकृत प्रशासन सम्बन्धी सरल छोटे-छोटे कार्य दिये गये थे।'' इस कार्य में तीन प्रकार के कार्यकलाप निहित थे-

दैनिक स्वरूप के पत्र-व्यवहार- उन्हें सम्बद्ध लिपिकों से विभिन्न भण्डारागारों की सम्पत्ति की गणना सूची की सूचना के बारे में पत्र-व्यवहार करना पड़ता था।

अन्तर्वर्ती योजना- इसके अनुसार प्रषासकों द्वारा लिपिकों के समूहों को भण्डारागारों को आवश्यक कार्यभार सौंपना होता था, ताकि प्रत्येक समूह पर लगभग समान कार्य-भार बना रहे। यह दूसरा कार्य था।

सामान्य योजना- कार्य-प्रणाली में कोई अन्य उपयुक्त परिवर्तन प्रस्तावित करना उनका तीसरा कार्य था।

''उनसे यह कह दिया गया था कि इन तीनों कार्यों में से प्रत्येक कार्य समान रूप से महत्वपूर्ण है, और सब पर समान रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। 'निष्पादकों' को इन कार्यो के अभ्यस्त हो जाने के लिए कुछ अवधि तक प्रशिक्षण देने के पश्चात कार्यभार को (उस गति जिस पर भण्डारागारों की सूचना प्राप्त की जाती थी) व्यवस्थित रूप से परिवर्तित कर दिया गया। जैसे-जैसे कार्यभार में परिवर्तन होता गया, हम यह अवलोकन करते रहे कि उनके योजना सम्बन्धी क्रियाकलापों पर अपने समय को थोड़ा भाग ही व्यय किया। जब कार्यभार बहुत अधिक था तो इस काल में कोई योजना दृष्टिगोचर ही नहीं हुई।''

2. **कौन सी समस्या हल करनी चाहिए-** लगभग प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति का, चाहे व्यक्तिगत जीवन में हो या कार्यालयीय जीवन में, इस प्रश्न से बहुधा सामना पड़ता है। जब तक समस्याएँ थोड़ी तथा सरल हैं, प्रशासक सबको हल कर सकता है। किन्तु जैसे-जैसे समस्याओं की संख्या बढ़ती जाती है तथा जैसे-जैसे जटिल होती जाती हैं, प्रशासक के सामने यह प्रश्न आता है कि उन बहुत-सी समस्याओं में से कौन सी समस्याएँ हल की जायें। इस प्रकार उसे किसी दिये गये निश्चित समय में कई कार्य करने होते हैं। जैसे- दीर्घकालीन बजट का अनुमोदन करना, किसी अन्य सरकारी अभिकरण को भेजने के लिए पत्र लिखवाना, किसी सम्मेलन के लिए उदघाटन भाषण तैयार करना और टेलीफोन का उत्तर देना। ऐसे अन्य अवसर आते हैं, जब समस्याएँ अपक्षाकृत कठिन तथा अधिक महत्व की होती हैं। ऐसी ही समस्या यह निश्चित करते समय उठ खड़ी होती है कि देश के लिए योजना तैयार करने में किन विषयों को प्राथमिकता दी जाये? ऐसी दशा में प्रतिद्वन्द्वी माँगें तथा परस्पर विरोधी दबाव होते हैं। साधनों की तुलना में माँगे अधिक होती हैं।
3. **ठीक निर्णय क्या है-** प्रश्न यह है कि निर्णय की स्वरूप पर अधिक ध्यान रखा जाय या उसमें निहित भावना का पालन किया जाय? मार्क्स के अनुसार, ''किसी बड़े संगठन में ऐसे किसी एक महत्वपूर्ण निर्णय की ओर संकेत करना कठिन होता है जो किसी ऐसी प्रवर्तन रीति का किन्हीं अंशों में प्रयोग किये बिना ही प्राप्त हो जाय जो क्षेत्रों तथा कर्मचारी वर्ग के कागजों का समर्थन, सन्तुलन, समीक्षा तथा सहमतियों, समर्थक क्षेत्रों एवं कर्मचारियों के कागजात पर आधारित हो।'' प्रक्रिया सम्बन्धी यह उपागम उस समय स्वतः व्यर्थ हो जाता है जब निर्णय की सच्चाई को निश्चित करने के लिए मानदण्ड के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। किसी भी निर्णय का मूल्यांकन करने में उचित माध्यम से गुजरती प्रक्रिया, कार्यकुशलता और मितव्ययता नि:सन्देह महत्वपूर्ण है। किन्तु सही निर्णय के लिए कसौटी अधिक श्रेष्ठ होनी चाहिए। सामान्य हित, संविधान की आत्मा तथा दैनिक सिद्धान्त से वह मेल खाती होनी चाहिए। इससे कम किसी भी चीज से काम नहीं चल सकता।
4. **अभिनति-** निर्णय देने की प्रक्रिया में कदाचित सबसे बड़ी कठिनाई तब आती है, जब उसमें अभिनति का तत्व प्रवेश कर जाता है। यह तत्व इतना महत्वपूर्ण है कि इसका विस्तृत रूप से निरूपण करना आवश्यक है।

पक्षपात का नामोनिशान मिटा देना प्रशासन में विवेकशीलता सम्बन्धी सामान्य समस्या का एक अगं है। सरकारी अधिकारी, जिनमें सभी स्तरों तथा सभी अधिकार-क्षेत्रों के राजनीतिक प्रधान सम्मिलित हैं, समाज की नैतिकता की पुकार को सुनता है और अपने पद के अनुरूप वह समाज की नैतिकता को निर्धारित करता है। सार्वजनिक अधिकारी होने के नाते वह निरन्तर लोक विश्वास बनाये रखने के लिए उत्तर दायी होता है। वह अपने खुद के संगठन की अविभाज्यता और विश्वास बनाये रखने तथा विकसित करने के लिए भी उत्तर दायी होता है। लोक अधिकारी अपने उत्तर दायितवों के कारण अपने व्यक्तित्व को नहीं खोता। वस्तुतः उसका यह कार्य है कि वह अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोणों और कार्यकलापों का अपने पद के उत्तर दायित्वों तथा कर्तव्यों से तालमेल बैठाये। सरकार का बढ़ता हुआ महत्व इसे और भी आवश्यक बना देता है। शासन का क्षेत्र अब इतना विस्तृत हो गया है और हमारे जीवन पर ऐसा सीधा प्रभाव डालने लगा है कि नागरिकों को प्रशासकों की निरन्तर बढ़ती हुई शक्तियों से सुरक्षा देने की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता है। जनता को यह आशा करने का पूर्ण अधिकार हैं कि सभी सरकारी अभिकरण एक स्वतन्त्र तथा वस्तुनिष्ठ आधार पर कार्य करें। इसके फलस्वरूप प्रशासकीय निर्णयों में विश्वास तथा उनके प्रति सम्मान बना रहता है। शासकीय अधिकारी के आचरण के जिस पहलू से यहाँ हमारा सम्बन्ध है, वह है अभिनति।

8.4 नीति निर्धारण और निर्णय में सम्बन्ध

किसी संगठन या संस्थान में वहाँ की नीति उस संगठन या संस्थान के निश्चिचय निर्णयों की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होता है। जब संगठन या संस्थान की नीति निर्धारित हो जाती है तो बाद में संस्थान द्वारा लिये जाने वाले समस्त निर्णय इन नीतियों के अनुसार ही होते हैं। संगठनात्मक विधि द्वारा एक मार्ग निश्चित कर दिया जाता है और निर्णय प्रायः नीति द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुसार ही निर्धारित किया जाता है। नीति अपेक्षाकृत विस्तृत होती है, अनेक समस्याओं को प्रभावित करती है। इसके उलट निर्णय का सम्बन्ध एक विशेष समस्या से होता है। निर्णयों को आवश्यकता व परिस्थितियों के अनुरूप बदला जा कसता है।

8.5 नीति निर्धारण एवं हर्बर्ट साइमन

लोक प्रशासन में व्यवहारवादी उपागम के प्रमुख स्तम्भों में हर्बर्ट साइमन का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उनका जन्म सन् 1916 में विस्कोन्सिन (अमेरिका) में हुआ था। 1978 में उन्हें अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया, जबकि वे अर्थशास्त्री नहीं थे। उनका महत्वपूर्ण योगदान 'प्रबन्ध विज्ञान' के क्षेत्र में है। वस्तुतः निर्णय कि प्रक्रिया के विश्लेषण पर उनके विशिष्ट योगदान के लिए ही उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। उन्होंने प्रबन्ध को निर्णय के समकक्ष माना है। उनके लिए प्रबन्ध की समस्त कार्यवाही निर्णय है।

हर्बर्ट साइमन की रचना 'ऐडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर' 'निर्णय प्रक्रिया' के अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ माना जाता है। उसने निर्णय निर्माण प्रक्रिया में मूल्य वरीयताओं के सन्दर्भ में 'मानव व्यवहार' का विश्लेषण किया। यही वह केन्द्रीय सम्बद्धता है, जो संगठन और उसके कार्य को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। साइमन की विचारधारा का मूल निष्कर्ष यह है कि ''संगठन का अध्ययन करने के लिए व्यक्ति को निर्णय प्रक्रियाओं की जटिल संरचना का अध्ययन करना चाहिए।''

साइमन के लिए प्रशासन 'कार्य कराने' की कला है। उन्होंने उन प्रक्रियाओं तथा विधियों पर बल दिया, जिनसे कार्यवाही सुनिश्चित हो। वह कहते हैं कि प्रशासनिक विश्लेषण में उस चयन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, जो कार्यवाही से पहले किया जाना है। निर्णय लेना चयन की वह प्रक्रिया है, जिस पर कार्यवाही आधारित होती है।

साइमन ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि इस आयाम को भली प्रकार समझने के अभाव में, प्रशासन का अध्ययन अधिकांश रूप में अपर्याप्त रहेगा, क्योंकि यही संगठन में व्यक्ति के व्यवहार को सुस्थिर करता है। व्यवहारवादी उपागम में कार्यवाही से पूर्व की प्रक्रिया को समझने को प्रयास किया जाता है; इसे निर्णय लेने की प्रक्रिया के नाम से जाना जाता है।

साइमन ने इस बात पर बल दिया है कि निर्णय से अभिप्राय 'तथ्यों' एवं 'मूल्य' तत्वों का उचित योग होता है। 'तथ्य' से अभिप्राय है कि कोई वस्तु क्या है, क्या थी अथवा क्या रही है? तथ्य सच्चाई की अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत, 'मूल्य' से तात्पर्य पसन्दगी से है। मूल्य वरीयता की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए यह तथ्य पर आधारित नहीं होती।

साइमन के अनुसार प्रत्येक निर्णय अनेक तथ्यों और एक या अनेक मूल्य वक्तव्यों का परिणाम होता है। विकल्प या निर्णय में तथ्य तथा मूल्य दोनों शामिल होते हैं। ये किसी निर्णय में सम्मिलित नैतिक एवं तथ्यपरक तत्वों के विश्लेषण की कसौटियों को स्पष्ट करते हैं। साइमन ने उदाहरण दिया है कि मानो एक सेनापति आक्रमण की पद्धति के बारे में निर्णय करना चाहता है। वह इस मूल्य वक्तव्य से शुरू करता है, 'मुझे आक्रमण करना चाहिए।' यह 'मूल्य' वक्तव्य है। इसके विपरीत तथ्य वक्तव्य है 'अचानक आक्रमण ही सफल होता है।' यह तथ्य अनेक पूर्व अनुभवों पर आधारित है। इस 'तथ्य' एवं 'मूल्य' सम्बन्धी कथनों को संयुक्त करने पर 'निर्णय' सम्भव होता है। इस प्रकार हर निर्णय 'तथ्य कथनों' के संयोग का परिणाम है।

साइमन के अनुसार निर्णय लेने की आवश्यकता उस समय उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति के पास किसी कार्य को करने के लिए बहुत-से विकल्प होते हैं। परन्तु व्यक्ति को छंटनी की प्रक्रिया के माध्यम से केवल एक ही विकल्प चुनना होता है।

साइमन का मत है कि 'निर्णय' का अर्थ विभिन्न विकल्पों में से चुनाव करना है। जब कोई समस्या सामने होती है तो उसके विभिन्न विकल्प होते हैं। निर्णयकर्ता को अधिकतम लाभ या वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उनमें से चयन करना पड़ता है। मानव की बुद्धिमत्ता इसमें है कि वह ऐसे विकल्प का चुनाव करे जिससे अधिकतम सकारात्मक तथा न्यूनतम नकारात्मक परिणाम निकले। इस दृष्टि से साइमन ने निर्णय की प्रक्रिया को अग्रांकित तीन चरणों में बांटा है-

1. **अन्वेषण क्रिया-** निर्णय के इस प्रारम्भिक चरण में यह पता किया जाता है कि कब और कहाँ निर्णय की आवश्यकता होती है। साथ ही, इनमें निर्णय की उपयुक्त दशाओं के लिए बाह्य एवं आन्तरिक वातावरण की खोज की जाती है। इसमें संगठन की आन्तरिक नीतियों, प्रबन्धकीय व्यवहार एवं चिन्तन, संगठनात्मक लक्ष्यों, मूल्यों व दर्शन के साथ-साथ बाह्य सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक मूल्यों, सामाजिक प्रारूपों, अभिवृत्तियों, आदि का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।
2. **डिजाइन क्रिया-** इस चरण में विभिन्न सम्भावित क्रियाविधियों का विकास एवं विश्लेषण किया जाता है। कार्य के विभिन्न विकल्पों की खोज की जाती है।
3. **चयन क्रिया-** निर्णय प्रक्रिया के तीसरे अन्तिम चरण में समस्त उपलब्ध क्रियाविधियों में से श्रेष्ठ क्रियाविधि का चयन किया जाता है। यह चयन विभिन्न विकल्पों की पारस्परिक तुलना एवं विश्लेषण के आधार पर किया जाता है।

साइमन के अनुसार निर्णय निर्माण तार्किक चयन पर आधारित होना चाहिए। उन्होंने तार्किकता की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह मूल्यों की किसी प्रणाली के सन्दर्भ में वरीयता प्राप्त व्यवहार विकल्पों का एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके द्वारा व्यवहार के परिणामों का मूल्यांकन किया जा सके। कोई निर्णय तभी औचित्यपूर्ण या तार्किक माना जाता है, जबकि इसके लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधनों का चयन किया जाता है। साइमन लिखते हैं कि किसी भी प्रशासनिक निर्णय का सही होना एक सापेक्षिक बात है। यह तभी सही होता है जबकि यह अपने

निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधनों का चुनाव करता है। साइमन पूर्ण तार्किकता की अवधारणा को नकारते हैं, क्योंकि यह अतार्किक मान्यताओं पर आधारित है। पूर्ण तार्कितता इस विश्वास पर आधारित है कि निर्णयकर्ता सर्वदर्शी है तथा उसे सभी प्राप्त विकल्पों तथा उनके परिणामों के ज्ञान है। दूसरे यह भी मान्यता है कि निर्णयकर्ता के पास असीमित कम्प्यूटरीय योग्यता है। अन्त में उसका विश्वास है कि निर्णयकर्ता में सभी सम्भावित परिणामों को एक व्यवस्था में रखने की क्षमता है। साइमन का कहना है कि ये सभी मान्यताएं मौलिक रूप से गलत हैं। कौशलों, आदतों, मूल्यों तथा ध्येय की अवधारणा तथा अपने कार्य के संगत ज्ञान की सीमा के रूप में निर्णयकर्ता की अनेक सीमाएं हैं। इसलिए साइमन का कहना है कि संगठन का पूर्ण तार्किकता की अवधारणा के साथ नहीं चलना चाहि, बल्कि उसे 'सीमित तार्किकता' के आधार पर कार्य करना चाहिए। साइमन के अनुसार व्यक्ति केवल 'मर्यादित विवेकशीलता' के विचार को नकारता है। उसके अनुसार मानवीय व्यवहार ना तो पूर्ण विवेकशील (तार्किक) होता है और ना ही पूर्ण गैर-विवेकशील (अतार्किक) होता है वरन् यह 'मर्यादित विवेकशील' होता है। इसी सीमित तार्किकता के सन्दर्भ में साइमन तुष्टिकरण की अवधारणा विकसित करते हैं। तुष्टिकरण शब्द 'तुष्टि' तथा 'पर्याप्तता' शब्दों से बना है। चूँकि पूर्ण तर्कसंगता असम्भव है। इसलिए कार्यकारी एक काफी अच्छे चयन से सन्तुष्ट होता है।

साइमन की यह भी मान्यता है कि सभी विकल्पों और उनके परिणाम को जानने में लोगों की योग्यता सीमित है और यह सीमा बन्धन पूर्णतः तर्कसंगत निर्णय को असम्भव कर देता है। चूँकि लोगों को भावी घटनाओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं हो सकती है, इससे वे अपने सीमित ज्ञान के सहारे कम परिपूर्ण निर्णय कर लेते हैं। सीमित जानकारी के कारण लोग ऐसे विकल्प को चुन लेते हैं, जो बिल्कुल परिपूर्ण ना होकर साधारणया ठीक होते हैं। ऐसे निर्णयों को साइमन ने 'सन्तोषजनक निर्णय' कहा है। साइमन लिखते हैं कि प्रबन्धक सदैव 'अनुकूलतम समाधानों' की खोज कर सकते हैं, किन्तु 'पर्याप्त रूप से ठीक' समाधानों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार की सीमाओं के कारण प्रबन्धकों का व्यवहार 'उच्चतम' न होकर केवल 'सन्तोषप्रद' ही हो जाता है।

साइमन का कहना है कि निर्णय के तथ्यात्मक पक्ष में प्रबन्धक का निदेशन कार्यक्षमता की कसौटी द्वारा होना चाहिए। इस कसौटी का आधार है, सीमित साधनों में उच्चतम परिणाम प्राप्त करना। दो समान लागत विकल्पों में इसके अन्तर्गत उसे चुना जाये जो संगठन लक्ष्यों की अधिकतम पूर्ति करने में सहायक हों तथा ऐसे दो विकल्पों जिनका उपलब्धि स्तर समान हो, में से वह विकल्प चुना जाये जिसकी लागत अपेक्षाकृत कम हो।

साइमन संयोजित तथा असंयोजित निर्णयों में स्पष्ट अन्तर करते हैं। संयोजित निर्णय वे हैं जो स्वरूप से दुहराये जाने वाले तथा आम होते हैं। ऐसे निश्चित प्रक्रिया बनायी जा सकती है। प्रत्येक निर्णय पर अलग से विचार करना आवश्यक नहीं। ऐसे निर्णय में गणितीय मापांक तथा कम्प्यूटर निर्णयकर्ता को तार्किक निर्णयों को लेने में मदद कर सकते हैं। इसके विपरीत, असंयोजित निर्णय नये तथा अनबद्ध होते हैं। कोई पहले से तैयार पद्धतियां उपलब्ध नहीं होती तथा प्रत्येक प्रश्न या मसले पर अलग से विचार करना होता है।

साइमन के अनुसार निर्णय कार्यों का विशिष्टीकरण मुख्यतः निर्णय केन्द्रों से तथा निर्णय केन्द्रों की ओर पर्याप्त संचार-मार्गों के विकास पर निर्भर करता है। अतः संगठन में औपचारिक एवं अनौपचारिक संचार सूत्र होने चाहिए। किसी परिणाम के सही अनुमान के लिए भविष्य में दृष्टिपात करने की क्षमता होनी चाहिए। सापेक्ष दृष्टि से उचित निर्णय एक ऐसी स्थिति है, जिसमें कुछ विकल्प और उनके परिणाम ज्ञात होते हैं और उनमें से चयन किया जाता है। साइमन के अनुसार निर्णय लेने के सम्बन्ध में मनुष्य के वास्तविक आचरण का अध्ययन किया जाना चाहिए।

अमरीका के राज्य सचिव मैकनामारा ने एक बार कहा था कि मुझे एक समस्या से सम्बद्ध पूरे तथ्य या सारी सूचना दे दीजिए और मैं पूरा सही निर्णय ले लूंगा। इसलिए आज सभी प्रशासनिक संगठनों में ज्यादा-से-ज्यादा तथ्य संकलित किये जाते हैं।

साइमन के अनुसार निर्णय तीन तरीकों से स्वीकृत कराये जा सकते हैं। एक तरीका शक्ति के प्रयोग का है। दूसरा मार्ग भावनात्मक सहानुभूति और सम्मोहन का है। तीसरा तरीका सहयोगियों में निर्णय के प्रति समान आदर और औचित्य का भाव जाग्रत करना है। यह तभी सम्भव है, जबकि उन्हें परिस्थिति और तथ्यों से अवगत कराया जाये। साइमन के अनुसार उच्चाधिकारियों को निर्णय लेते समय अधीनस्थ अधिकारियों से परामर्श करना चाहिए, भले ही वह उनके परामर्श को न मानें।

साइमन के मॉडल में बड़ा ही उपयोगी और यथार्थवादी दृष्टिकोण है, जिसमें निर्णयकरण प्रक्रिया में व्यवहारपरक पहलुओं पर ध्यान देने को विशेष महत्व दिया गया। साइमन का मॉडल हमें संगठनात्मक जीवन की कठोर वास्तविकताओं को अधिक निकट से समझने के लिए बाध्य करता है कि प्रबन्धकीय निर्णय वस्तुतः कैसे और क्यों किये जाते हैं?

साइमन ने एक नवीन संगठनात्मक संरचना के निर्माण पर जोर दिया जो मानव मनोविज्ञान पर आधारित है। निर्णयकर्ता की विवेकशीलता सीमाओं को स्वीकार करती है, जो मानव चयन प्रक्रिया को समझती है तथा जिसमें संगठन सदस्यों की आवश्यकताओं व लक्ष्यों का सन्तुलन विद्यमान हो। वे सामाजिक प्रणाली विचारधारा के समर्थक हैं तथा उन्होंने संगठनात्मक समस्याओं को उनके समग्र सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा है।

8.6 हर्बर्ट साइमन तथा निर्णय प्रक्रिया एक दृष्टि में

1. हर्बर्ट साइमन का जन्म 1916 में विस्कोन्सिन (अमेरिका) में हुआ था।
2. 1947 में उनकी प्रसिद्ध कृति 'Administratative Behaviour- A Study of Decision Making Processes in Administrative Organizations' प्रकाशित हुई।
3. उनका महत्वपूर्ण योगदान 'प्रबन्ध विज्ञान' के क्षेत्र में है।
4. उन्होंने प्रबन्ध को निर्णय के समकक्ष माना है।
5. साइमन की रचना 'Administrative Behaviour' निर्णय प्रक्रिया के अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय कृति है।
6. साइमन के अनुसार ''संगठन का अध्ययन करने के लिए व्यक्ति को निर्णय प्रक्रियाओं की जटिल संरचना का अध्ययन करना चाहिए।''
7. साइमन के लिए प्रशासन कार्य कराने की कला है।
8. साइमन के अनुसार निर्णय ही प्रशासन का हृदय है।
9. साइमन के अनुसार निर्णय से अभिप्राय तथ्यों एवं मूल्यों तत्वों का उचित योग होता है।
10. तथ्य से तात्पर्य है कि कोई वस्तु क्या है, तथ्य सच्चाई की अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत मूल्य से तात्पर्य पसंदगी से है। मूल्य वरीयता की अभिव्यक्ति है, इसलिए यह तथ्यों पर आधारित नहीं होते।
11. साइमन के अनुसार प्रत्येक निर्णय अनेक तथ्यों और एक बार अनेक मूल्य वक्तव्यों का परिणाम होता है।
12. निर्णय लेने की आवश्यकता उस समय उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति के पास किसी कार्य को करने के लिए बहुत से विकल्प होते है।
13. साइमन ने निर्णय की प्रक्रिया को तीन चरणों में बांटा है: 1. अन्वेषण क्रिया, 2. डिजाइन क्रिया, 3. चयन क्रिया।
14. साइमन के अनुसार निर्णय निर्माण 'तार्किक' चयन पर आधारित होना चाहिए।
15. साइमन पूर्ण तार्किकता की अवधारणा को नकारते हैं, क्योंकि यह अतार्किक मान्यताओं पर आधारित है।
16. साइमन का कहना है कि संगठन को पूर्ण तार्किकता की अवधारणा के साथ नहीं चलना चाहिए बल्कि उसे 'सीमित तार्किकता' के आधार पर कार्य करना चाहिए।

17. इसी 'सीमित तार्किकता' के आधार पर साइमन तुष्टिकरण की अवधारणा विकसित करते हैं। चूँकि पूर्ण तर्कसंगतत असम्भव है, इसलिए कार्यकारी एक काफी अच्छे चयन से सन्तुष्ट होता है।
18. साइमन लिखते हैं कि प्रबन्धक सदैव 'अनुकूलतम समाधानों' की खोज कर सकते हैं, किन्तु 'पर्याप्त रूप से ठीक' समाधानों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार की सीमाओं के कारण प्रबन्धकों का व्यवहार 'उच्चतम' न होकर केवल'सन्तोषप्रद ही हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. निर्णय करते समय जिस बात पर जोर दिया जाना चाहिए वह यह है कि निर्णय का आधार कल्पना ना होकर व्यावहारिक होना चाहिए। सत्य/असत्य
2. अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया, जबकि वे अर्थशास्त्री नहीं है। सत्य/ असत्य
3. हर्बर्ट साइमन की रचना 'ऐडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर' 'निर्णय प्रक्रिया' के अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रथ माना जाता है। सत्य/असत्य
4. यह किसने कहा कि प्रशासन 'कार्य कराने' की कला है?
   क. हर्बर्ट साइमन ख. कार्ल मार्क्स ग. फाइनर घ. इनमें से कोई नहीं

8.7 सारांश

निर्णय की प्रक्रिया में समस्याएं स्वभाविक हैं इस अध्याय में हमने निर्णय की समस्याओं पर गम्भीर चर्चा की है। हमने यह भी जानने का प्रयास किया कि प्रशासक के सामने क्या-क्या समस्याएं आ सकती हैं? हम जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका निजी जीवन हो या कार्यालयी जीवन निर्णय को लेकर कोई ना कोई समस्या का सामना उसको करना ही पड़ता है। किसी भी संस्था, संगठन या विभाग के प्रशासक के सामने यह प्रश्न आता है कि कई समस्याओं में से सबसे पहले कौन सी समस्या का हल खोजा जाये? कई बार प्रशासक को दिये निश्चित समय में कार्य सम्पन्न करना होता है, जिससे उसके लिये निर्णय लेना और कठिन हो जाता है कि वो पहले किस समस्या को हल करने का निर्णय ले। ऐसे अवसर भी आते हैं जब समस्याएं कठिन व महत्वपूर्ण हों। इन सभी विषयों पर इस अध्याय में चर्चा की गयी। इस अध्याय में हर्बर्ट साइमन के नीति निर्धारण या निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर भी विस्तृत चर्चा की गयी। जिसमें हमने यह भी जाना कि हर्बर्ट साइमन केवल निर्णय निर्माण की प्रक्रिया के लिये ही नहीं जाने जाते बल्कि व्यवहारवादी उपागम के लिये भी साइमन का नाम विश्व विख्यात है। उन्होंने संगठन को परखने का नया तरीका दिया और इस सन्दर्भ में एक नये निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है। साइमन के इस अध्ययन ने उनकी इस अवधारणा ने लोक प्रशासन व प्रबन्धन को एक नया आयाम दिया है।

8.8 शब्दावली

तार्किक- विवेकशील, अभिनति- कठनाईयां, अन्वेषण- खोजना या परखना, तुष्टिकरण- किसी एक व्यक्ति या समूह को खुश करना।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** क

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. व्यस्यायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एव उद्यमिता- जी0 एस0 सुधा, रमेश बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली।
2. लोक प्रशासन - अवस्थी एवं माहेश्वरी।
3. लोक प्रशासन - डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।
4. लोक प्रशासन - डॉ0 बी0 एल0 साह।

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन- अवस्थी एवं माहेश्वरी।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।

8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. निर्णय करना क्या है? इस कथन को स्पष्ट कीजिये।
2. निर्णय लेने मे क्या समस्याएं हो सकती हैं? इस पर चर्चा करें।
3. हर्बर्ट साइमन कैसे निर्णय-प्रक्रिया को प्रस्तुत करते हैं? बताएं।

इकाई- 9 नियोजन- अर्थ, नियोजन के प्रकार और नियोजन की प्रक्रिया

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 नियोजन का अर्थ एवं उद्देश्य
9.3 नियोजन की स्वरूप
9.4 भारत में नियोजन की आवश्यकता
9.5 नियोजन के प्रकार
9.6 नियोजन की प्रक्रिया
9.7 नियोजन की मान्यताएं एवं आधार
9.8 नियोजन के आवश्यक कदम
9.9 सारांश
9.10 शब्दावली
9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.14 निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

नियोजन वह प्रक्रिया है जो दूरदर्शिता, विचार-विमर्श तथा उपलब्ध संसाधनों के व्यवस्थित उपयोग पर आधारित है तथा राष्ट्रीय उत्पादन, रोजगार एवं लोगों के सामाजिक कल्याण की पूर्व तैयारी करता है। स्वाधीनता के बाद भारत में आर्थिक विकास के लिये आर्थिक नियोजन की अवधारणा को स्वीकार किया गया। भारत में नियोजन प्रक्रिया में योजना आयोग की केन्द्रीय भूमिका है। योजना आयोग सामान्य रूप से आरम्भ हुआ था, परन्तु कुछ ही समय में उसने एक विशाल संगठन का रूप धारण कर लिया।

नियोजन प्रक्रिया को अधिक लोकतांत्रिक तथा पारदर्शी बनाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन किया गया। इसके माध्यम से नियोजन प्रक्रिया में राज्यों की भूमिका को बढ़ाने का प्रयास किया गया। नियोजन के इन सभी पहलुओं के बारे में इस इकाई में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नियोजन के अर्थ, उद्देश्यों और नियोजन के प्रकारों के विषय में जान पायेंगे।
- भारत में नियोजन की प्रक्रिया और इस प्रक्रिया में केन्द्रीय भूमिका निभाने वाले योजना आयोग के संगठन तथा कार्यों के विषय में विस्तार से जान पायेंगे।
- राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना एवं कार्यों के विषय में जान पायेंगे।
- भारत में नियोजन प्रक्रिया को समझ पायेंगे।

9.2 नियोजन का अर्थ एवं उद्देश्य

फेयोल के अनुसार, नियोजन का अर्थ है 'पूर्व दृष्टि' अर्थात आगे क्या-क्या कार्य किये जाने हैं? नियोजन साधनों के संगठन की एक विधि है, जिसके माध्यम से साधनों का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है। डी0 आर0 गाडगिल के अनुसार ''आर्थिक विकास के लिये नियोजन से यह तात्पर्य है कि नियोजन प्राधिकारी द्वारा आर्थिक गतिविधियों की वाह्य निर्देशन अथवा नियमन करना जो कि अधिकतर मामलों में सरकार या राष्ट्र के रूप में चिन्हित किये जाते है।''

योजना आयोग ने अपने प्रपत्र में उद्धत किया था कि नियोजन सम्पूर्ण नीति निर्माण करने के लिए स्पष्ट रूप से परिभाषित उद्देश्यों की व्यवस्था है। यह परिभाषित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए रणनीति के निर्माण के रूप में भी देखी जा सकती है। नियोजन निश्चित ही साधन एवं साध्य के एक सफल संयोजन का प्रयास है।

नियोजन के उद्देश्य में आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में सम्मिलित हैं- आर्थिक विकास को बढ़ावा देना, सामाजिक न्याय, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, गरीबी निवारण एवं रोजगार अवसरों का सृजन, आत्म निर्भरता की प्राप्ति, निवेश एवं पूँजी निर्माण को बढ़ावा, आम वितरण एवं क्षेत्रीय विषमता दूर करना, मानव संसाधन तथा वैश्वीकरण के दौर में गरीबों को सुरक्षा प्रदान करना, तीव्र आर्थिक विकास के साथ समावेशी विकास की संकल्पना।

नियोजन के मुख्यतः तीन के उद्देश्य होते हैं –

1. **आर्थिक उद्देश्य-** नियोजन का आर्थिक उद्देश्य अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार, नियोजन में राष्ट्रीय आय का समान वितरण तथा अविकसित क्षेत्रों का विकास। राष्ट्र के समस्त नागरिकों को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्रदान करके असमानता को दूर करना तथा जीवन स्तर को उच्च करने के लिये उत्पादन के समस्त क्षेत्रों-कृषि, उद्योग, खनिज आदि में बढ़ोत्तरी करना है।
2. **सामाजिक उद्देश्य-** नियोजन का सामाजिक उद्देश्य एक विकसित एवं समता मूलक-वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना है।
3. **राजनीतिक उद्देश्य-** नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य देश में राजनीतिक स्थिरता बनाये रखना है, जो कि एक सशक्त अर्थ व्यवस्था तथा विकसित समाज द्वारा सम्भव है।

9.3 नियोजन की स्वरूप

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत अग्रिम रूप से यह निर्धारित किया जाता है कि उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए क्या कार्य करने हैं, कब और किस विधि से करने हैं, किन संसाधनों का उपयोग करना है तथा नीतियों व नियमों को अपनाया है? संक्षेप में नियोजन भावी कार्यकलापों का निर्धारण है ।

नियोजन की स्वरूप अथवा विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य-** नियोजन प्रबन्ध का सर्वोपरि एवं प्राथमिक कार्य है। नियोजन के बिना अन्य प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन करना सम्भव नहीं होता। वस्तुत: प्रबन्ध की प्रक्रिया नियोजन से ही प्रारम्भ होती है। नियोजन के अभाव में ना तो संसाधनों का एकत्रीकरण किया जा सकता है और ना ही किसी को नियंत्रित, निर्देशित अथवा अभिप्रेरित किया जाना सम्भव है। नियोजन ही अन्य सभी प्रबन्ध कार्यों की आधार शिला एवं प्रारम्भिक बिन्दु है।
2. **बौद्धिक प्रक्रिया-** नियोजन के लिए व्यक्ति में पर्याप्त कल्पनाशक्ति, विवेक, दूरदृष्टि, चिन्तन व निर्णय क्षमता का होना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, योजना के निर्माण में प्रबन्धक को कई मानसिक कार्य करने पड़ते हैं। जैसे- तथ्यों का विश्लेषण, भावी दशाओं का मूल्यांकन, विकल्पों की खोज व चुनाव, उद्देश्यों का निर्धारण आदि। अत: नियोजन एक क्रमबद्ध चिन्तन की प्रक्रिया है। हेयन्स एवं मैसी

का कथन है कि नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है, जिसके लिए सृजनात्मक चिन्तन एवं कल्पना की आवश्यकता होती है। मैक्किन्से के शब्दों में, नियोजन प्रबन्धकीय चिन्तन का मूर्त प्रमाण है।

3. **आगे देखने की प्रक्रिया-** नियोजन का सम्बन्ध भावी गतिविधियों के निर्धारण से होता है। हॉज एवं जॉनसन लिखते हैं कि नियोजन अच्छे परिणामों की प्राप्ति हेतु भावी परिस्थितियों का पूर्वानुमान लगाने का प्रबन्ध कार्य है। इसी प्रकार एल0 ए0 ऐलन का कथन है कि योजना भविष्य को पकड़ने के लिए बनाया हुआ पिंजरा है। स्पष्ट है कि नियोजन द्वारा प्रबन्धक अपनी भावी आवश्यकताओं, समस्याओं, गतिविधियों एवं साधनों की रूपरेखा तैयार करता है।
4. **मूलत: एक चयन प्रक्रिया-** नियोजन में श्रेष्ठ निष्पादन हेतु पहले विभिन्न विकल्पों की खोज की जाती है तत्पश्चात् उनमें से एक सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव किया जाता है। बिल्ली ई0 गोत्ज का कथन है कि योजना मूलत: एक चयन प्रक्रिया है तथा नियोजन की समस्या उस समय उत्पन्न हो जाती है जब किसी कार्य के विभिन्न विकल्पों की खोज की जाती है। इस प्रकार श्रेष्ठ विकल्प का चयन करके ही योजनाओं का निर्माण किया जाता है।
5. **सर्वव्यापी कार्य-** नियोजन एक सर्वव्यापी कार्य है। इसकी आवश्यकता प्रबन्ध के सभी स्तरों- उच्च, मध्य एवं पर्यवेक्षकीय पर होती है तथा सभी विभागों- उत्पादन, वित्त, विपणन, कर्मचारी आदि में नियोजन का कर्य किया जाता है। प्रबन्ध प्रक्रिया के अन्य कार्यों- संगठन, समन्वय,अभिप्रेरणा व नियंत्रण आदि को भी नियोजित करने की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों- शिक्षा, प्रशासन, राजनीति, खेलकूद, चिकित्सा आदि में भी नियोजिन का उपयोग किया जाता है। कूंज एवं ओ डोनेल लिखते हैं कि सभी प्रबन्धक, अध्यक्ष से लेकर निरीक्षक तक नियोजन करते हैं।
6. **लक्ष्य पूर्ति में योगदान-** नियोजन संगठन के लक्ष्यों की पूर्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। नियोजन केवल लक्ष्यों के निर्धारण पर जोर देता है, वरन् विभिन्न नीतियों, कार्यपद्धतियों व कार्यक्रमों का निर्धारण करके लक्ष्य-पूर्ति में योगदान देता है। बिल्ली गोत्ज ने लिखा है कि नियोजन क्रियाओं को लक्ष्यों की ओर मोड़ देता है। बिना योजनाओं के क्रिया एक आकस्मिक कार्य बन जाती है, जो केवल अव्यवस्था को ही जन्म देती है।
7. **परस्पर आश्रित प्रक्रिया-** प्रत्येक संगठन में विभागीय स्तर पर योजनाएं बनायी जाती हैं। जैसे- उत्पाद योजना, विक्रय योजना, वित्त योजना आदि, ये विभागीय योजनाएं परस्पर निर्भर होती हैं तथा उपक्रम की विस्तृत योजना का अंग होती है। ये पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक-दूसरे पर आश्रित होती है। इस प्रकार नियोजन विभिन्न क्रियाओं के समन्वय में किया जाता है।
8. **कुशलता का मापदण्ड-** नियोजन का उद्देश्य जहाँ एक ओर उपक्रम की कार्यकुशलता में वृद्धि करना है, वहीं नियोजन को प्रबन्धकों की कार्यकुशलता एवं योजना का मापदण्ड भी माना जाताहै। नियोजन प्रबन्धकीय कार्यों की कुशलता की कसौटी है। नियोजन से प्राप्त होने वाले लाभों की तुलना उसकी आर्थिक व सामाजिक लागतों से की जा सकती है। वे योजनाएं श्रेष्ठ समझी जाती हैं, जो ना केवल कम लागत वाली हों, वरन् जो कर्मचारियों के मनोबल एवं सन्तुष्टि को भी बढ़ाती हों।
9. **सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया-** व्यवसायकी परिस्थितियों एवं साधनों के बदलते रहने के कारण इसके लक्ष्यों, नीतियों एवं कार्यक्रमों में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। फलस्वरूप, व्यवसाय में नियोजन का कार्य निरन्तर चलता रहता है। नियोजनभवी क्रियाओं के सम्बन्ध में किया जाता है, जोकि अनुमानित तथ्यों पर आधारित होता है, किन्तु दशाओं में परिवर्तन के कारण पूर्व की योजनाओं में समय-समय पर सुधार एवं समायोजन करते रहना पड़ता है।

10. **निर्णय एक अभिन्न अंग-** प्रबन्धकों को नियोजन करते समय विभिन्न निर्णय लेने होते हैं। निर्णय लेने की प्रक्रिया अर्थात् विभिन्न विकल्पों की खोज, मूल्यांकन एवं श्रेष्ठ विकल्प के चयन के आधार पर ही प्रबन्धक योजना का निर्माण करते हैं। कूंज एवं ओ डोनेल लिखते हैं कि नियोजन आवश्यक रूप से निर्णय लेना है, यद्यपि यह इससे कुछ अधिक भी है।
11. **पूर्वानुमानों पर** आ**धारित-** नियोजन भविष्य का मूल्यांकन करने एवं उसके लिए व्यवस्था करने का कार्य है जो कि पूर्वानुमानों के आधार पर किया जाता है। हेनरी फेयोल ने लिखा है कि नियोजन विभिन्न प्रकार के पूर्वानुमानों का संयोजन है। क्लाड एस0 जार्ज के अनुसार नियोजन वर्तमान में भविष्य को प्रभावित करनेवाले निर्णयों को लेने का एक विवेकपूर्ण आर्थिक एवं सुव्यवस्थित तरीका है।

9.4 भारत में नियोजन की आवश्यकता

आर्थिक नियोजन आधुनिक काल की नवीन प्रवृत्ति है जो कि मुख्यतः समाजवादी विचारधारा द्वारा पोषित राष्ट्रों की पहचान रही है। 19वीं शताब्दी में पूँजीवाद, व्यक्तिवाद व व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उन्मुक्त व्यापार नीति का बोलबाला रहा। पर रूसी क्रान्ति, विश्वव्यापी मन्दी, दो भीषण महायुद्धों, तकनीकी प्रगति, नवजात सामाजिक-आर्थिक समस्याओं आदि के कारण राष्ट्रों एवं अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियोजन के अर्थ को समझा और नियोजित अर्थव्यवस्था अपनाने पर जोर दिया।

भारत में कई कारणों से आर्थिक नियोजन की आवश्यकता महसूस की गई- 1. निर्धनता, 2. विभाजन से उत्पन्न असन्तुलन तथा अन्य समस्याऐं, 3. बेरोजगारी, 4. औद्योगीकरण की आवश्यकता, 5. सामाजिक एवं आर्थिक विषमताएँ इत्यादि।

भारत काफी पिछड़ा और आर्थिक रूप से कमजोर राष्ट्र था तथा नियोजित विकास ही एकमात्र आशा की किरण थी जो कि मिश्रित अर्थव्यवस्था के साथ तालमेल बैठाकर गाँवों तक विकास एवं आत्मविश्वास को पहुँचा सकने में समर्थ्य थी।

9.5 नियोजन के प्रकार

नियोजन के विभिन्न प्रकार हैं-

1. **परिप्रेक्ष्यात्मक नियोजन-** जिससे हमारा तात्पर्य एक दीर्घकालिक नियोजन से होता है। उदाहरण के लिए 15, 20 या 25 वर्ष तक के लिए नियोजन, पर इसका यह अर्थ नहीं होता है कि पूरे काल के लिये एक ही नियोजन हो। अभिविन्यास के आधार पर नियोजन या तो निर्देशात्मक या फिर आदेशात्मक व्यापक होते है। समाजवादी देशों में नियोजन आदेशात्मक होता है, जिसमें कि प्राधिकारी यह निर्णय लेता है कि किस क्षेत्र में कितनी राशि का निवेश किया जायेगा तथा उत्पादों का मूल्य तथा मात्रा एवं प्रकार क्या होना चाहिए? इस प्रकार के नियोजन में उपभोक्ता की सम्प्रभुता न्यून होती है और वस्तुओं का सीमित वितरण किया जाता है। वहीं दूसरी तरफ निर्देशात्मक नियोजन की स्वरूप लचीली होती है। निर्देशात्मक नियोजन मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषता है जहाँ निजी और सार्वजनिक क्षेत्र एक साथ अस्तित्व में होते है वहाँ राज्य निजी क्षेत्र को हर एक प्रकार की सुविधायें उपलब्ध कराता है। परन्तु आदेशित नहीं करता, वरन् उन क्षेत्रों को इंगित करता है, जहाँ यह नियोजन को लागू करने में मदद कर सकता है। निर्देशात्मक नियोजन स्वतंत्रता एवं नियोजन की बीच पूर्ण समझौता प्रस्तुत करता है जो कि मुक्त बाजार एवं नियोजित अर्थ व्यवस्थाओं के गुणों को अंगीकार कर लेती है और अवगुणों का सफलतापूर्वक परिवर्जन कर देती है तथा यह सर्वप्रथम 1947 से 50 के बीच फ्रान्स में लागू किया गया था।

2. **केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत नियोजन-** योजनाओं के कार्यान्वयन के आधार पर नियोजन केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत होता है। केन्द्रीकृत नियोजन के अन्तर्गत देश के सम्पूर्ण नियोजन की प्रक्रिया एक केन्द्रीय प्राधिकरण के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार का नियोजन प्रारम्भ में समाजवादी देशों, मुख्य रूप से सोवियत रूस द्वारा प्रयोग में लाया जाता था, जब वे आदेशात्मक या व्यापक नियोजन लागू कर रहे होते थे। वहीं दूसरी ओर विकेन्द्रीकृत नियोजन जैसे कि जिला, ब्लाक, गांव के स्तर पर योजना के क्रियान्वयन से सम्बन्धित होता है। जब किसी अर्थव्यवस्था के विशेष क्षेत्र या भाग तक नियोजन सीमित रहता है तो इसे क्षेत्रीय नियोजन कहते है। क्षेत्रीय नियोजन को हम आंशिक नियोजन भी कहते है। राष्ट्रीय नियोजन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को एक समष्टि मानकर नियोजन करता है, जिसका संचालन देश में किसी केन्द्रीय निकाय द्वारा होता है। राष्ट्रीय नियोजन को हम विस्तृत नियोजन कहते है।
3. **संरचनात्मक नियोजन नियोजन-** एक अन्य प्रकार का नियोजन संरचनात्मक नियोजन कहलाता है जो आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक ढ़ाँचे में वांछित परिवर्तन को महत्व प्रदान करता है। यह तुलनात्मक रूप से दीर्घकालिक नियोजन है और सामान्य तथा विकासशील एवं समाजवादी देश इनका अनुकरण करते है।
4. **क्रियात्मक नियोजन-** क्रियात्मक नियोजन वह है जो समय विशेष पर प्रचलित तथा अस्तित्ववान सामाजिक-आर्थिक ढ़ाँचे को बनाये रखने तथा उसको मजबूती देने को अपना लक्ष्य मानता है। सामान्यतया इसका सम्बन्ध विकसित देशों से है।
5. **भौतिक नियोजन तथा वित्तीय नियोजन-** भौतिक नियोजन का सम्बन्ध मानव शक्ति, मशीनों एवं कच्चे माल के अनुकूलतम वितरण एवं राशनिंग से है, जो देश के उत्पादन में वृद्धि करके विकास प्रक्रिया को गति प्रदान कर सकती है। वित्तीय नियोजन का सम्बन्ध मुद्रा के रूप में संसाधनों की व्यवस्था एवं वितरण से है जो विकास प्रक्रिया हेतु वांछित है।

9.6 नियोजन प्रक्रिया

नियोजन प्रक्रिया काफी जटिल एवं समय लेने वाली होती है। यह प्रक्रिया निम्नांकित चरणों में होती है-

1. **प्रथम चरण-** यह योजना अवधि के प्रारम्भ से लगभग तीन वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो जाता है। इस चरण में योजना आयोग द्वारा अर्थव्यवस्था की जानकारी प्राप्त करने के लिये कई सर्वेक्षण, अध्ययन एवं परीक्षण सम्बन्धी कार्य किये जाते हैं एवं विभिन्न मंत्रालयों एवं उनकी आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाया जाता है। इसके आधार पर एक खाका तैयार किया जाता है जो मंत्रीपरिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसके बाद इसे राष्ट्रीय विकास परिषद को भेजा जाता है।
2. **द्वितीय चरण-** इस चरण में योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद से प्राप्त दिशा-निर्देशों के प्रकाश में योजना का संशोधन और उसे विस्तृत स्वरूप प्रदान करते हुये प्रारूप तैयार करता है।
3. **तृतीय चरण-** इस चरण में योजना को राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति के बाद प्रारूप को सार्वजनिक विचार-विमर्श हेतु प्राख्यापित कर दिया जाता है तथा इसके अन्त में इस प्रारूप पर परामर्शदात्री समिति तथा पूरी संसद द्वारा विचार किया जाता है।
4. **चतुर्थ चरण-** इस चरण में योजना आयोग केन्द्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों और राज्य सरकारों से उनकी योजनाओं के बारे में विस्तृत विचार-विमर्श करता है। साथ ही निजी क्षेत्र के प्रमुख उद्योगों के प्रतिनिधियों के साथ भी विचार-विमर्श किया जाता है। इसके बाद योजना की विशेषताऐं, मुद्दे, प्राथमिकताऐं आदि रेखांकित करते हुये योजना आयोग एक प्रपत्र तैयार करता है, जो पहले राष्ट्रीय विकास परिषद तथा बाद में संसद के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है।

5. **पंचम चरण-** इस प्रपत्र के आधार पर योजना आयोग द्वारा योजना का अंतिम प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। जिसे केन्द्रीय मंत्रालय एवं राज्य सरकारों को उनके विचार जानने हेतु भेजा जाता है। बाद में राष्ट्रीय विकास परिषद से इसका अनुमोदन कराकर संसद द्वारा स्वीकृति प्राप्त की जाती है।

इसके पश्चात सुगम कार्यान्वयन तथा संसाधनों के आवंटन हेतु इसे वार्षिक आयोजनाओं में विभक्त किया जाता है। योजना का कार्यान्वयन केन्द्रीय मंत्रालयों एवं राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है।

9.7 नियोजन की मान्यताऐं या आधार

नियोजन को प्रभावित करने वाले कई तत्व एवं दशायें हैं। अत: नियोजन करते समय इन तत्वों एवं दशाओं को ध्यान में रखना पड़ता है तथा इनके बारे में कुछ मान्यताएं निर्धारित करनी होती हैं। नियोजन की उचित मान्यताओं का निर्धारण करके ही नियोजन को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। नियोजन की प्रक्रिया न केवल संस्थानों के आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण से प्रभावित होती है, बल्कि वर्तमान एवं भावी वातावरण भी नियोजन को गहन रूप से प्रभावित करता है। अत: योजनाओं के सुदृढ़ निर्माण एवं सफल क्रियान्वयन के लिए वातावरण सम्बन्धी मान्यताओं का निर्धारण करना आवश्यक होता है। प्रबन्ध को समस्त वातारण का तथ्यपूर्ण विश्लेषण करते हुए भावी परिवर्तनों का पूर्वानुमान करना चाहिए। कूंज एवं ओ डोनेल लिखते हैं कि योजना बनाते समय इन आधारभूत घटकों पर विचार कर लेना चाहिए ताकि यह सुनिश्चित हो जाये कि निर्णय उपयुक्त है।

स्पष्ट है कि नियोजन के आधार अथवा मान्यताओं से आशय उस भावी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक वातावरण आदि से है, जिसमें योजनाओं का क्रियान्वयन किया जाएगा। कूंज एवं ओ डोनेल के अनुसार नियोजन का आधार पूर्वानुमानित वातावरण है। इसके अन्तर्गत सभी भावी मान्यताओं, पूर्वानुमानों एवं परिस्थितियों को शामिल किया जाता है, जो भविष्य में योजना के क्रियान्वयन एवं संचालन को प्रभवित करती हैं। करलिसली के शब्दों में, नियोजन के आधार उन दशाओं के सम्बन्ध में मान्यताएं हैं, जो दीर्घकालीन नियोजन की अवधि में संस्था के बाहर विद्यमान रहती हैं।

1. **मान्यताओं की आवश्यकता-** नियोजन की मान्यताएं अथवा आधार निर्धारित करने की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से होती है-
    - नियोजन में एकरूपता लाने के लिए,
    - स्थिति के अनुसार नियोजन करने के लिए,
    - भावी संकटों को टालने के लिए,
    - सहायक योजनाओं के निर्माण से सम्पूर्ण योजना को सफल बनाने के लिए,
2. **मान्यताओं के प्रकार-** नियोजन मान्यताएं आन्तरिक तथा बाह्य प्रकार की हो सकती हैं। इनके विविध प्रकार अग्रलिखित हैं-

    क. आन्तरिक मान्यताएं- ये संस्था की आन्तरिक नीतियों, कार्यक्रमों, लक्ष्यों, आदि से सम्बन्धित होती हैं। ये निम्न प्रकार की हो सकती है-
    - संस्था की आधार भूत नीतियां,
    - संस्था का बजट,
    - संस्था के कर्मचारियों के साथ आपसी सम्बन्ध,
    - कम्पनी के माल की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति,
    - भावी विक्रय अनुमान,

- प्रबन्धकों का दृष्टिकोण एवं विचारधारा,
- कर्मचारियों की अभिप्रेरणा का स्तर,
- संस्था के संयंत्र की स्थिति,
- संस्था की वित्तीय स्थिति,
- संस्था को कच्चा माल एवं अन्य उपकरणों की उपलब्धि,

ख. बाह्य मान्यताएं- ये संस्था की बाह्य मान्यताओं को निर्धारित करती हैं। निम्नलिखित बाह्य दशाएं संस्था की बाह्य मान्यताओं को निर्धारित करती हैं।

- देश का आर्थिक एवं व्यावसायिक वातावरण,
- देश की राजनैतिक स्थिति,
- कर ढ़ाँचा,
- विदेशी सहयोग,
- निर्यात संभावनाएं,
- जन-समुदाय की धारणा,
- उद्योगों के विकास की गति,
- पूँजी की उपलब्धता,
- राजकीय नीतियां,
- देश का सांस्कृतिक वातावरण,
- सामाजिक परिस्थितियां,
- बाजार की सामान्य स्थिति,
- बचत का ढ़ाँचा,
- उत्पाद की ख्याति,

9.8 नियोजन के आवश्यक कदम

नियोजन एक व्यवस्थित एवं विवेकपूर्ण प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कदम उठाने आवश्यक होते हैं-

1. **समस्या को परिभाषित करना-** समस्या को परिभाषित करना नियोजन का वास्तविक बिन्दु है। इसके अन्तर्गत समस्या के सम्भावित भावी अवसरों पर प्रारम्भिक दृष्टि डालना तथा उपक्रम की शक्तियों एवं सीमाओं का ज्ञान करना शामिल है। इस चरण में प्रबन्धक समस्या के समाधान से होने वाले सम्भावित लाभों का ज्ञान भी कर लेता है। कूंज एवं ओ डोनेल ने समस्या को अवसर के रूप में देखा है। वे लिखते हैं कि नियोजन अवसर-स्थिति का वास्तविक निदान चाहता है। समस्या के उचित निर्धारण के बाद ही नियोजन की अन्य कार्यवाही अर्थपूर्ण होती है।
2. **उद्देश्यों का निर्धारण-** समस्या को परिभाषित करने के पश्चात् संस्था को अपने उद्देश्यों व लक्ष्यों को स्पष्ट करना चाहिए। सबसे पहले संस्था के सामान्य उद्देश्य निश्चित किये जाने चाहिए। तत्पश्चात् उन्हें विभिन्न विभागों, उप-विभागों व कर्मचारियों हेतु विभक्त कर देना चाहिए। उद्देश्य संस्था के साधनों को ध्यान में रखकर निश्चित किये जाने चाहिए तथा वे बोधगम्य एवं वास्तविक होने चाहिए। उद्देश्य किये जाने

वाले कार्यों के लक्ष्य-बिन्दु होते हैं तथा इच्छित परिणामों के मार्ग का निर्धारण करते हैं। निर्धारण के बाद इन उद्देश्यों की जानकारी सम्बन्धित विभागों एवं कर्मचारियों को दी जानी चाहिए, ताकि वे योजना निर्माण में सहयोग दे सकें।

3. **नियोजन आधारों एवं मान्यताओं की स्थापना-** नियोजन प्रक्रिया का अगला चरण उसके आधारों की स्थापना करना है। नियोजन आधारों से आशय ऐसी मान्यताओं से है, जो योजनाओं के क्रियान्वयन का वातावरण निर्मित करती हैं। इनमें विभिन्न पूर्वानुमानों, आधारभूत नीतियों तथा कम्पनी की विद्यमान योजनाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। नियोजन के आधारों को पूर्वानुमान भी कहा जा सकता है। ये आधार संस्था के आन्तरिक वातावरण जैसे- विक्रय की मात्रा, उत्पादन वित्त, श्रमिक, योग्यता, प्रबन्धकीय कुशलता आदि से सम्बन्धित हो सकते हैं। ये आधार नियंत्रण योग्य अथवा अनियंत्रण-योग्य हो सकते हैं। अत: पूर्वानुमान की वैज्ञानिक पद्धतियों व प्रवृति विश्लेषण द्वारा उन्हें ज्ञात करना चाहिए। नियोजन की मान्यताएं स्पष्ट व व्यापक होनी चाहिए तथा इनकी जानकारी नियोजन से सम्बन्धित अधिकारियों को दे देनी चाहिए।
4. **सूचनाओं का संकलन एवं विश्लेषण-** नियोजन की मान्यताओं का निर्धारण करने के पश्चात् योजना के सम्बन्धित तथ्यों और सूचनाओं का संकलन करना होता है। ये सूचनाएं विभिन्न आंतरिक स्रोतों, जैसे- पुराने रिकॉर्ड, फाइलें, विद्यमान नीतियां, प्रलेखों आदि से एकत्रित की जा सकती हैं। बाह्य स्रोतों के रूप में विभिन्न सरकारी विभागों, प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं, ग्राहक आदि से ये सूचनाएं, बाजार अनुसंधान, अवलोकन व साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। संकलन के बाद सूचनाओं का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करके योजनाओं के निर्माण में इनकी उपयोगिता ज्ञात की जा सकती है।
5. **वैकल्पिक मार्गों का निर्धारण-** इस चरण में एकत्रित की गई विभिन्न सूचनाओं, तथ्यों व मान्यताओं के आधार पर कार्य के वैकल्पिक मार्गों की खोज की जाती है। इस चरण की यह मान्यता है कि किसी भी कार्य को करने की अनेक विधियां होती हैं। अत: कार्य निष्पादन से सम्भावित विकल्पों का निर्धारण कर लिया जाना चाहिए। कूंज एवं ओ डोनेल के अनुसार शायद ही कोई ऐसी योजना हो, जिसके लिए विभिन्न युक्तिपूर्ण विकल्प न हों। सर्वोत्तम योजना का निर्माण संभावित वैकल्पिक तरीकों की खोज के द्वारा ही हो सकता है। अत: दूरदर्शिता, कल्पना एवं अनुभव तथा निर्णय की तकनीकों को प्रयुक्त करके कार्य के विभिन्न विकल्पों का निर्माण किया जाना चाहिए।
6. **विकल्पों का मूल्यांकन-** यह नियोजन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण चरण है, जिसमें वैकल्पिक तरीकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनका मूल्यांकन सापेक्षिक लाभ-दोषों के साथ-साथ संस्था की मान्यताओं एवं लक्ष्यों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। मूल्यांकन हेतु गणितात्मक विधियों जैसे- पर्ट, सी0पी0एम0, क्रियात्मक शोध एवं सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग किया जा सकता है। प्रत्यके के अपने लाभ-दोष होते हैं। कोई विकल्प अधिक लाभदायक किन्तु अधिक खर्चीला व देर से लाभ देने वालो हो सकता है। कोई विकल्प फर्म के दीर्घकालीन लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सकता है तो कोई विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति में। अत: अत्यन्त सतर्कता, कल्पना व दूरदृष्टि से विकल्पों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।
7. **सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव-** सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव नियोजन के आधारों, लक्ष्यों व संस्था की भावी आवश्यकताओं एवं साधनों के अनुरूप ही हो सकता है। नियोजन का यह चरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी में प्रबन्धक निर्णय लेकर योजना का निर्माण करता है। कई बार एक विकल्प के चयन की अपेक्षा दो या अनेक विकल्पों का मिश्रण संस्था के लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है। ऐसी दशा में प्रबन्धक उपयुक्त विकल्पों का समन्वय कर सकता है।

8. **योजना तैयार करना-** सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव कर लेने के पश्चात् योजना को विस्तार से तैयार किया जाता है। इस चरण में योजना के विभिन्न पहलुओं पर विचार करके योजना की क्रमिक अवस्थाओं का निर्धारण किया जाता है। योजना की प्रत्येक अवस्था का निष्पादन समय भी निर्धारित किया जाता है। इसी चरण में योजना अपने अन्तिम रूप में प्रकट होती है।
9. **सहायक योजनाओं का निर्माण करना-** मूल योजना के सफल क्रियान्वयन के लिए कई सहायक योजनाओं का निर्माण करना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी संस्था ने किसी नवीन उत्पाद हेतु संयन्त्र की स्थापना की योजना बनाई है, तो उसे मूल योजना के पश्चात् कर्मचारियों की भर्ती, यंत्रों व मशीन की खरीद, अनुरक्षण सुविधाओं के विकास, उत्पादन अनुसूचियां, वित्त, बीमा आदि से सम्बन्धित सहायक योजनाओं का निर्माण भी करना होगा। सहायक योजनाएं विभागीय योजनाओं के रूप में तैयार की जा सकती हैं।
10. **क्रियाओं के क्रम व समय का निर्धारण-** इस चरण में योजना को विस्तृत क्रियाओं में विभाजित करके उनका क्रम व समय निर्धारित किया जाता है ताकि आवश्यक साधनों, सामग्री व औजारों की ठीक समय पर व्यवस्था की जा सके। क्रम निर्धारित हो जाने से यह पता रहता है कि पहले कौन सी क्रिया प्रारम्भ की जानी चाहिए और उसके बाद कौन सी। समय निश्चित कर देने से प्रत्येक कार्यका निष्पादन उचित समय पर सम्भव होता है।
11. **बजट का निर्माण करना-** कोई भी योजना वित्त व्यवस्था के बिना अधूरी रहती है। योजना में निर्धारित कार्यों को वित्त प्रबन्ध द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। अत: योजना को अन्तिम रूप देने के साथ ही उसका बजट भी बना लिया जाता है। इसमें योजना की विभिन्न क्रियाओं पर खर्च की जाने वाली वित्तीय राशि का प्रावधान किया जाता है। बजट योजनाओं को नियंत्रित करने तथा योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करने का एक महत्वपूर्ण उपकरण भी होता है।
12. **योजना का क्रियान्वयन-** योजनाओं का महत्व उनके क्रियान्वयन में ही निहित है। जब तक उन्हें कार्य रूप न दे दिया जाये वे कागजी कार्यवाही ही रहती हैं। कर्मचारियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करके ही योजना की प्रभावी क्रियान्विति की जा सकती है। अत: उन्हें योजना के प्रत्येक पहलू की जानकारी दी जानी चाहिए। योजना के निर्माण में उनके विचारों को प्राप्त करके उनके हितों का ध्यान रखकर भी योजनाओं के क्रियान्वयन में उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।
13. **योजना का अनुवर्तन-** नियोजन एक सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया है। क्रियान्वयन के पश्चात् समय पर योजना की प्रगति को ज्ञात करना तथा बदली हुई परिस्थितियों व आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उसमें सुधार करना आवश्यक होता है। योजनाओं को समयानुकुल बनाये रखने पर ही वांछित परिणामों एवं लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। अनुवर्तन भी नियोजन प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है।

अभ्यास प्रश्न-

1. नियोजन के क्या उद्देश्य हैं?
2. नियोजन आगे देखने की प्रक्रिया है। सत्य/असत्य

9.9 सारांश

भारत में योजनाओं का निर्माण राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उन्नयन के लिये किया जाता रहा है। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद इसके निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन के लिये उत्तर दायी संस्थाएं है, जो व्यवहार में मंत्रिमण्डल से भी अधिक प्रभुत्वशाली हो गयी है। भारत में आर्थिक नियोजन को यथासम्भव लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया गया है। जनता द्वारा निर्वाचित सरकार द्वारा ही योजना आयोग के

सहयोग से योजना बनायी जाती है। योजना आयोग द्वारा राज्यों को निर्देश दिया जाता है कि वे पंचायतों खण्डों और जिलों से योजना का प्रारूप आमंत्रित करें इससे राज्य की योजना में स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखा जा सकता है। आर्थिक आयोजन विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा प्रचुर मात्रा में विचार-विमर्श एवं विभिन्न चरणों से गुजरने के बाद मूर्त रूप में पाते है।

9.10 शब्दावली

समाजवादी विचारधारा- उत्पादन के साधनों पर जनता के स्वामित्व में होने की स्थिति का समर्थन करना, परिप्रेक्ष्यात्मक- किसी सन्दर्भ से सम्बन्धित, प्रख्यापित- प्रस्तुत करना, वैश्वीकरण- सम्पूर्ण विश्व का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से निकट आ जाना

9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक, **2.** सत्य

9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0 एल0 (2007) लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. लक्ष्मीकांत, एम0 (2010) लोक प्रशासन, टाटा मेक्ग्रॉहिल, नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010) भारतीय राज्य व्यवस्था, स्पेक्ट्रम, नई दिल्ली।

9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, अम्रेश्वर एवं माहेश्वरी, श्रीराम (2002) लोक प्रकाशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवालः आगरा।
2. दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम, के0 पी0 एम0 (2010) भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चांद एण्ड क0 लि0, नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010) भारतीय अर्थव्यवस्था, स्पेक्ट्रम, नई दिल्ली।

9.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में नियोजन प्रक्रिया ने भारतीय संघ को किस प्रकार प्रभावित किया है?
2. योजना आयोग में केन्द्र सरकार की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. भारत में नियोजन प्रक्रिया को केन्द्रीकृत होना चाहिए अथवा विकेन्द्रीकृत? तर्क प्रस्तुत कीजिए।
4. भारत में नियेाजन प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक सार्थक बनाया जा सकता है? सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

इकाई- 10 योजना का निर्धारण: राष्ट्रीय योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 नीति आयोग
    10.2.1 नीति आयोग की संरचना या गठन
    10.2.2 नीति आयोग के उद्देश्य
    10.2.3 नीति आयोग के कार्य
    10.2.4 नीति आयोग और योजना आयोग में अंतर
10.3 राष्ट्रीय विकास परिषद
    10.3.1 राष्ट्रीय विकास परिषद की संरचना
    10.3.2 राष्ट्रीय विकास परिषद के उद्देश्य
    10.3.3 राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वरूप
    10.3.4 राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य
    10.3.5 मूल्याकंन
10.4 सारांश
10.5 शब्दावली
10.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

भारत में योजना आयोग आर्थिक विकास के नियोजन की एक सर्वोच्च संस्था थी तथा आजादी के बाद ही 1950 में इसकी स्थापना की गयी। लेकिन इस संस्था का निर्माण न तो संविधान के अधीन हुआ और ना ही किसी अधिनियम के माध्यम से। यह ना तो संविधानिक संस्था है और न ही विधायी संस्था। लेकिन इनके उपरान्त भी यह संस्था देश के संसाधनों के प्रभावी और सन्तुलित उपयोग के लिए योजना बनाती रही। लेकिन केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होने के बाद 1 जनवरी 2015 को योजना आयोग के स्थान पर केन्द्रीय मंत्रिमंडल के एक संकल्प पर नीति आयोग का गठन किया गया। इसमें सहकारी संघवाद की भावना को केंद्र में रखते हुए अधिकतम शासन, न्यूनतम सरकार के दृष्टिकोण की परिकल्पना को स्थान दिया गया।

भारत में योजना आयोग की तरह ही राष्ट्रीय विकास परिषद का योजना के निर्माण में उल्लेखनीय स्थान है। केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन तथा समायोजन की आवश्यकता को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गयी। यह एक संवैधानिक संस्था है और योजना आयोग से उच्चतर संस्था। वस्तुत: यह एक नीति निर्मात्री संस्था है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रीय योजना आयोग के गठन, उसके कार्य और प्रशासनिक संरचना के विषय में जान पायेंगे।
- साथ ही योजना आयोग के 'कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन' और राज्य स्तर पर नियोजन तंत्र से अवगत हो पायेंगे।
- राष्ट्रीय विकास परिषद के उद्देश्य, उसकी संरचना और राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्यों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

10.2 नीति आयोग (NITI Aayog)

स्वाधीनता के बाद हमारे देश ने तत्कालीन सोवियत संघ के समाजवादी शासन की संरचना को अपनाया, जिसमें योजनाऐं बनाकर काम किया जाता था। पंचवर्षीय तथा एकवर्षीय योजनाएँ काफी लंबे समय तक देश में चलती रहीं। योजना आयोग ने नियोजन इकाई के रूप दशकों तक योजनाएँ बनाने के काम को अंजाम दिया। लेकिन केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होने के बाद 1 जनवरी 2015 को योजना आयोग के स्थान पर केन्द्रीय मंत्रिमंडल के एक संकल्प पर नीति आयोग का गठन किया गया। इसमें सहकारी संघवाद की भावना को केंद्र में रखते हुए अधिकतम शासन, न्यूनतम सरकार के दृष्टिकोण की परिकल्पना को स्थान दिया गया।

नीति आयोग, योजना आयोग के स्थान पर गठित एक नई संस्था है। बीतते वर्षों के साथ सरकार का संस्थागत ढांचा विकसित और परिपक्व हुआ है। इससे कार्यक्षेत्र में विशेषज्ञता विकसित हुई है,जिसने संस्थाओं को सौंपे गए कार्यों की विशिष्टता बढ़ाई है। नियोजन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में शासन की प्रकिया को शासन की कार्यनीति से अलग करने साथ ही साथ उसे ऊर्जावान बनाने की जरुरत है। शासन संरचना के सन्दर्भ मे हमारे देश की जरूरतें बदली हैं। ऐसे में एक ऐसे संस्थान की स्थापना की आवश्यकता है जो सरकार के दिशात्मक और नीति-निर्धारक (थिंक टैंक) के रूप में कार्य करे। प्रस्तावित संस्थान प्रत्येकक स्तर पर नीति निर्धारण के प्रमुख तत्वों के बारे में महत्वेपूर्ण और तकनीकी सलाह देगा। इसमें आर्थिक मोर्चे पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयात के मामले, देश के भीतर और अन्य देशों में उपलब्ध सर्वोत्तम प्रक्रियाओं के प्रसारए नये नीतिगत विचारों को अपनाने और विषय आधारित विशिष्ट सहायता शामिल है। यह संस्थान लगातार बदल रहे एकीकृत विश्व के अनुरूप कार्य करने में सक्षम होगा, भारत जिसका एक भाग है।

संस्थान के तहत व्यवस्था में केन्द्र से राज्यों की तरफ चलने वाले एक पक्षीय नीतिगत क्रम को एक महत्वपूर्ण विकासवादी परिवर्तन के रूप में राज्यों की वास्तविक और सतत् भागीदारी से बदल दिया जाएगा। त्वरित गति से कार्य करने के लिए और सरकार को नीति दृष्टिकोण उपलब्ध कराने के साथ.साथ प्रासंगिक विषयों के सन्दर्भ में संस्थान के पास आवश्यक संसाधन, ज्ञान, कौशल और क्षमता होगी।

सबसे महत्वपूर्ण यह है कि विश्व के सकारात्मक प्रभावों को अपनाते हुए संस्थान को इस नीति का पालन करना होगा कि भारत के परिप्रेक्ष्य में एक ही मॉडल प्रत्यारोपित नहीं किया जा सकता है। विकास के लिए हमें अपनी नीति स्वंय निर्धारित करनी होगी। देश में और देश के लिए क्या हितकारी है, संस्थान को इस पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो विकास के लिए भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित होगा। इन आशाओं को जीवंत बनाने के लिए संस्थान है- नीति आयोग (भारत परिवर्तन के लिए राष्ट्रीय संस्थान, National Institutions for Transforming India)। इसे राज्य सरकारों, संसद सदस्यों, विषय विशेषज्ञ और संबंधित संस्थानों सहित तमाम हित धारकों के बीच गहन विचार-विमर्श के बाद प्रस्तावित किया गया। आयोग एक बहू-सदस्यीय संस्था है।

योजना आयोग 64 वर्ष तक अस्तित्व में रहा, लेकिन देश की आर्थिक, सामाजिक, आवश्यकताओं को देखते हुए योजना आयोग में भी सुधार या बदलाव की आवश्यरकता महसूस होने लगी। पूर्ववर्ती योजना आयोग में 30 अप्रैल, 2014 को अपने आखिरी संबोधन में तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने पूछा था ''कहीं हम अब भी

उन्हीं साधनों और तौर-तरीकों का तो इस्तेमाल नहीं कर रहे जो बहुत पहले के लिए निर्धारित किए गए थे, क्या हमने आयोग में अधिक पारम्परिक क्रियाकलापों की पुनर्संरचना किए बगैर, नये कार्य तथा स्तर जोड़ लिए हैं'' इसलिए जब प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 15 अगस्त, 2014 को अपने पहले स्वतंत्रता दिवस संबोधन में कहा कि वे योजना आयोग की जगह नई संस्था बनाना चाहते हैं तो वे साझा भावना को ही अभिव्यक्ति दे रहे थे। तदुपरान्त 1 जनवरी, 2015 को उन्होंने भारत परिवर्तन के लिए राष्ट्रीय संस्था अथवा नीति आयोग के सृजन की घोषणा की। योजना आयोग की ही तरह प्रधानमंत्री ही नीति आयोग के अध्यक्ष हैं।

10.2.1 नीति आयोग की संरचना या गठन

नीति आयोग की संरचना योजना आयोग का ही प्रतिरूप है योजना आयोग की तरह ही भारत के प्रधानमंत्री नीति आयोग के पदेन अध्यक्ष हैं। नीति आयोग के पहले उपाध्यक्ष अरविंद पनगढ़िया थे। आयोग की संरचना में एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष के साथ-साथ पूर्णकालिक, पदेन और विशेष आमंत्रित सदस्यों के अतिरिक्त एक मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। नीति आयोग की संरचना में-

1. अध्यक्ष, भारत के प्रधानमंत्री।
2. गवर्निंग काउंसिल में राज्यों के मुख्यमंत्री और केन्द्रशासित प्रदेशों (जिन केन्द्रशासित प्रदेशों में विधानसभा है, वहाँ के मुख्यमंत्री) के उपराज्यपाल शामिल होंगे।
3. विशिष्ट मुद्दों और ऐसे आकस्मिक मामले, जिनका संबंध एक से अधिक राज्य या क्षेत्र से हो, को देखने के लिए क्षेत्रीय परिषद गठित की जायेंगी। ये परिषदें विशिष्ट कार्यकाल के लिए बनाई जायेंगी। भारत के प्रधानमंत्री के निर्देश पर क्षेत्रीय परिषदों की बैठक होगी और इनमें संबंधित क्षेत्र के राज्यों के मुख्यमंत्री और केन्द्र शासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल होंगे (इनकी अध्यक्षता नीति आयोग के उपाध्यक्ष करेंगे)।
4. संबंधित कार्यक्षेत्र की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ और कार्यरत लोग, विशेष आमंत्रित के रूप में प्रधानमंत्री द्वारा नामित किए जाएंगे।

पूर्णकालिक संगठनात्मक ढ़ाँचे में (प्रधानमंत्री अध्यक्ष होने के अलावा) निम्न होंगे।

- उपाध्यक्ष- प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त।
- सदस्य- पूर्णकालिक
- अंशकालिक सदस्य- अग्रणी विश्वविद्यालय शोध संस्थानों और संबंधित संस्थानों से अधिकतम दो पदेन सदस्य, अंशकालिक सदस्य बारी के आधार पर होंगे।
- पदेन सदस्य- केन्द्रीय मंत्रिपरिषद से अधिकतम चार सदस्य प्रधानमंत्री द्वारा नामित होंगे। यदि बारी के आधार को प्राथमिकता दी जाती है तो यह नियुक्ति विशिष्ट कार्यकाल के लिए होंगी।
- मुख्य कार्यकारी अधिकारी- भारत सरकार के सचिव स्तर के अधिकारी को निश्चित कार्यकाल के लिए प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त किया जाएगा।

10.2.2 नीति आयोग के उद्देश्य

1. नीति आयोग के उद्देश्यों को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं-
2. राज्यों की सक्रिय भागीदारी के साथ राष्ट्रीय विकास प्राथमिकताओं, क्षेत्रों और रणनीतियों का एक साझा दृष्टिकोण विकसित करना।

3. सशक्त राज्य ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं, इसको स्वीकार करते हुए राज्यों के साथ सतत् आधार पर संरचनात्मक सहयोग की पहल और तंत्रों के माध्यम से सहयोगपूर्ण संघवाद को बढ़ावा देना।
4. ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजनाएं तैयार करने के लिए तंत्र विकसित करना और इन सभी को उत्तरोत्तर रूप से सरकार के उच्चतर स्तर तक पहुँचाना।
5. जो क्षेत्र विशेष रूप से आयोग को निर्दिष्ट किए गए हैं उनकी आर्थिक रणनीति और नीति में राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों को सम्मिलित करने को सुनिश्चित करना।
6. हमारे समाज के उन वर्गों पर विशेष रूप से ध्यान देना जिन तक आर्थिक प्रगति से उचित प्रकार से लाभान्वित ना हो पाने का जोखिम हो।
7. रणनीतिक और दीर्घावधि के लिए नीति तथा कार्यक्रम का ढांचा तैयार करना और पहल करना तथा उनकी प्रगति और क्षमता को मॉनीटर करना। अनुवीक्षण और प्रतिक्रिया के आधार पर नवीन सुधार में उपयोग किए जाएंगे, जिसके अंतर्गत मध्यावधि संशोधन भी हैं।
8. महत्वपूर्ण पणधारियों तथा समान विचारधारा वाले राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय थिंक टैंक और साथ ही साथ शैक्षिक और नीति अनुसंधान संस्थाओं के बीच परामर्श और भागीदारी को प्रोत्साहन देना।
9. राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, वृतिकों तथा अन्य भागीदारों के सहयोगात्मक समुदाय के माध्यम से ज्ञान, नवाचार एवं उद्यमशीलता सहायक प्रणाली बनाना।
10. विकास के एजेंडे के कार्यान्वयन में तेजी लाने के क्रम में अंतर-क्षेत्रीय और अंतर-विभागीय मुद्दों के समाधान के लिए एक मंच प्रदान करना।
11. अत्याधुनिक संसाधन केन्द्र बनाना जो सुशासन तथा सतत् और न्यायसंगत विकास की सर्वश्रेष्ठ कार्यप्रणाली पर अनुसंधान करने के साथ-साथ हितधारियों (Stake holder) तक पहुँचाने में भी मदद करे।
12. आवश्यक संसाधनों की पहचान करने सहित कार्यक्रमों और उपायों के कार्यान्वयन का सक्रिय मूल्यांकन और सक्रिय अनुवीक्षण करना, ताकि सेवाएं प्रदान करने में सफलता की संभावनाओं को प्रबल बनाया जा सके।
13. कार्यक्रमों और नीतियों के क्रियान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर जोर।
14. राष्ट्रीय विकास का एजेंडा और उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य आवश्यक गतिविधियों का उत्तर दायित्व लेना।

10.2.3 नीति आयोग के कार्य

आईये नीति आयोग के कार्यों को निचे दिये गये बिन्दुओं के माध्यम से समझते हैं-

1. राष्ट्रीय उद्देश्यों की रोशनी में राज्यों की सक्रिय भागीदारी के साथ-साथ राष्ट्रीय विकास प्राथमिकताओं के क्षेत्रों और रणनीतियों की एक साझा दृष्टि विकसित करना।
2. निरंतर आधार पर राज्यों के साथ संरचित समर्थन पहल (Structured support initiative) और तंत्र के माध्यम से सहकारी संघवाद को बढ़ावा देना, यह स्वीकार करना कि मजबूत राज्य एक मजबूत राष्ट्र बनाते हैं।
3. गाँव स्तर पर विश्वसनीय योजनाएँ बनाने के लिए तंत्र विकसित करना और सरकार के उच्च स्तरों पर इन्हें उत्तरोत्तर विकसित करना।
4. यह सुनिश्चित करने के लिए कि उन क्षेत्रों पर जो विशेष रूप से इसके लिए सन्दर्भित हैं कि आर्थिक रणनीति और नीति में राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों को शामिल किया गया है।

5. समाज के उन वर्गों पर विशेष ध्यान देना जो आर्थिक प्रगति से से लाभान्वित नहीं होने के जोखिम में हो सकते हैं।
6. रणनीतिक और दीर्घकालिक नीति, कार्यक्रम ढ़ाँचे और पहलों को डिजाइन करने के लिए उनकी प्रगति और उनकी प्रभावकारिता की निगरानी करें। निगरानी और प्रतिक्रिया के माध्यम से सीखे गये पाठों का उपयोग नवीन सुधार करने के लिए किया जाएगा, जिसमें आवश्यक मध्य.पाठ्यक्रम सुधार भी शामिल हैं।
7. प्रमुख हित धारकों और राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समान विचारधारा वाले थिंक टैंकों के साथ-साथ शैक्षिक और नीति अनुसंधान संस्थानों के बीच भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए।
8. राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, चिकित्सकों और अन्य भागीदारों के एक सहयोगी समुदाय के माध्यम से एक ज्ञान,नवाचार और उद्यमशीलता सहायता प्रणाली बनाने के लिए।
9. विकास एजेंडा के कार्यान्वयन में तेजी लाने के लिए अंतर-क्षेत्रीय और अंतर-विभागीय मुद्दों के समाधान के लिए एक मंच प्रदान करना।
10. अत्याधुनिक संसाधन केंद्र को बनाए रखने के लिए सुशासन, सतत् और न्यायसंगत विकास में सर्वोत्तम प्रथाओं के साथ-साथ हितधारकों को उनके प्रसार में मदद करने के लिए अनुसंधान का एक भंडार हो।
11. आवश्यक संसाधनों की पहचान सहित कार्यक्रमों और पहलों के कार्यान्वयन की सक्रिय रूप से निगरानी और मूल्यांकन करना, ताकि सफलता की संभावना और वितरण की गुंजाइश को मजबूत किया जा सके।
12. कार्यक्रमों और पहलों के कार्यान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर ध्यान केंद्रित करना।
13. राष्ट्रीय विकास एजेंडे के क्रियान्वयन को आगे बढ़ाने के लिए और उपरोक्त उल्लिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अन्य गतिविधियाँ करना आवश्यक हो सकता है।

10.2.4 नीति आयोग और योजना आयोग में प्रमुख अंतर

नीति आयोग	योजना आयोग
नीति आयोग एक सलाहकार थिंक टैंक के रूप में कार्य करता है।	योजना आयोग ने एक संवैधानिक निकाय के रूप में कार्य किया था, जबकि इसे संवैधानिक स्थिति प्राप्त नहीं थी।
नीति आयोग सदस्यों की व्यापक विशेषज्ञता पर बल देता है।	जब कि योजना आयोग सदस्यों की विशेषज्ञता पर निर्भर था।
नीति आयोग सहकारी संघवाद की भावना पर कार्य करता है, क्योंकि यह राज्यों की समान भागीदारी सुनिश्चित करता है।	योजना आयोग की वार्षिक योजना बैठकों में राज्यों की भागीदारी बहुत कम रहती थी।
प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त सचिवों को CEO के रूप में जाना जाता है।	योजना आयोग में सचिवों को सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से नियुक्त किया जाता था।
नीति आयोग जमीनी स्तर से उपर की ओर कार्य करने पर विश्वास करता है।	जबकि योजना आयोग उपर से निचे की ओर कार्य करता था।
नीति आयोग को नीतियाँ लागू करने का अधिकार नहीं है।	योजना आयोग राज्यों के लिये नीतियाँ बनाता था और स्वीकृत परियोजनाओं के लिये धन आवंटित

	करता था।
नीति आयोग को धन आवंटित करने की शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। वो शक्ति वित्त मंत्री में निहित है।	जबकि योजना आयोग को मंत्रालयों और राज्य सरकारों को धन आवंटित करने की शक्तियाँ प्राप्त थीं।

योजना आयोग की तुलना में नीति आयोग को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिये इसे बजटीय प्रावधानों में स्वतंत्रता होनी चाहिये और यह योजना तथा गैर-योजना के रूप में नहीं, बल्कि राजस्व और पूँजीगत व्यय की स्वतंत्रता के रूप में होनी चाहिये। इस पूँजीगत व्यय की वृद्धि से अर्थव्यवस्था में सभी स्तरों पर बुनियादी ढ़ाँचे का घाटा दूर हो सकता है।

10.3 राष्ट्रीय विकास परिषद

राज्यों तथा केन्द्र के बीच शक्तियों के विभाजन तथा समायोजन की आवश्यकता को देखते हुये राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना 6 अगस्त 1952 को की गयी। यह एक संविधानोत्तर निकाय है, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है और इस परिषद को प्रकरान्तर से 'सर्वोपरि कैबिनेट' भी कहते हैं। राष्ट्रीय योजना प्रक्रिया में जिला, राज्य, क्षेत्रीय स्तर के मध्य जोड़ की कड़ी प्रदान करने वाला उपयुक्त निकाय राष्ट्रीय विकास परिषद है। भारतीय संविधान द्वारा निर्मित संघवाद जिसे सहकारी संघवाद भी कहा जाता है, राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा सम्बल प्राप्त करता है। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना आयोग से एक उच्च निकाय है, वस्तुतः यह एक नीति निर्मात्री निकाय है। के0 संथानम का कथन है कि ''राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघ के उच्च मंत्रिमण्डल के समकक्ष जैसी है। अर्थात उसने एक ऐसे मंत्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया है, जो भारत सरकार और साथ ही सभी राज्यों की सरकारों के लिये कार्य कर रही हैं।

राष्ट्रीय स्तर पर योजना बनाने का प्रयत्न करते समय सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह उत्पन्न होती है कि भारतीय संघ में समाविष्ट स्वायत्त राज्यों की नीतियों तथा कार्यक्रमों में समन्वय कैसे स्थापित किया जाए। इसके लिए राष्ट्रीय विकास परिषद को एक सशक्त निकाय के रूप में स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी। डाँ0 सी0 पी0 भाम्बरी ने कहा है कि, योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापित की गयी।

10.3.1 राष्ट्रीय विकास परिषद की संरचना

राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमंत्री, योजना आयोग के सभी सदस्य सभी राज्यों के मुख्यमंत्री, संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा भारत सरकार के प्रमुख विभागों के कुछ मंत्री सम्मिलित होते हैं।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने सन् 1967 में अपने एक अध्ययन दल को राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य की समीक्षा करने और भविष्य में इसे अधिक शक्तिशाली बनाने के उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देने को कहा था। इस अध्ययन दल द्वारा प्रेषित सुझावों को प्रशासनिक सुधार आयोग एवं भारत सरकार द्वारा कुछ संशोधनों के पश्चात स्वीकार कर लिया गया और इसकी सदस्यता को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया गया।

योजना आयोग का सचिव राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव होता है। परिषद की बैठकें वर्ष में साधारणतः दो बार होती हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। इसकी कार्यविधि योजना आयोग के सचिवालय द्वारा तैयार की जाती है। उसमें राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषय सम्मिलित रहते हैं, जिन पर राज्यों के विचारों को ज्ञात करना अति आवश्यक होता है। इसकी बैठकों में प्रत्येक विषय पर खुलकर चर्चा होती है और निर्णय प्रायः सर्वसम्मति से ही होता है।

10.3.2 राष्ट्रीय विकास परिषद के उद्देश्य

योजना के समर्थन में राष्ट्र के साधनों तथा प्रयत्नों का उपयोग करना और उन्हें शक्तिशाली बनाना, सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों को उन्नत करना तथा योजना आयोग की सिफारिश पर देश के सभी भागों का सन्तुलित तथा त्वरित विकास निश्चित करना। इसके तीन प्रमुख उद्देश्य हैं-

1. योजना की सहायता के लिये राष्ट्र के स्रोतों तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना।
2. सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समरूप आर्थिक नीतियों को अपनाने को प्रोत्साहित करना।
3. देश के सभी भागों के तीव्र तथा सन्तुलित विकास के लिए प्रयास करना।

10.3.3 राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वरूप

राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वरूप का अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से कर सकते हैं।

1. **संघात्मक व्यवस्था का प्रतीक-** भारत में राष्ट्रीय विकास परिषद संघात्मक व्यवस्था की एक प्रतीक संस्था के रूप में उभर कर सामने आई है। इसमें केन्द्र और राज्यों के नेतृत्व का प्रतिनिधित्व होता है। यह संघवादी अवधारणा को व्यवहारिक रूप प्रदान करती है।
2. **सहकारी संघवाद की भावना का क्रियान्वयन-** राष्ट्रीय विकास परिषद 'सहकारी संघवाद' की भावना को क्रियान्वित करती है। केन्द्र और राज्यों के बीच योजनाओं के प्रारूप के सम्बन्ध में खुलकर विचार-विमर्श होता है। यह एक ऐसा राष्ट्रीय मंच है, जहाँ सभी पक्ष राष्ट्रीय सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते हैं और केन्द्र तथा राज्यों में उठने वाले विवाद का समाधान हो पाता है। इन सबसे सहकारी संघवाद की भावना सुदृण होती है।
3. **नियोजन तंत्र की सर्वोच्च संस्था-** राष्ट्रीय विकास परिषद देश में नियोजन तंत्र की शीर्षस्थ या सर्वोच्च संस्था है।
4. **एक राष्ट्रीय चरित्र-** राष्ट्रीय विकास परिषद का एक राष्ट्रीय चरित्र है। इसमें प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्री, योजना आयोग के सदस्य और राज्यों के मुख्यमंत्री सदस्य होते हैं। जिस कारण पूरे राष्ट्र के सन्दर्भ में योजनाओं का निर्माण होता है।
5. **सामाजिक-आर्थिक विकास करना-** राष्ट्रीय विकास परिषद का सम्बन्ध देश के नियोजन से है। अत: सामाजिक, आर्थिक विकास करना इसका प्राथमिक तथा सर्वोपरि लक्ष्य है। यह संस्था देश का तेजी से आर्थिक विकास करने, आर्थिक विकास की गति को बढाने, क्षेत्रीय असन्तुलन को समाप्त करने, गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने तथा देश में विकास दर को आगे बढाने का कार्य करती है। इस तरह से इस संस्था का आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका है।
6. **प्रधानमंत्री का नेतृत्व और सत्तारूढ़ राजनीति दल का महत्व-** प्रधानमंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद का अध्यक्ष होता है। अत: इस परिषद का नेतृत्व, नियंत्रण और निर्देशन प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद की कार्य-प्रणाली पर उसके व्यक्तित्व का प्रभाव रहता है। केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीति दल का राष्ट्रीय विकास परिषद में बोलबाला रहता है। प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्रियों और अनेक राज्यों के मुख्यमंत्रियों का सम्बन्ध सत्तारूढ़ दल से होता है। जिस कारण इस संस्था की कार्यवाही को प्रभावित करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
7. **राज्यों द्वारा दबाव की राजनीति-** राष्ट्रीय विकास परिषद में राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा अपने-अपने राज्यों के लिए अधिक रियायतें प्राप्त करने की दृष्टि से दबाव की राजनीति करते हैं और इसमें शक्तिशाली और अधिक जनाधार रखने वाले मुख्यमंत्री सफल भी रहते हैं।

10.3.4 राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य

राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य निम्न है-

1. राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सुझाव देना।
2. योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी राष्ट्रीय योजना पर विचार करना।
3. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।
4. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये तथा इसके साधनों के निर्धारण के लिये पथ-प्रदर्शक सूत्र निश्चित करना।
5. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये पथ-प्रदर्शक तत्व परिषद द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं, जिसके अनुसार योजना आयोग अपनी योजना बनाता है।
6. जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना।
7. प्रशासनिक सेवाओं की कुशलता में वृद्धि करना।
8. समाज में अल्प-विकसित वर्गों और प्रदेशों के पूर्ण विकास के लिए संसाधनों का निर्माण करना।
9. समस्त नागरिकों के समान त्याग के द्वारा राष्ट्रीय विकास के लिए संसाधनों का निर्माण करना।

योजना आयोग की तरह ही राष्ट्रीय विकास परिषद कोई वैधानिक या कानूनी संस्था नहीं है। किन्तु इसकी सिफारिशों का केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा पालन अवश्य किया जाता है। इसके कार्यों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि यह उन बहुमुखी कार्यों का सम्पादन करती है, जिन्हें योजनाओं के निर्माण तथा उनकी सफल क्रियान्विति के लिए आवश्यक समझा जाता है।

10.3.5 मूल्याकंन

इस प्रकार राष्ट्रीय विकास परिषद शासन में नीति-निर्धारण करने वाली सर्वोपरि एवं महत्वपूर्ण संस्था बन गयी है। राष्ट्रीय विकास परिषद का मुख्य कार्य केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों और योजना आयोग के मध्य विशेषतयाः नियोजन के क्षेत्रों में उनकी नीतियों तथा कार्य योजनाओं के सन्दर्भ में ताल-मेल बनाना तथा उनके बीच एक सेतु के रूप के रूप में कार्य करना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर केन्द्र एवं राज्यों के बीच विचार-विमर्श तथा उत्तर दायित्वों के विभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए राष्ट्रीय विकास परिषद ने भारतीय संघवाद को जीवन्त बना दिया है। हालांकि हमेशा से परिस्थितियां ऐसी नहीं रही हैं। एक लम्बे समय तक केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस का ही शासन होने के कारण राष्ट्रीय विकास परिषद का प्रयोग केन्द्र सरकार के द्वारा लिए गए निर्णयों पर 'रबर स्टैम्प' के रूप में किया जाता रहा है। राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के बढ़ते प्रभाव के कारण इस स्थिति में काफी हद तक परिवर्तन आया है। पूर्व वित्तमंत्री एच0 एम0 पटेल का मानना है कि ''योजना आयोग परामर्शी निकाय में राष्ट्रीय विकास परिषद भी शामिल है। संरचना पर ध्यान दें तो यह बिल्कुल ठीक नहीं है। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना आयोग से उच्च निकाय है। वस्तुतः यह एक नीति निर्धारक निकाय है और इसकी सिफारिशों को सुझाव मात्र नहीं माना जा सकता, वास्तव में यह नीतिगत निर्णय ही है।''

सरकारिया आयोग का भी सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को प्रभावी बनाया जाना चाहिए, ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके। आयोग ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर अपनी रिपोर्ट में देश में योजनाबद्ध विकास को दिशा देने के लिये परिषद को और अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता व्यक्त करते हुये सुझाव दिया है कि इसका पुनर्गठन करके नाम बदलकर ''राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद'' कर दिया जाये।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति आयेाग की स्थापना किस वर्ष हुई?
2. नीति आयोग का अध्यक्ष कौन होता है?
3. योजना आयोग एक संवैधानिक निकाय है। सत्य/ असत्य
4. राष्ट्रीय विकास परिषद को 'सर्वोपरि कैबिनेट' भी कहते हैं। सत्य/ असत्य
5. राष्ट्रीय विकास परिषद के अध्यक्ष भारत के प्रधानमंत्री होते हैं। सत्य/ असत्य

10.4 सारांश

भारत में योजनाओं का निर्माण राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उन्नयन के लिये किया जाता रहा है। पहले योजना आयोग और अब नीति आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद इसके निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन के लिये उत्तरदायी संस्थाएं हैं। भारत में आर्थिक नियेाजन को यथासम्भव लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया गया है। जनता द्वारा निर्वाचित सरकार ही योजना आयोग के सहयोग से योजना बनाती है। योजना आयोग द्वारा राज्यों को निर्देश दिया जाता है कि वे पंचायतों, खण्डों और जिलों से योजना का प्रारूप आमंत्रित करें इससे राज्य की योजना में स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखा जा सकता है। आर्थिक आयोजन विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा प्रचुर मात्रा में विचार-विमर्श एवं विभिन्न चरणों से गुजरने के बाद मूर्त रूप में पाते है।

10.5 शब्दावली

समाजवादी विचारधारा- उत्पादन के साधनों पर जनता के स्वामित्व में होने की स्थिति का समर्थन करना, परिप्रेक्ष्यात्मक- किसी सन्दर्भ से सम्बन्धित, प्रख्यापित- प्रस्तुत करना, वैश्वीकरण- सम्पूर्ण विश्व का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से निकट आ जाना

10.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1 जनवरी 2015, **2.** प्रधानमंत्री, **3.** असत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0 एल0 (2007) लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. लक्ष्मीकांत, एम0 (2010) लोक प्रशासन, टाटा मेक्ग्रॉहिलः नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010) भारतीय राज्यव्यवस्था, स्पेक्ट्रमः नई दिल्ली।

10.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, अम्रेश्वर एवं माहेश्वरी, श्रीराम (2002), लोक प्रकाशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवालः आगरा।
2. दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम, के0 पी0 एम0, (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चांद एण्ड क0 लि0 नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम, (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, स्पेक्ट्रमः नई दिल्ली।

10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में नियोजन प्रक्रिया ने भारतीय संघ को किस प्रकार प्रभावित किया है?
2. नीति आयोग में केन्द्र सरकार की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

3. भारत में नियोजन प्रक्रिया को केन्द्रीकृत होना चाहिए अथवा विकेन्द्रीकृत? तर्क प्रस्तुत कीजिए।
4. भारत में नियोजन प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक सार्थक बनाया जा सकता है? सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

इकाई-11 भारत में नियोजन की प्रशासकीय समस्याएँ

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 नियोजन का अर्थ एवं परिभाषा
11.3 नियोजन के प्रकार
    11.3.1 सामाजिक नियोजन
    11.3.2 आर्थिक नियोजन
11.4 भारत में नियोजन
11.5 नियोजन की समस्याएँ
    11.5.1 सामाजिक नियोजन की समस्याएँ
    11.5.2 आर्थिक नियोजन की समस्याएँ
11.6 सारांश
11.7 शब्दावली
11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

भारत में नियोजन को समझने के लिये यह जरूरी है कि नियोजन का अर्थ क्या है? इसकी परिभाषा क्या है? नियोजन के प्रकार क्या हैं? इसको समझना जरूरी है। किसी भी देश के विकास के लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक नियोजन, समाज कल्याण और सामाजिक पुर्ननिर्माण की आवश्यकता पड़ती है। भारत में स्वतन्त्रता के उपरान्त देश के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन की योजनाएं बनायी गयी और क्रियान्वित की गयी। इस इकाई में आप नियोजन का अर्थ, परिभाषा एवं नियोजन के प्रकार यथा भारत में सामाजिक नियोजन एवं आर्थिक नियोजन की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही भारत में नियोजन का इतिहास एवं भारत में नियोजन की समस्याओं को आप आसानी से समझ सकेंगे।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नियोजन का अर्थ और परिभाषा समझ सकेंगे।
- नियोजन के प्रकार को भली-भाँति जान सकेंगे।
- भारत में नियोजन के इतिहास को जान सकेंगे।
- भारत में आर्थिक नियोजन की जान सकेंगे।
- भारत में नियोजन की समस्याओं को समझ सकेंगे।

11.2 नियोजन का अर्थ एवं परिभाषा

प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नों के द्वारा एक निश्चित अवधि में कुछ वांछनीय लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु आगे बढ़ना चाहता है। ऐसा करके वह अपनी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था को इस प्रकार बदलना चाहता है कि लोगों को विभिन्न प्रकार की समस्याओं से छुटकारा मिल सके, अभावों पर विजय प्राप्त की जा सके और जीवन का सर्वांगीण विकास किया जा सके। यह सब कुछ नियोजन या आयोजन के द्वारा ही सम्भव है। भारत में योजनाओं का लक्ष्य और सामाजिक उद्देश्य संविधान में वर्णित राज्य के नीति-निर्धारक सिद्धान्तों से तय हुआ है। इसके अनुसार सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों को एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखा जाता है। निजी क्षेत्र में संगठित उद्योग, लघु उद्योग, कृषि, व्यापार और गृह-निर्माण तथा सम्बद्ध क्षेत्र शामिल हैं। विकास के राष्ट्रीय प्रयास में व्यक्तिगत कोशिश और निजी पहल को आवश्यक और वांछित माना जाता है और इनके साथ अधिकतम स्वैच्छिक सहयोग को भी अनिवार्य समझा जाता है।

गुन्नार मिर्डल के अनुसार, ''नियोजन का अर्थ एक देश की सरकार द्वारा, सामान्यतः अन्य सामूहिक समितियों की सहभागिता सहित, सामाजिक नीतियों को अधिक तार्किकता के साथ समन्वित करने का चेतन प्रयत्न हैं, ताकि भावी विकास के वांछनीय लक्ष्यों, जिनका निर्धारण राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा होता है, तक अधिक पूर्णता और तेजी से पहुँचा जा सके।''

ग्रिफिन और इनास के अनुसार, ''नियोजन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये एक बेहतर साधन है और मानवीय क्रियाओं की उद्देश्यपूर्ण दिशा है।''

लारविन के अनुसार, ''नियोजन साधारणतः मानवीय शक्ति को विवेकसम्मत तथा वांछनीय लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु निर्देशित करने का एक चेतन प्रयास है।''

एस0 ई0 हैरिस के अनुसार, ''सामान्यतया नियोजन से अभिप्राय साधनों के मूल्य तथा आय के सन्दर्भ में, नियोजन अधिकारी द्वारा निर्धारित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये साधनों का आवंटन करने से है।''

भारतीय योजना आयोग के अनुसार, ''आर्थिक नियोजन निश्चित रूप से सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उपलब्ध साधनों का संगठन लाभकारी रूप से उपयोग करने की एक मात्र विधि है।''

आर्थिक नियोजन से अभिप्राय, राज्य के अभिकरणों द्वारा देश की आर्थिक सम्पदा और सेवाओं की एक निश्चित अवधि हेतु आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाना है। यह अपने आप में सामाजिक नियोजन की अवधारण को भी सन्निहित करता है। वर्तमान में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में आर्थिक नियोजन के पीछे समाज को विकसित करने का लक्ष्य रखा जाता है। किसी देश में ना केवल सरकार वरन् अन्य कई संवैधानिक व संवैधानेत्तर संस्थाएं इस आर्थिक नियोजन को यथासम्भव अधिकाधिक उपयोगी बनाये जाने के लिये प्रयासरत हैं। आर्थिक नियोजन मात्र आर्थिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करता बल्कि विस्तृत रूप में समाज व राजनीतिक विचारों को लेकर चलता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि नियोजन वह चेतन प्रयत्न है, जिसके द्वारा वांछनीय या इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सामूहिक रूप से कार्य किया जाता है। इसमें मानवीय क्रियाओं को एक निश्चित दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। निश्चित दिशा का निधार्रण वांछनीय लक्ष्यों के आधार पर होता है और ये लक्ष्य राजनीतिक प्रक्रिया द्वारा निश्चित होते हैं। नियोजन एक ऐसा प्रयास है, जिसमें सीमित साधनों का इस प्रकार विवकपूर्ण ढंग से उपयोग किया जाता है कि अधिकतम लाभ की प्राप्ति और इच्छित लक्ष्यों की पूर्ति हो सके।

11.3 नियोजन के प्रकार

नियोजन सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं- समाजिक नियोजन और आर्थिक नियोजन।

11.3.1 सामाजिक नियोजन

सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत आने वाले उद्देश्यों में शराब-बन्दी, मातृत्व तथा बाल-कल्याण, पिछड़ी जातियों एवं जनजातियों का कल्याण आदि प्रमुख है। वैसे सामाजिक नियोजन एक ऐसी व्यापक अवधारणा है, जिसमें आर्थिक नियोजन भी सम्मिलित है। वर्तमान भारत में आर्थिक और समाजिक विकास की प्रक्रियाएं साथ-साथ चल रही हैं। सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत प्रयास के चार क्षेत्रों को साधारणतः सम्मिलित किया जाता है-

- मूलभूत सामाजिक सेवाओं, जैसे शिक्षा स्वास्थ्य तथा आवास सुविधाओं का विकास।
- ग्रामीण एवं नगरीय कल्याण तथा न्यूनतम आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था को सम्मिलित करते हुए समाज-कल्याण।
- समाज में अधिक दलित एवं कमजोर वर्गों का कल्याण।
- सामाजिक सुरक्षा।

सामाजिक नियोजन की विशेषताऐं इस प्रकार हैं -

1. सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत वे चेतन प्रयत्न आते हैं, जो सामाजिक बुराईयों को दूर करने एवं सामाजिक परिवर्ततन की दिशा को बदलने हेतु किये जाते हैं।
2. सामाजिक नियोजन इस मान्यता पर आधारित है कि समाज के सभी सदस्य अपनी समस्याओं पर सोचते-विचारते हैं और उन्हें दूर करने के उपायों में सम्मिलित होते हैं।
3. इन प्रयत्नों या सामाजिक नियोजन के फलस्वरूप प्राप्त लाभों को समाज के सभी सदस्यों में वितरित करने का प्रयास किया जाता है।
4. सामाजिक नियोजन एवं सामाजिक मूल्यों के बीच गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। सामाजिक नियोजन करते समय सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में विभिन्न विकल्पों पर विचार करके यह निश्चित किया जाता है कि इनमें से किन का चुनाव करना है और किन का नहीं?
5. सामाजिक नियोजन एक ऐसा व्यवस्थित प्रयत्न है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण समाज या उसके सदस्यों, विशेषकर कमजोर-वर्ग या पिछड़े-वर्ग या अनुसूचित जातियों या जनजातियों के लोगों के कल्याण का प्रयास किया जाता है।
6. सामाजिक नियोजन एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसमें सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक पुर्ननिर्माण के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु सरकारी और गैर-सरकारी साधनों का प्रयोग किया जाता है।
7. सामाजिक नियोजन के द्वारा समाज में योजनाबद्ध रूप से परिवर्तन लाये जाते हैं।
8. सामाजिक नियोजन का कार्य समाज की केन्द्रीय सत्ता द्वारा किया जाता है तथा जन सहयोग से पूरा किया जाता है।
9. सामाजिक नियोजन में कुछ लक्ष्य तय किये जाते हैं, जिन्हें एक निर्धारित अवधि में प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।
10. सामाजिक नियोजन के द्वारा सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व में वृद्धि की जाती है तथा समाज के परम्परात्मक व्यवहारों एवं सामंजस्य में बांधा पैदा करने वाली कठिनाइयों को दूर किया जाता है।

सामाजिक नियोजन एक ऐसा प्रयत्न या पद्धति है, जिसके द्वारा समाज को इस प्रकार संगठित किया जाता है कि सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व में वृद्धि हो सके और साथ ही सामाजिक स्वास्थ्य को स्वचालित गति मिल सके। अर्थात समाज अपने आप इस दिशा में आगे बढ़ सके।

11.3.2 आर्थिक नियोजन

वर्तमान में अल्प-विकसित देशों के तीव्र आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यकता महसूस की गयी कि विकास के सभी मदों तथा उत्पादन इकाईयों पर सुनियोजित तरीके से काम किया जाए, ताकि आर्थिक विकास का वांछित लक्ष्य पूरा हो सके। आज अधिकांश देश अपनी समस्याओं के निवारण हेतु राष्ट्रीय स्तर पर नियोजन कार्य प्रारम्भ किये हैं। आज विश्व में ऐसा कोई भी देश नहीं है, जिसने अपने विकास के लिये आर्थिक नियोजन को किसी न किसी रूप में स्वीकार ना किया हो। इस तरह आर्थिक नियोजन आज के प्रगतिवादी युग का मूलमंत्र है।

आर्थिक नियोजन का अर्थ है ''समय की एक निश्चित अवधि के अन्दर निश्चित लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से केन्द्रीय प्राधिकरण द्वारा अर्थव्यवस्था का आयोजित नियंत्रण या निर्देशन करना है।'' अतः समय के अन्दर निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना ही नियोजन कहा जाता है। ये लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं तथा अर्थव्यवस्था को संवृद्धि एवं विकास के मार्ग पर ले जाने में सहायक होते हैं।

1. **आर्थिक नियोजन की विशेषताएं-** आर्थिक नियोजन की विशेषताऐं निम्नांकित हैं-
    - आर्थिक नियोजन, आर्थिक संगठन की एक प्रणाली मानी जाती है। आर्थिक संगठन के अभाव में आर्थिक विकास की योजना का निर्माण करना सम्भव नहीं हो पाता है।
    - नियोजन के माध्यम से देश के प्राकृतिक, मानवीय तथा वित्तीय संसाधनों का लाभदायक तथा कुशलतम दृष्टि से उपयोग हो सके, ताकि देश में आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तेज करने के साथ-साथ पर्यावरण को भी सुरक्षित रखा जा सके। अतः आर्थिक नियोजन से संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है।
    - आर्थिक क्षेत्र में राज्य के बिना नियोजन सम्भव नहीं हो पाता और बिना राजकीय हस्तक्षेप के नियोजन सफल नहीं हो सकता।
    - आर्थिक नियोजन देश के किसी एक क्षेत्र में लागू ना होकर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में लागू होता है।
    - नियोजन को सुचारू रूप से चलाने के लिये एक केन्द्रीय नियोजन सत्ता की स्थापना की जाती है जो देश के समस्त उपलब्ध साधनों का सर्वेक्षण करके विकास कार्यक्रमों को बनाती है। यह सत्ता साधनों के उद्देश्य के मध्य समन्वय लाने का प्रयास करती है तथा योजना को कार्यान्वित करने के लिये संगठन सम्बन्धी व्यवस्था भी करती है।
    - नियोजन में उद्देश्य को पहले से ही खूब सोच-समझकर निर्धारित कर लिया जाता है। प्रायः ऐसे उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं जो देश के आर्थिक विकास में योगदान दे सकें। जैसे- रोजगार में वृद्धि, राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, धन एवं सम्पत्ति की असमानता दूर करना आदि।
    - नियोजन अल्पकालीन प्रक्रिया ना होकर एक दीर्घकालीन प्रक्रिया मानी जाती है।
    - नियोजन की सफलता की जांच करने के लिये देश में एक मूल्यांकन-तंत्र का होना आवश्यक है।
    - नियोजन में देश की अर्थव्यवस्था में संरचना सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये जाते हैं।
    - योजना का निर्माण निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है। ये उद्देश्य एक निश्चित अवधि में प्राप्त हो जाने चाहिए।
2. **आर्थिक नियोजन के उद्देश्य-** आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों को निम्न तीन आधार पर विभाजित किया जा सकता है-

क. आर्थिक उद्देश्य

- उत्पादन स्तर में वृद्धि,
- रोजगार के अतिरिक्त अवसरों की व्यवस्था,
- आर्थिक समानता,
- तीव्र औद्योगिक विकास,
- सन्तुलित क्षेत्रीय विकास,
- कीमत स्तर में स्थिरता,

ख. सामाजिक उद्देश्य

- सामाजिक न्याय,
- सामाजिक सुरक्षा,
- सामाजिक समानता,

ग. राजनीतिक उद्देश्य

- राष्ट्रीय सुरक्षा
- शान्ति
- आधुनिकीकरण

3. **आर्थिक नियोजन के प्रकार**: आर्थिक नियोजन का मुख्य वर्गीकरण निम्न आधारों पर किया जाता है -

क. आर्थिक क्षेत्र के अनुसार-

- सामान्य एवं आंशिक नियोजन,
- क्रियात्मक एवं संरचनात्मक नियोजन,
- सुधारवादी एवं विकासवादी नियोजन,
- क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन,

ख. आर्थिक निर्णयों के संचालन के अनुसार

- भौतिक एवं वित्तीय नियोजन,
- केन्द्रित एवं विकेन्द्रित नियोजन,
- आज्ञमूलक एवं प्रोत्साहनमूलक नियोजन,
- ऊपर से एवं नीचे से नियोजन,
- स्थैतिक बनाम प्रावैगिक नियोजन,

ग. आर्थिक संगठन की स्वरूप के अनुसार

- पूँजीवादी नियोजन,
- समाजवादी नियोजन,
- साम्यवादी नियोजन,
- तानाशाही नियोजन,

- प्रजातांत्रिक नियोजन,
- सर्वोदयी अथवा गाँधीवादी नियोजन,

घ. नियोजन की अवधि के अनुसार

- स्थायी एवं आपातकालीन नियोजन,
- अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक नियोजन,

11.4 भारत में नियोजन

भारत में नियोजन के आर्थिक विकास का शुभारम्भ 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने से हुआ लेकिन आर्थिक नियोजन के लिए सैद्धान्तिक प्रयास स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही प्रारम्भ हो गये थे। वर्ष 1934 में सर एम0 विश्वेश्वरैया ने 'भारत के लिये नियोजित अर्थव्यवस्था' (Planned Economy of India) नामक पुस्तक लिखी। 1938 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने पं0 जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया जिसकी संस्तुतियां द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने एवं भारत में राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव आने के कारण कार्यान्वित नहीं हो सकी। सन् 1944 ई0 में बम्बई के प्रमुख 8 उद्योगपतियों ने एक सूत्रबद्ध योजना 'बाम्बे प्लान' प्रस्तुत किया, जो कि विभिन्न कारणों से क्रियान्वित नहीं हो सका। अगस्त 1944 ई0 में भारत सरकार ने एक पृथक विभाग 'नियोजन एवं विकास विभाग' खोला तथा 'बाम्बे प्लान' के एक सूत्रधार सर आर्देशिर दलाल को इसका कार्यकारी सदस्य नियुक्त किया गया। महात्मा गांधी की आर्थिक विचारधारा से प्रेरणा पाकर श्री मन्नारायण ने 1944 में एक योजना निर्मित की जिसे 'गांधीवादी योजना' के नाम से जाना जाता है। भारतीय श्रम संघ की युद्धोपरान्त पुर्ननिर्माण समिति के अध्यक्ष श्री एम0 एन0 राय द्वारा अप्रैल 1945 ई0 में जन योजना (People's plan) निर्मित की गई। जनवरी 1950 में जयप्रकाश नारायण ने 'सर्वोदय योजना' प्रकाशित की। 15 मार्च 1950 को पं0 जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 'योजना आयोग' का गठन किया गया। इस प्रकार 01 अप्रैल 1951 से भारत में आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया आरम्भ हुई। भारत में सामाजिक विकास का एक महत्वपूर्ण आयाम सामाजिक नियोजन है। भारतीय संविधान के अनुसार स्वाधीन राजनैतिक व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय, चिन्तन, अभिव्यक्ति, मान्यताओं एवं धर्म की स्वतन्त्रता प्रस्थिति व अवसरों की समानता एवं भारतृत्व की स्थापना करना है। इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में 1950 में राष्ट्रीय योजना आयोग को राष्ट्र के प्राकृतिक एवं मानवीय स्रोतों को जांचने का कार्य सौंपा गया। आयोग ने आर्थिक विकास हेतु इन स्रोतों को संगठित करने के लिए योजनाऐं बनाई और योजनाबद्ध विकास के माध्यम से भारत के परम्परागत सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन लाने एवं इसे आधुनिक समाज में परिणित करने का प्रयास किया गया।

प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में मुख्यतः वृद्धि, समानता और सामाजिक न्याय पर बल दिया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि के साथ ही अवसरों, पूँजी एवं आय की असमानताओं को कम करना था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समाज के समाजवादी ढ़ाँचे को प्राप्त करने पर बल दिया गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य समानता एवं न्याय को बढावा देने वाले कार्यक्रमों के माध्यम से व्यक्तियों के जीवन-यापन के स्तर को ऊँचा उठाना था। चौथी योजना में विशेष रूप से रोजगार और शिक्षा के प्रावधान के माध्यम से समाज के पिछड़े और दुर्बल वर्गों की स्थिति में सुधार पर ध्यान दिया गया। पांचवी पंचवर्षीय योजना में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों के उपभोग स्तर को ऊपर उठाने के लिए किए गये कार्यों एवं आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने का उद्देश्य रखा गया। छठी योजना में पिछली योजनाओं का परीक्षण करते हुए गरीबी हटाने को प्रमुख उद्देश्य बनाया गया। सातवीं योजना में खाद्य उत्पादन रोजगार के अवसर, आत्मनिर्भरता एवं सामाजिक न्याय को बढ़ाने पर बल दिया

गया। 1990-91 तथा 1991-92 के दौरान दो वार्षिक योजनाएं बनाई गयी, जिसका प्रमुख उद्देश्य था रोजगार को अधिक बढ़ावा देना तथा सामाजिक परिवर्तन लाना। संरचनात्मक बदलाव तथा स्थिरता को बढ़ावा देने वाली नीतियों के शुरूआत के बाद ही आठवीं पंचवर्षीय योजना की घोषणा की गई, यह इसलिए जरूरी था, क्योंकि भुगतान में सन्तुलन की स्थिति खराब थी और मूल्यों की तेजी से बढ़ोतरी हो रही थी। कीमतों में स्थिरता तथा भुगतान में सन्तुलन स्थिति में सुधार इस योजना के महत्वपूर्ण उद्देश्य बने। नवीं पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य थे-

1. कृषि तथा ग्रामीण विकास को प्राथमिकता।
2. वृद्धि दर बढ़ाना तथा साथ-साथ कीमतों पर नियन्त्रण।
3. खाद्य पदार्थों तथा सबके लिए दो वक्त की रोटी का आश्वासन।
4. जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण तथा
5. सहभागिता को बढावा देना, उदाहरण के लिये पंचायती राज संस्थाऐं, सहकारी संस्थाऐं, स्व-सहायता समूह आदि।

दसवीं योजना(2002-2007) के प्रस्तावना-पत्र का 2001 में अनुमोदन हुआ। इसकी विशेषता यह है कि कृषि विकास को केन्द्र-बिन्दु बनाया गया। उन क्षेत्रों को बढावा दिया गया, जिसमें रोजगार के अधिक मौके हैं। विभिन्न कार्यक्रमों का भी पुर्नगठन किया गया है,ताकि ये विशेष समूहों तक पहुँच सकें। इसी प्रकार ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना(2007-2012) के अन्तर्गत 9 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर के साथ ही ग्रामीण विद्युतिकरण, 70 मिलियन रोजगार श्रजन, प्रतिव्यक्ति आय को दुगुना करने, लिंग अन्तराल, प्रजनन दर, स्त्री रक्ताल्पता में कमी लाने, सभी ग्रामों में दूरसंचार तथा इंटरनेट सेवाऐं व 500 की जनसंख्या वाले सभी गांवों को पक्की सड़क से जोड़ने का लक्ष्य रखा गया है। ताकि समेकित विकास का लक्ष्य पूरा किया जा सके। बारहवीं पंचवर्षीय योजना(2012-2017) के लिए विकास दर का लक्ष्य 8 प्रतिशत रखा गया है। इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न है-

1. कृषि विकास में तेजी लाना।
2. बढ़ती हुयी आबादी तथा पढे-लिखे युवाओं को रोजगार उपलब्ध कराना।
3. समावेशी एवं धारणीय विकास में तेजी लाना।
4. बारहवीं पंचवर्षीय योजना का लाभ अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़े-वर्ग, अल्पसंख्यकों व अन्य वंचित समूहों तक लाभ पहुँचाना है।
5. पर्यावरण सुरक्षा पर अत्यधिक बल दिया गया है।

नियोजित विकास के भारतीय दृष्टिकोण एवं कार्यनीतियों के आलोचकों के अनुसार विकास के इन सभी प्रयासों ने केवल कुछ विशिष्ट वर्गों को ही लाभान्वित किया है। बेरोजगार एवं अल्परोजगार प्राप्त विद्यार्थियों की बढ़ती संख्या यह बताती है कि आर्थिक रूप से लाभप्रद उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशाल मानवीय स्रोतों का उपयोग नहीं हो पाया। विभिन्न क्षेत्रों एवं समूहों के मध्य असमानताऐं पिछले दशकों में बढ़ी हैं। स्वतंत्रता के बाद वाले चार दशकों के नियोजित सामाजिक परिवर्तन के बावजूद भूमि सुधार, ग्रामीण संरचना के आधुनिकरण, जनसंख्या वृद्धि नियंत्रण इत्यादि आधारभूत समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया। किन्तु अभी बेहतर विकल्प के अभाव मे भारत पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से नियोजन की नीति व प्रक्रिया चालू है।

11.5 नियोजन की समस्याएँ

नियोजन विकास द्वारा लक्ष्य प्राप्ति हेतु आवश्यक है कि विवेकपूर्ण ढंग से योजना का निर्माण किया जाए, ताकि विकास के लाभ जन-सामान्य को प्राप्त हो सकें। इसके लिये आवश्यक है कि योजना बनाते समय राष्ट्र की परिस्थितियों का समुचित मूल्यांकन किया जाए। यदि राष्ट्र पर युद्ध की विभीषिका मंडरा रही है तो नियोजन की

रणनीति अलग होगी और यदि शान्ति की स्थिति है तो नियोजन का स्वरूप भिन्न होगा। इसी तरह यदि देश क्षेत्रवाद, आतंक जैसी परिस्थितियों से संघर्षरत है और विघटन को महसूस कर रहा है तो नियोजन की रणनीति कुछ और होगी और यदि राष्ट्र की स्थिति ऐसी है, जहाँ पर गरीबी, भ्रष्टाचार फैला है तो वहाँ नियोजन की रणनीति अलग होगी। नियोजन की रणनीति निर्धारित करते समय यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र के सामान्य मूल्य, विचारधारा आदि को ध्यान में रखा जाए और उसी अनुरूप राष्ट्रीय लक्ष्यों का निर्धारण किया जाए। नियोजन का स्वरूप सरकार की विचारधारा से भी निर्धारित होता है। अर्थात यदि सरकार समाजवादी विचारधारा की समर्थक है, तो नियोजन का स्वरूप समाजवादी होगा और इसी प्रकार नियोजन का पूँजीवादी प्रारूप सरकार के पूँजीवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होगा।

अगले स्तर पर राष्ट्र जिन समस्याओं से जूझ रहा होता है, उन समस्याओं की पहचान की जाती है और नियोजन करने से पहले उन समस्याओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर लिया जाता है। समस्याओं की स्पष्टता इसलिये आवश्यक है कि इससे नियोजन करने में ना केवल सुविधा होती है बल्कि लक्ष्य की प्राप्ति भी सरल हो जाती है। इसके बाद सभी लक्ष्यों को विभिन्न श्रेणियों में बांटकर इन्हें प्राथमिकताओं के आधार पर अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक लक्ष्यों में वर्गीकृत करके इनको प्राप्त करने हेतु प्रयास किये जाते हैं।

एक नियोजक को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि उसके पास आन्तरिक संसाधन कितने हैं और उसे बाहर से कितने संसाधन मिलने की सम्भावना है? इस तरह से समस्त स्रोतों से संसाधनों का आंकलन कर विभिन्न मदों के लिये संसाधनों की प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं के आधार पर आवंटन किया जाता है, ताकि कोई भी क्षेत्र उपेक्षित ना रह पाऐं। नियोजन में सही ढंग से इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिए इस तरह की रणनीति लागू करनी पड़ती है, ताकि विकास का लाभ आम आदमी तक पहुँच सके। नियोजन करना जहाँ सैद्धान्तिकता का पक्ष है, वहीं इसे लागू करना इसके व्यवहारिक पक्ष को दर्शाता है। फलतः इसका व्यवहारिक क्रियान्वयन नियोजन की सफलता हेतु अपरिहार्य हो जाता है।

इसके अलावा नियोजक को समय-समय पर अनुसंधान कार्यों द्वारा कार्यक्रम के सन्दर्भ में लोगों की प्रतिक्रियाओं को जानना भी आवश्यक है, क्योंकि इन कार्यक्रमों के मूल्यांकन द्वारा ना केवल कार्यक्रम में निहित खामियों का पता चलता है बल्क, लोगों की मनोवृत्तियों के अनुरूप भावी योजना को स्वरूप प्रदान करने में भी मदद मिलती है।

11.5.1 सामाजिक नियोजन की समस्याऐं

भारत मे लगभग 60 वर्षों से नियोजित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का कार्य पैमाने पर चल रहा है। इस नियोजित सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत ग्रामीण पुनर्निर्माण, श्रम कल्याण, अनुसूचित जातियों जनजातियों तथा स्त्रियों की स्थिति में सुधार हेतु कुछ कार्य हुए हैं, लेकिन योजनाओं की प्रगति लक्ष्यों के अनुरूप नहीं रही है। नियोजित परिवर्तन का अधिकांश लाभ साधारणतः उन लोगों को मिला है जो पहले से सम्पन्न थे। नियोजित परिवर्तन का मूल्यांकन विभिन्न कार्यक्रमों पर खर्च की गयी भारी रकम के सन्दर्भ में करें तो हमें सफलता-असफलता का वास्तविक परिदृश्य पता चल पाएगा।

नियोजित सामाजिक परिवर्तन के बावजूद आज भारत में विभिन्न भागों में अनेक प्रकार की समस्याएं पायी जाती हैं। स्पष्ट है, नियोजित परिवर्तन से विभिन्न क्षेत्रों में इच्छित सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती है। इसके पीछे कुछ कारण रहे हैं, जो निम्न हैं-

1. नियोजित सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक जागरूकता तथा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अत्यन्त आवश्यक है। अशिक्षा के कारण हमारे देश के अधिकांश लोग सामाजिक नियोजन का अर्थ, उद्देश्य एवं

महत्व को समझने में असमर्थ रहे हैं और सामाजिक नियोजन के कार्यक्रमों में आवश्यक सहयोग नहीं दे पाए हैं।

2. यहाँ नियोजित सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रम बनाते समय लक्ष्य तो काफी ऊँचे रख लिए जाते हैं, लेकिन साधनों पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता है। परिणाम यह हुआ कि उचित साधनों के अभाव में अनेक लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकी है।
3. नियोजित सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रम बनाते समय व्यवहारिकता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया कि कौन सी योजनाएं भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप हैं और कौन-सी नहीं।
4. नियोजित सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन अधिकारियों द्वारा किया जाता है। अनेक अधिकारी प्रशासनिक अकुशलता या भ्रष्टाचार के कारण दायित्वों को ठीक से नहीं निभा पाते हैं। बहुत से अधिकारी तो नौकरशाही के ब्रिटिश तौर-तरीके ही अपनाये हुए हैं और अपने में प्रजातांत्रिक मूल्यों को आत्मसात नहीं कर पाये हैं।
5. विपक्षी राजनीतिक दल सरकार का हमेशा विरोध करना चाहते हैं और कार्यक्रमों को सफल बनाने में सरकार का सहयोग नहीं करते हैं।
6. एस0 सी0 दुबे के अनुसार किसी भी योजना या कार्यक्रम की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसे बनाते समय लोगों की प्रथाओं, भावनाओं, मूल्यों और विश्वासों को ध्यान में रखा गया है अथवा नहीं। भारत में भी जिन योजनाओं में इन बातों की उपेक्षा की गई है वे अच्छी से अच्छी होने के उपरान्त भी असफल रही।
7. भारतीय समाज एक परम्परावादी समाज का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ अनेक प्रकार की रूढ़िया और अन्ध विश्वास पाए जाते हैं। परिणामस्वरूप लोग सड़ी-गली कुप्रथाओं से चिपके रहना चाहते हैं और किसी परिवर्तन को शीघ्रता से स्वीकार नहीं करते। जब तक कि परिवर्तन को स्वीकार करने की इच्छा और आकांक्षा नहीं होगी, तब तक नियोजित परिवर्तन के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति नहीं की जा सकती।
8. किसी भी योजना की सफलता के लिए लोगों में राष्ट्रीय चरित्र का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारत में राष्ट्रीय चरित्र का नितान्त अभाव पाया जाता है। यहाँ तो अधिकांश लोग ऐसे मिल जायेंगे जो अपने छोटे से स्वार्थ की पूर्ति के लिए राष्ट्र के बड़े से बड़े हित की बलि चढ़ाने से भी नहीं चूकेंगे।
9. भारत में नियोजित परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण सीमा या बांधा विश्वसनीय आकड़ों का अभाव रहा है। यहाँ सर्वेक्षण एवं शोध की दृष्टि से पूर्ण प्रशिक्षित और ईमानदार कार्यकर्ताओं का अभाव पाया जाता है। परिणामस्वरूप एकत्रित आंकड़े बहुत कुछ अविश्वसनीय होते हैं।
10. भारत में आर्थिक नियोजन पर विशेष जोर दिया गया है, ना कि सामाजिक नियोजन पर। परिणाम यह हुआ है कि नियोजन में अर्थशास्त्रियों को छोड़कर अन्य समाज-वैज्ञानिकों के ज्ञान का लाभ सामान्यतः नहीं उठाया गया है।
11. प्रजातांत्रिक देश में कोई भी अच्छी से अच्छी योजना या कार्यक्रम उस समय तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि वहाँ की जनता में आवश्यक उत्साह नहीं हो और वह सहयोग करने के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं हो। निष्क्रिय विरोध या उत्साह की कमी उत्तम से उत्तम योजना को भी नष्ट कर सकती है।

भारत में नियोजित सामाजिक परिवर्तन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त बांधाओं को दूर किया जाए और समाज-वैज्ञानिकों का सक्रिय सहयोग लिया जाए।

11.5.2 आर्थिक नियोजन की समस्याएँ

भारत में पिछले 60 वर्ष के आर्थिक नियोजन से देश में काफी प्रगति हुई है, लेकिन इन सभी उपलब्धियों के बावजूद पहले से निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके, अतः आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिली है। इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि नियोजन असफल रहा है। डॉ0 के0 एन0 राज का कहना है कि नियोजन काल में देश में आय एवं सम्पत्ति की असमानता बढ़ी है तथा भारत की अर्थव्यवस्था में समाजवादी तत्वों की उपेक्षा व पूँजीवादी तत्वों का बाहुल्य बना हुआ है। इस प्रकार भारत में आर्थिक नियोजन की कुछ समस्याएं हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

1. प्रतिव्यक्ति आय में धीमी प्रगति- भारत में आर्थिक नियोजन के बाद भी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि बहुत ही धीमीगति से हो रही है।
2. क्षेत्रीय असन्तुलन- नियोजन के फलस्वरूप क्षेत्रीय असन्तुलन कम होना चाहिए था, लेकिन उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा आदि राज्य पिछड़े बने हुए हैं, जब कि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, आदि राज्य आज भी विकसित हैं और नियोजन से पूर्व भी विकसित थे।
3. मूल्य वृद्धि- नियोजनकाल में घाटे की अर्थव्यवस्था होने से मूल्यवृद्धि होती है, लेकिन भारत में यह मूल्य वृद्धि आवश्यकता से अधिक रही है।
4. बेरोजगारी में वृद्धि- आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में एक उद्देश्य बेरोजगारी में कमी करना रहा है, लेकिन नियोजन काल में बेरोजगारी में बराबर वृद्धि होती रही है।
5. आय एवं धन की असमानता में वृद्धि- आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य केन्द्रीकरण को समाप्त कर आर्थिक समानता में वृद्धि करना रहा है। लेकिन नियोजन के 60 वर्षों के बाद भी धनी और धनी तथा गरीब और गरीब हो गया है। आय व धन की असमानता बढ़ी है।
6. सार्वजनिक उद्योग की असफलताएं- इस समय देश में केन्द्र सरकार के 246 उपक्रम हैं, जिनमें 135871 करोड़ रूपये की पूँजी लगी हुई है, लेकिन अधिकांश उपक्रम हानि पर चल रहे हैं। इसका कारण यह है कि यह अपनी पूरी क्षमता से कार्य नहीं कर पा रहे हैं। कर्मचारियों के वेतन-भत्ते अधिक हैं। इनके पास स्टाफ अधिक रहते हैं। प्रबन्धकों में प्रबन्धकीय योग्यता की कमी हैं, क्योंकि वे पेशेवर ना होकर सरकारी अफसर हैं। अतः सार्वजनिक उद्योग आशा के अनुकूल परिणाम देने में असमर्थ रहे हैं।
7. विदेशी सहायता पर निर्भरता- भारतीय आर्थिक नियोजन के विफलता का एक कारण विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता भी है। प्रो0 बी0 आर0 शिनाय के अनुसार, ''विदेशी सहायता का लाभ सर्वसाधारण को नहीं मिल पाया है, क्योंकि साधनों के एक बड़े भाग का उपयोग विशाल नदी-घाटी योजनाओं या अनुत्पादक ओद्यौगिक ईकाइयों में किया गया है'' समय-समय पर विदेशी सहायता रोक लिए जाने से देश के आर्थिक नियोजन में गतिरोध पैदा हो गया था, जिसके फलस्वरूप योजनाओं को स्थगित करना पड़ा था।
8. लक्ष्य प्राप्ति में असफलता- विभिन्न योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सकें। इसके प्रमुख कारण निम्नवत थे- पर्याप्त जन-सहयोग का अभाव, प्रशासकीय एवं प्रबन्धकीय अयोग्यता, असंतोषजनक औद्योगिक सम्बन्ध, ऊँचे लक्ष्य, पर्याप्त पूँजी निवेश का अभाव, निजी क्षेत्र में सामाजिक उत्तर दायित्व का अभाव, भ्रष्ट विनियोजित व्यवस्था, देशी तकनीक के विकास पर बल ना देना और अक्षम वित्तीय लोकनीति आदि।
9. दोषपूर्ण नियंत्रण नीति- इस 60 वर्ष के नियोजन में सरकारी नियंत्रण नीति भी दोषपूर्ण रही है, जिससे आर्थिक नियोजन के लाभ प्राप्त नहीं हो सके हैं। विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर जो नियन्त्रण और

नियमन लगाये हैं, परस्पर असम्बद्ध रहे हैं। प्रत्येक नियंत्रण ने एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति की। लेकिन देश की अर्थव्यवस्था एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के रूप में कार्य करती रही है।

संक्षेप में, भारत के स्वतन्त्रता के बाद क्षेत्रीय असन्तुलन, जातीय एवं धार्मिक भेदभाव, आर्थिक असमानता, पूँजी का केन्द्रीकरण ना होने देना, तथा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय दिलाने हेतु भारत में सामाजिक एवं आर्थिक नियोजन अपनाया गया। तमाम बांधाओं, असफलताओं के बावजूद भारत गैर-बराबरी और असमानता को कम करने में सफल रहा। आजादी के 65 वर्ष बाद भारत एक सशक्त देश के रूप में विश्व में स्थापित हो रहा है।

अभ्यास प्रश्न-

1. योजना आयोग के प्रथम अध्यक्ष कौन थे?
2. आर्थिक नियोजन का उद्देश्य क्या है?
3. योजना आयोग का पदेन अध्यक्ष कौन होता है?
4. भारत में योजना आयोग की स्थापना कब हुई थी?
5. पंचवर्षीय योजनाओं का अनुमोदन व पुनर्निरीक्षण किसके द्वारा किया जाता है?
6. तेरहवी पंचवर्षीय योजना की अवधि क्या है?
7. 'प्रथम पंचवर्षीय योजना' किस आर्थिक मॉडल पर आधारित थी?

11.6 सारांश

किसी भी प्रजातांत्रिक देश के विकास में नियोजन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत ने भी देश के विकास और अपने नागरिकों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए एक योजना के तहत काम करने की योजना तैयार की, जो पंचवर्षीय योजनाओं के रूप में सामने आयी। हर एक पंचवर्षीय योजना में अलग-अलग लक्ष्यों को निर्धारित किया गया और उन्हें पूर्ण करने के लिए धरातल पर कार्य किया गया। परन्तु किसी भी योजना या कार्यक्रम की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसे बनाते समय लोगों की प्रथाओं, भावनाओं, मूल्यों और विश्वासों को ध्यान में रखा गया है अथवा नहीं। भारत में भी जिन योजनाओं में इन बातों की उपेक्षा की गई है, वे अच्छी से अच्छी होने के उपरान्त भी असफल रही। भारत के परम्परावादी समाज में अनेक प्रकार की प्रथाओं और रूढ़ियों ने परिवर्तन को आसानी से स्वीकार नहीं किया, जिससे सामाजिक नियोजन की गति धीमी रही।

आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में भारत ने पिछले 65 वर्षों के दौरान तरक्की तो की, लेकिन इन सभी उपलब्धियों के बावजूद पहले से निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके, अतः आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिली है। कुछ विद्वान मानते हैं कि नियोजन असफल रहा है। डॉ0 के0 एन0 राज का कहना है कि नियोजन काल में देश में आय एवं सम्पत्ति की असमानता बढ़ी है तथा भारत की अर्थव्यवस्था में समाजवादी तत्वों की उपेक्षा व पूँजीवादी तत्वों का बाहुल्य बना हुआ है।

11.7 शब्दावली

नियोजन- चेतन रूप से निर्देशित करना, निजी क्षेत्र- व्यक्तिगत रूप से संचालित क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र- सरकारी ढंग से संचालित क्षेत्र, अल्पविकसित देश- पिछड़े या गरीब या अपेक्षाकृत कम विकसित राष्ट्र, विकसित देश- अपेक्षाकृत विकास सम्पन्न राष्ट्र, आर्थिक विकास- आर्थिक रूप से काफी विकसित, सामाजिक परिवर्तन- समाज में आने वाला सकारात्मक परिवर्तन, अल्पकालीन- कम समय के लिए, दीर्घकालीन- अधिक समय के लिए, पंचवर्षीय योजना- पांच वर्ष के लिए लागू योजना, सामाजिक न्याय- सामाजिक रूप से न्याय प्रदान करना

11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ब, **2.** द, **3.** स, **4.** ब, **5.** ब, **6.** स, **7.** ब

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 एस0 एन0 गुप्ता, आर्थिक विकास एवं नियोजन, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2008
2. एस0 एस0 पाण्डेय, समाजशास्त्र, नई दिल्ली, टाटा मैक्ग्रा हिल एजुकेशन प्रा0लि0, 2010
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, लोक प्रशासन, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल- 2007
4. शिव शंकर सिंह- भारत में समन्वित ग्रामीण विकास एवं नियोजन, नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशन, 2008
5. Kapur Devesh, Chandrabhan Prasad, Lant Pritchet and D Shyam Babu 2010; "Rethinking Inequality; Dalits in Uttar Pradesh in the Market Reform Era", ***Economic & Political Weekly,*** August
6. Ahluwalia, Montek S (2009): ***"Growth Distribution and Inclusiveness Reflections on India's Experience"*** in Kaushic Basu and Ravi Kantas (ed), Arguments for a better world Essays in Honour of AmartyaSen (Oxford University Press).
7. Sen, Abhijit (2010): ***"Gauging Where we are some Problems with our Statical measuring Rods"*** Presidential Adress at the 52nd Annual Conference, the Indian society of Labour Economics, Karnatak University, Dharwad.

11.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आर0 के0 दुबे- आधुनिक लोक प्रशासन, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2008
2. भारत 2012 वार्षिक सन्दर्भ ग्रन्थ, गवेषणा, सन्दर्भ और प्रशिक्षण प्रभाग, प्रकाशन विभाग, सूचना और और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
3. डॉ0 अमित अग्रवाल- समाजशास्त्र, नई दिल्ली-जगदम्बा पब्लिशिंग कम्पनी - 2012

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में नियोजन पर एक लेख लिखिए।
2. भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्य बताइये। इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हुई?
3. भारत में सामाजिक नियोजन द्वारा हुए समाज में परिवर्तनों को रेखांकित कीजिए।
4. भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता कहाँ तक रही है? इस पर एक निबन्ध लिखिए।
5. भारत में नियोजन की समस्याएं क्या है? इसकी व्याख्या कीजिए।

ईकाई-12 योजना का प्रशासनिक पक्ष- परिवर्तन की रूपरेखा, जन सहयोग

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 योजना का प्रशासनिक पक्ष
12.3 योजना एवं परिवर्तन की रुपरेखा
12.4 योजना व्यवस्था एवं जन सहयोग
12.5 योजना की प्रमुख प्रशासकीय समस्याऐं
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.11 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

वर्तमान समय उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण और राज्य, कल्याणकारी राज्य होने के नाते सरकार के समक्ष विकास से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की योजनाएं होती हैं, जिनका सही तरीके से क्रियान्वयन किया जाना अति आवश्यक होता है। भारत में सभी बड़ी योजनाऐं-परियोनाओं का मॉडल राष्ट्रीय विकास परिषद एवं योजना आयोग के माध्यम से तैयार किया जाता है, जिनको केन्द्र-राज्य तथा पंचायतों के माध्यम से अमली-जामा पहनाया जाता है। अतः देश के लिए यह जरुरी है कि एक ऐसा प्रशासनिक ढाँचा विकसित किया जाये जो योजना की चुनौतियों का सामना कर सकें। सामान्य रूप से पंचवर्षीय योजनाओं का प्रशासनिक पक्ष योजनाओं का ध्यान नहीं खींच पाया है। योजना को सही ढंग से क्रियान्वित करने के लिए नौकरशाही प्रवृत्ति एवं भ्रष्टाचार को सही करना होगा तथा राष्ट्रीय विकास परिषद एवं योजना में वैचारिक मतभेद को दूर करके सही दिशा में सही समय पर निर्णय लेना होगा।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- योजना के प्रशासनिक पक्ष को समझ सकेंगे।
- योजना एवं परिवर्तन रुपरेखा से अवगत हो सकेंगे।
- योजना के क्रियान्वयन में जनता का सहयोग कितना आवश्यक है, यह भी जान सकेंगे।
- योजना क्रियान्वयन में प्रशासकीय समस्याएं क्या हैं, को जान सकेंगे।

12.2 योजना का प्रशासनिक पक्ष

सामान्य रुप से पंचवर्षीय योजनाओं का प्रशासनिक पक्ष योजनाकारों का ध्यान नहीं खींच पाया है। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सब लोग राष्ट्रीय विकास परिषद के राजकोषीय व अन्य प्रकार की स्वायत्ता पर अधिक जोर देते हैं। लेकिन यदा-कदा ही प्रशासनिक परिसीमाओं तथा प्रशासनिक ढ़ाँचे में सुधार की मांग को मुखर स्वर से

उठाया जाता है, फिर भी किसी भी योजना में इसकी प्रशासनिक सीमा से अधिक निष्पादन की आशा नहीं की जाती। यह योजना पर ज्यादती होगी कि वह सार्वजनिक प्रशासन की सीमाओं से भी आगे बढ़े। योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने में प्रशासन एक महत्वपूर्ण कारक है। सीधे शब्दों में, योजना बनाना, प्रशासन का ही कार्य है। विकासशील देशों में क्रियान्वयन प्रक्रियाएं विकास का एक शक्तिशाली साधन बन गयी हैं। इन देशों में क्रियान्वयन स्तर पर स्थानीय हित समूह अधिक मुखर और हठधर्मी बन जाते हैं। चाहे जो लक्ष्य या प्रकट उद्देश्य हों, उनको एक तरफ छोड़कर कार्यक्रमों को विकृत कर रहें हैं। भारतीय अनुभव प्रचुर रूप में इस परिकल्पना को सिद्ध करता है। सभी योजनाओं का एक ही संदेश है कि योजना में प्रशासन को सर्वोचच प्राथमिकता मिले। प्रो0 आर0 बी0 राव ने यह उचित ही कहा था कि ''वह आयोजन के क्रियान्वयन की असफलता को सामाजिक कारकों की सशक्ति की कमी व राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक शक्तियों द्वारा थोपे गये अवरोधों से जोड़ते हैं। भारत सरकार ने 1984 की आर्थिक समीक्षा में हालांकि यह स्वीकार किया है कि योजना निर्माण और क्रियान्वयन में अनुशासन सुधारने की अधिक आवश्यकता है।''

12.3 योजना एवं परिवर्तन की रुपरेखा

वर्तमान समय में प्रत्येक देश के लिए यह जरूरी है कि एक ऐसा प्रशासनिक ढ़ाँचा विकसित किया जाये जो योजना की चुनौतियों का सामना कर सके। अब जरूरत इस बात की है कि योजना बनाने के लिए ही राष्ट्रीय प्रशासन की व्यापक योजना तैयार की जाये, जिससे पंचवर्षीय योजना के प्रशासन में सहायता मिल सके। 'संशोधन स्लिप उपागम' तब अपनाया जाता है, जब बांधापूर्ण स्थितियों से सामना हो जाता है। यह भूमि के विशिष्ट राजनीतिज्ञों से नेतृत्व की भूमिका की मांग करता है। राजनीतिक प्रमुख कार्यकारी और मंत्रियों की लगातार प्रेरणा के बिना देश में सार्वजनिक प्रशासन अपने पूर्ववत तरीके से चलता रहेगा।

सार्वजनिक प्रशासन तभी तक सक्षम और सकारात्मक होगा जब तक कि यह राजनीतिक नियंत्रण, निर्देशन और निगरानी में लगातार रहता है। एक बार पुनः दोहराते हुए राजनीतिक दिलचस्पी प्रशासनिक सुधार के लि पूर्व-दशा है और बिना प्रशासनिक सुधार के मूलरूप में किसी योजना का संचालन नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रीय विकास परिषद, जो भारतीय संघ की प्रमुख कार्यकारिणी की शीर्ष संस्था है, धीरे-धीरे एक ऐसी संस्था बन गयी है, जिसकी बिरली सभाओं में भी गम्भीरतापूर्वक विवाद नहीं किये जाते। 1950 में स्थापना के समय से लेकर अब तक राष्ट्रीय विकास परिषद की अनेक बैठकें हुई हैं। यह सर्वसम्मति की राजनीतिक प्रक्रिया को कमजोर बनाती हैं और योजना भारत जैसे बड़े और विभिन्नता वाले देश की निचले स्तर की वास्तविकताओं को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाती। सिद्धान्त में राष्ट्रीय विकास परिषद एक स्वायन्त संस्था है और योजना आयोग इसकी अधीन है। लेकिन व्यवहार में यह घटकर एक सजावटी स्तर की संस्था हो गयी है। राजनीति, प्रबन्ध और संचालन की दृष्टि से राष्ट्रीय विकास परिषद को अधिक मजबूत बनाया जाना चाहिए और इस दिशा में किये जाने वाले प्रयासों में देरी नहीं करनी चाहिए। वर्तमान समय में केन्द्र एवं राज्यों के सम्बन्धों के बीच तनाव आ गये हैं। इन दोनों स्तरों की सरकारों के बीच सहयोग बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद एक उपयुक्त संस्था है। यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि राज्यों और केन्द्रों के बीच गैर-दोस्ताना सम्बन्ध एक ऐसा वातावरण बना रहे हैं जो आयोजन और क्रियान्वयन दोनों के लिए ही हानिकारक है। अतः दोनों स्तरों की सरकारों के मध्य (मित्रता के) सेतु बनाये जाने की आवश्यकता है। योजना आयोग को अब वैसा नहीं बने रहना चाहिए जैसा कि यह कई वर्षों से है। इसे एक सशक्त संस्था बनाया जाना चाहिए और उसके तथा संविधान स्थापित वित्त आयोग के बीच असंगत सम्बन्धों को समाप्त किया जाना चाहिए। जहाँ कहीं पर अक्षमता, देरी, प्रेरित उत्पीड़न, भ्रष्टाचार अनियमितता और संसाधनों का दुरूपयोग आदि दिखायी दे, इसकी निन्दा करनी होगी और सारे क्षेत्रों तथा सारे स्तरों पर प्रशासन में व्यावसायिकता को बढ़ाना होगा। भारत प्रशासनिक देरी के लिए बदनाम है। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने केन्द्रीय

सरकार के सचिवालय को तुरन्त कार्यवाही करने और प्रशासनिक देरी को कम करने पर जोर दिया और उन्होंने जापानी और अमेरिकी उद्यमकर्ताओं के निजी विचारों को उद्धृत करते हुए बताया कि दूसरे देशों में जो एक दिन में किया जाता है, भारत में उसे करने में एक महीने से कम समय नहीं लगता। देरी जनता को परेशान करती है। भ्रष्टाचार को बढ़ावा तथा लागत वृद्धि देरी के ही दुष्परिणाम हैं। लागतों में वृद्धि योजनाओं को बदनाम कर देती हैं। औद्योगिक प्रस्तावों की निकासी एक स्थान से ही होनी चाहिए और नागरिकों से लेन-देन बिना देरी तथा उत्पीड़ित किये हुए होना चाहिए। परियोजना निर्माण एवं क्रियान्वयन में प्रशिक्षण की आवश्यकता देरी को कम करने के लिए है, क्योंकि सीमित संसाधनों से प्राप्त एक बड़ी राशि इन परियोजनाओं में फंसी हुई है।

12.4 योजना व्यवस्था एवं जन सहयोग

भारत के विस्तार स्तर को देखते हुए योजना का प्रशासन सक्रिय और व्यापक जन सहयोग के बिना नहीं हो सकता। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने जुलाई 1984 में राष्ट्रीय विकास परिषद में कहा कि ''योजना के अधिक तेजी और दक्षता पूर्ण क्रियान्वयन के लिए मैं जन सहयोग को एक साधन के रूप में देखती हूँ। मेरे लिए योजना और जनता के बीच सावयवी सम्बन्ध है।'' उन्होंने पुनः कहा कि योजना प्रक्रिया का जिला और खण्ड स्तर पर विकेन्द्रीकरण करने से जनता निर्माण और क्रियान्वयन कार्यक्रमों में पूर्णरूपेण हिस्सा लेगी। गरीबी हटाओ कार्यक्रमों की जीवन्त वास्तविकता का इसके अलावा कोई अन्य हल नहीं है। लेकिन तथ्य यह है कि हमारी विकास योजनाओं में जन-भागीदारी की उपस्थिति की जगह अनुपस्थिति ही अधिक स्पष्ट होती है। बहुत से राज्यों में पंचायती राज सक्रिय नहीं है और महाराष्ट्र व गुजरात में जहाँ यह स्थिति अच्छी है कि इसे अधिक संसाधन और कार्य प्रदान कर मजबूत बनाने के प्रयास नहीं किये जा रहे हैं। प्रभावी क्रियान्वयन के लिए जनता की भागीदारी एक पूर्व दशा है, जो योजना बनाने और प्रशासन करने दोनों की जगह विकेन्द्रीकरण का अहसास कराती है। स्थानीय स्तर की योजना के बारे में यह मूल धारणा अच्छी तरह ज्ञात होते हुए भी कि निचले स्तर की प्राथमिकताएं शीर्ष स्तर की प्राथमिकताओं जैसी नहीं होगी। हमें योजना को और नीचे तक लाना होगा। अधिक स्पष्ट रूप में उहादरण के लिए राज्य सरकार की प्राथमिकता कृषि की हो सकती है, लेकिन एक विशेष जिले या खण्ड की उस समय गम्भीर आवश्यकता वन सम्पदा में हो सकती है। इस रूप में देश में योजना का विकेन्द्रीकरण अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को देखते हुए कम है। योजना की निचली इकाई जिला व खण्ड होनी चाहिए। जैसा कि प्रो0 बी0 के0 आर0 बी0 राव ने कहा कि विकास खण्ड अधिकारी खण्ड स्तर पर दो तरफा संवाद कायम करें, एक ओर तो आवश्यक सहयोग व समन्वय, वित्तीय व प्राविधिक विशेषज्ञों से युक्त स्थानीय योजना के लिए खण्ड स्तर की प्रशासनिक इकाई से संवाद कायम करें तथा दूसरी ओर एक चुनी हुई संस्था, जैसे खण्ड स्तर की पंचायत के माध्यम से खण्ड की योजना के निर्माण में सहायता प्रदान करें। इसके क्रियान्वित होने की स्थिति में हो सकने वाली उन्नति से अवगत कराये और क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली समस्याओं के निपटाने में सहयोग दें। योजना इकाई के पदानुक्रम की इससे उच्च इकाई जिला विकास अधिकारी और एक निर्वाचित संस्था जिला परिषद हो। इस जिला परिषद में जिले की खण्ड स्तर की पंचायतों के प्रतिनिधियों के अलावा जिले के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किये जाने चाहिए। जिला विकास अधिकारी और जिला परिषद के सम्बन्ध खण्ड विकास अधिकारी और पंचायत के सम्बन्धों के समान ही होने चाहिए। योजना में अगली शीर्ष सत्ता राज्य योजना बोर्ड, राज्य मंत्रिमण्डल, राज्य विधायिका और राज्य विकास आयुक्त से संयुक्त एक इकाई हो।

यह हमें याद रखना होगा कि जब जनता सहयोग देती है तब वह अपने को संगठित भी करती है और अपने बारे में भी सोचती है। अपने फायदे के लिए तैयार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में जब वह भागीदार बनते हैं, तब उनमें सामाजिक जागरूकता आती है और वह कार्यक्रमों को और अधिक शक्ति तथा गतिशीतला प्रदान करते हैं।

निश्चय ही इसमें समय, लगेगा लेकिन मानव विकास को प्रेरित करने वाला हर कार्यक्रम ज्यादा समय की मांग करता है।

12.5 योजना की प्रमुख प्रशासकीय समस्याऐं

योजना निर्माण में प्रशासन के विभिन्न स्तरों और विभिन्न क्षेत्रों में बड़ी संख्या में विशेषज्ञों व अनुभवी कार्मिकों को भर्ती किया जाता है, लेकिन भारत में प्राविधिक कार्मिकों का मनोबल साधारणतः गिरा रहता है। इसका कारण शीर्ष स्तर से कार्यों की भरमार एवं अत्यधिक नियंत्रण। योजना का बढ़ता कार्य क्षेत्र एवं दायरे के कारण कुछ प्रमुख प्रशासकीय समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. नियोजन के अन्तर्गत सरकार के कार्य तो निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं, परन्तु दक्ष विशेषज्ञों व प्रशासकों की कमी एक समस्या बनी हुई है। पंचवर्षीय योजना के दौरान विशेषज्ञ प्रशासन में आये हैं पर उनको जो स्थान मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाया है। अतः ये स्वयं को हताश अनुभव करते हैं और इनका मनोबल गिरता है।
2. नियोजन के लिए आंकड़ों की नितान्त आवश्यकता पड़ती है। बिना आंकड़ों के तो कोई योजना बन ही नहीं सकती, परन्तु प्रशासन में आंकड़ों का निरा अभाव है। सच बात तो यह है कि आंकड़े तो सभी विषयों पर मिल जाते हैं, पर वे सही व विश्वसनीय नहीं होते।
3. संघीय सरकार के कारण नियोजन और भी अधिक कठिन हो जाता है। नियोजन केन्द्र व राज्य सरकारों में पूर्ण सहयोग की आकांक्षा करता है, पर संघीय संविधान होने के कारण राज्य अपने क्षेत्र में स्वायत्त हैं तथा केन्द्र के आदेश मानने के लिए पूर्ण बाध्य नहीं है।
4. प्रशासनकीय ढ़ाँचे में असन्तुलित वृद्धि हुई है। इससे समन्वय की समस्या पेचींदा हो गयी है।
5. सचिवालय, जहाँ नीति-निर्माण होता है तथा समन्वय किया जाता है, देश के विकास कार्यों में ब्रेक का काम करता है। सारी शक्तियां केन्द्रित करके यह क्षेत्र संस्थाओं को अशक्त रखता है, जिससे विकास के कार्य शिथिल पड़ जाते हैं।
6. प्रशासन में भ्रष्टाचार भी एक बड़ी समस्या है। नियोजन की एक बड़ी राशि विभिन्न कर्मचारियों की जेबों में चली जाती है तथा जो स्कीम या प्रोग्राम बनाये जाते हैं, वे अधूरे ही पड़े रहते हैं। सड़कें तथा भवन सरकारी कागजों पर बने हुए दिखाये जाते हैं, पर वास्तव में न तो सड़कें बनती हैं न तो भवन।
7. जनता के सहयोग का अभाव भी नियोजन के मार्ग में बड़ी बांधा है। पंचवर्षीय योजनाऐं जन सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकती।
8. क्रियान्वयन में ढीलापन नियोजन की सबसे गम्भीर समस्या है। हमारे प्लान तो लम्बे-चौड़े होते हैं, पर उन पर कार्य मन्द होता है। जब तक क्रियान्वयन में सुधार नहीं होता, नियोजन अर्थहीन क्रिया ही बना रहेगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. आर्थिक मंत्रिपरिषद की संज्ञा किसे दी जाती है?
2. योजना-क्रियान्वयन में कौन सा तत्व बांधक है?
3. वर्तमान समय में कौन सी पंचवर्षीय योजना संचालित हो रही है?
4. योजना आयोग की स्थापना कब हुयी थी?
5. प्रशासन में सबसे बड़ी समस्या क्या है?

12.6 सारांश

भारत ने विकास के लिए योजना को एक साधन के रूप में पांचवे दशक में अपनाया। हालांकि इसमें रूचि इससे पूर्व चौथे दशक के प्रारम्भ से ही थी, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने संगठित भारत के पुनर्निमाण की व्यापक योजना तैयार करने हेतु राष्ट्रीय योजना समिति का प्रतिपादन किया। सफलता के विभिन्न स्तरों पर योजना तथा वार्षिक योजनाओं सहित भारत ने ग्यारह पंचवर्षीय योजनाएं पूर्ण कर ली। हमारे देश में योजनाओं के प्रारम्भ से ही अर्थव्यवस्था की वार्षिक विकास दर दूसरे विकासशील देशों की अर्जित विकास दर से काफी कम रही है।

यहाँ पर हमें भारत में विकसित योजना की प्रमुख विशेषताओं को याद दिलाना होगा। भारत में योजना, काफी अधिक संकेन्द्रित है और संकेन्द्रण के परिप्रेक्ष्य में इस प्रवृत्ति को बांधने की चेष्टा की है। संविधान के अन्तर्गत भारत में संघीय सरकार का प्रावधान है। भारतीय योजनाएं निश्चित तौर से केन्द्रीकरण की ओर झुकी हुई हैं, लेकिन यह सम्भव है और ऐच्छिक भी कि इसके प्रतिरोधी सन्तुलित तंत्र को खोला जाय। योजना की दूसरी विशेषता इसकी नौकरशाही प्रवृत्ति है। पहले यह विशेषता एक सीमा तक छिपी हुयी थी, लेकिन अब महत्वपूर्ण विशेषता बन गयी है। योजना प्रक्रिया में किसी भी संगठित तरीके से नागरिकों को भागीदार नहीं बनाया गया। जब-जब हमारी दृष्टि क्रियान्वयन के ढीलेपन की ओर जाती है, तब-तब उसका उपाय अधिक नौकरशाहीं में देखा जाता है।

इसके अलावा यह बात स्वयं सिद्ध ही दिखायी देती है कि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना इससे पूर्व योजनाओं को ध्यान में रखकर बनायी जाती हैं तथा आखिरी योजना को नयी योजना का आधार बनाया जाता है। प्रत्येक योजना में जाने और अनजाने होने वाले निकटवर्ती तथा दूरवर्ती अपर्याप्ताओं को दर्ज किया जाता है। परिवर्ती योजनाओं में इन सारे परिवर्तनों का ध्यान रखना चाहिए और इन्हें क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

विकासशील देशों में क्रियान्वयन प्रक्रियाएं विकास का एक शक्तिशाली साधन बन गयी है। इन देशों में क्रियान्वयन स्तर पर स्थानीय समूह अधिक मुखर और हठधर्मी बन जाते हैं। चाहे जो लक्ष्य या प्रकट उद्देश्य हो उनको एक तरफ छोड़कर कार्यक्रमों को विकृत कर रहे हैं।

जहाँ कहीं पर अक्षमता, देरी, प्रेरित उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, अनियमितता और संसाधनों का दुरूपयोग दिखायी दे, इसकी निन्दा करनी होगी और सारे क्षेत्रों तथा सारे स्तरों पर प्रशासन में व्यावसायिकता को बढ़ाना होगा। प्रादेशिक स्तर पर सार्वजनिक प्रशासन की आवश्यकता, योजना उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक है और उसे मात्रा की तुलना में गुणात्मक रूप से सुदृढ़ करना होगा। जिससे यह विकास कार्यक्रमों का उपयुक्त साधन बन सके। विकास के लिए विशेषज्ञों को पद और भूमिका प्रदान करना अति आवश्यक है और असन्तुलन को दूर किया जाना चाहिए। विशेषज्ञों को प्रशासनिक अनुभव हासिल कराने पर जोर देना आवश्यक है और विकास के विभिन्न स्तरों और क्षेत्रों में प्रशासनिक उत्तर दायित्व निभाने के लिए उन्हें प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में उद्देश्यों की अधिकता क्रियान्वयन प्रक्रिया को प्रभावित करती है। यह सायद सहज क्रियान्वयन के लिए अधिक लाभकारी रहेगा कि विकास के समय योजना उद्देश्यों पर कड़ी नजर रखें। यह सही है कि ऐसे प्रजातंत्र में जहाँ विभिन्न हित-समूह राजनीतिज्ञों पर अपनी मांगों को प्रक्षेपित करते हैं, वहाँ एक उद्देश्य पर संकेन्द्रण सम्भव नहीं होगा और उद्देश्यों की बहुलता बहुत से जन समूहों को सामान्य संस्थागत ढ़ाँचे की सीमाओं में सभन्वित कर सकेगी।

क्रियान्वयन में ढीलापन प्रशासन में भ्रष्टाचार, जन सहयोग का अभाव, प्रशासकीय ढ़ाँचे में असन्तुलित वृद्धि, अत्यधिक कार्य का बोध आदि अनेक ऐसी नियोजन के मार्ग में बाधाएं हैं, जिनको दूर किया जाना नियोजन के लिए अतिआवश्यक है। इसका मतलब यह नहीं है कि योजना एक बेकार चीज है और इसे छोड़ देना चाहिए।

योजना प्रक्रिया से प्राप्त होने वाली भारत की उपलब्धियां काफी व्यापक हैं। इन उपब्धियों से होने वाले फायदों को झुठलाना बिल्कुल ही बचपना लगेगा।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा वातावरण अर्जित करने की आवश्यकता है, जो सकारात्मक रूप से आर्थिक विकास और आर्थिक योजना का समर्थक हो। इसका एक महत्वपूर्ण संघटक राष्ट्रीय चरित्र के ढ़ाँचे का पाया जाना और इससे भी ज्यादा इसको प्रशासकीय वर्ग द्वारा व्यवहार में लाया जाना है। यह संगत है कि योजना और प्रशासन की विश्वसनीयता पुनः प्रतिष्ठित की जाये। इन प्रयासों के लिए इस प्रक्रिया में सद्-भाव को आवश्यक रूप से पैदा किया जाय। यदि जिन्दगी व्यवहार के ऊँचे मूल्यों और सिद्धान्तों से प्रेरित नहीं होती तो यह जीने योग्य नहीं रहती।

12.7 शब्दावली

नियोजन- किसी कार्य को व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न करने के लिए एक योजना तैयार करना, जिसमें व्यय के प्रत्येक पहलुओं पर विचार किया जाता है, विशेषज्ञ- किसी एक क्षेत्र में पूरी जानकारी रखने वाला, परिवर्तन- बदलाव या बदलना, क्रियान्यन- किसी कार्य को सही दिशा देना, उपागम- श्रोत

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. राष्ट्रीय विकास परिषद, **2.** जन सहयोग का अभाव, **3.** 12वीं पंचवर्षीय योजना, **4.** 1950 में, **5.** भ्रष्टाचार

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी, अमरेश्वर अवस्थी, श्रीराम माहेश्वरी (1999), ''लोक प्रशासन'' इण्डियन इन्स्टीट्युट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली।
2. फाड़िया, बी0 एल0 (1998) ''लोक प्रशासन साहित्य भवन पब्लिकेशन्स हाउस, आगरा।
3. जैन, पुखराज, (2009) लोक प्रशासन एक परिचय एम0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस आगरा।
4. भाम्भरी, सी0 पी0, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया।

12.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मुतालिब, एम0, ''इण्डियन यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन' लन्दन लोक प्रशासन संस्थान।
2. भाम्भरी, सी0 पी0 ''पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन'' इण्डियन इंस्टीएयुट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन नई दिल्ली।

12.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. योजना का प्रशासनिक पक्ष का उल्लेख करते हुए उसके परिवर्तन की रूपरेखा का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. नियोजन की प्रमुख प्रशाकीय समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

इकाई-13 लोक सम्बन्ध- आवश्यकता, अर्थ तथा स्वरूप

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 लोक सम्बन्ध का अर्थ एवं परिभाषा
13.3 लोक सम्बन्ध की स्वरूप
13.4 लोक सम्बन्ध की आवश्यकता
13.5 लोक सम्बन्ध के कार्य
13.6 लोक सम्बन्ध के मार्ग में बाधाऐं
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

'लोक सम्बन्ध' शब्द जनता के साथ शासन के सम्बन्धों के लिए प्रयुक्त होता है। 'लोक' शब्द यद्यपि बार-बार प्रयोग किया जाता हैं, किन्तु इसकी परिभाषा करना सरल नहीं है। सामान्य जनता कोई एक नहीं बल्कि बहुत से लोगों का एक समूह है। सामान्य जनता एक अस्पष्ट अनिश्चित सत्ता है, जिसकी परिभाषा नहीं की जाती है। चुनाव या जनाक्रोश के अवसरों को छोड़कर हम इसकी उपस्थिति को कदाचित ही अनुभव कर पाते हैं। फिर भी हम साधारण नागरिक को जो जनता की एक ईकाई है, पहचान सकते हैं। प्रशासन या उसके किसी अंग का निरन्तर सम्पर्क व्यक्तियों से होता ही रहता है। उसे बहुत सी बातें जाननी पड़ती हैं। अनेक प्रपत्रों को भरने के लिए एवं सरकार कार्यवाहीयों से परिचित होने के लिए उसे सहायता की आवश्यकता होती है। वह अपने मामले की शीघ्र निपटारे की आशा करता है। उसके साथ प्रशासन के सम्बन्ध कैसे निश्चित किये जाये? यही लोक सम्बन्ध की मुख्य एवं कठिन समस्या है। सामान्यतः सरकारी संगठनों का विशेष संगठित समूहों, जैसे- व्यापार संघ, वाणिज्य मण्डल, विद्यार्थी संघ, अध्यापक संघ, राजनीति दल, धर्म, समूह या जाति, प्रेस, महिला समूह इत्यादि के साथ सम्पर्क होता है। लोक सम्बन्ध वर्तमान समय में प्रशासन की ही कुशलता के लिए अपरिहार्य हो चुका है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक सम्बन्ध के अर्थ एवं महत्व को समझ सकेंगे।
- लोक सम्बन्ध की आवश्यकता क्यों पड़ती हैं, इसे जान पायेंगे।
- लोक सम्बन्ध के क्या कार्य है, के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- लोक सम्बन्ध, लोक प्रशासन में अपनी कैसी भूमिका निभा रहा है, इससे अवगत हो सकेंगे।

- सरकार के सम्मुख उपस्थित गम्भीर चुनौतियों का समाधान करने में लोक सम्बन्ध की महत्वपूर्ण भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।
- वर्तमान समय में इसकी क्या प्रासंगिकता है, इस पर अपने विचार रख सकेंगे।

13.2 लोक सम्बन्ध का अर्थ एवं परिभाषा

लोक सम्बन्ध या जन सम्बन्ध या जनसम्पर्क का यद्यपि कोई निश्चित अर्थ नहीं है, लेकिन सामान्य शब्दों में यह सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करना है। यह सूचना संचार के विभिन्न माध्यमों का प्रयोग करते हुए जनता के साथ सम्पर्क कायम करती है और सरकार इसमें अपने सम्बन्धित अभिकरण के माध्यम से जनता को सरकार की भावी एवं तात्कालिक योजनाओं के बारे में बताती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न क्षेत्रों में लोक सम्बन्ध का महत्व सबसे अधिक है। प्रशासन की कुशलता एवं सुचारूता बहुत अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि लोक सम्बन्ध उनके अनुकूल किस सीमा तक है। लोक सम्बन्ध के अनुकूल ना रहने पर प्रशासन की गति स्थिर या एवं मन्द हो जाती है। यदि लोक या जनता प्रशासन के प्रतिकूल है, तो शासन पर होने वाले व्यय की मंजूरी ही क्यों देगी? सरकार को अपना विवेकपूर्ण समर्थन देने के लिए जब तक विशाल जनता को सरकार के उद्देश्यों एवं कार्यों की पर्याप्त जानकारी नहीं होगी, तब तक विनियोजन जो कि इन अभिकरणों(सरकारों) का जीवन रक्त होता है, प्राप्त नहीं हो सकता है। जनता को केवल इस बात की ही जानकारी नहीं होनी चाहिये कि सरकार किसी समय विशेष में क्या कर रही है? बल्कि यह भी कि उसका लक्ष्य क्या है और भविष्य में यह क्या चाहती है तथा उसकी भावी आवश्यकताएं क्या हैं?

लोक सम्बन्ध का यह कर्तव्य है कि वह प्रशासन के कार्य संचालन के सम्बन्ध में जनता से उनकी राय ज्ञात करे। श्रेष्ठ लोक सम्बन्ध आज नेतृत्व के महत्वपूर्ण गुण माने जाने लगे हैं और इसके महत्व पर कदाचित ही प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपनी कुछ परिभाषएं दी हैं।

जे0 एल0 मैकेंजी के अनुसार, ''प्रशासन में जन सम्बन्ध अधिकारी-वर्ग एवं नागरिकों के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों (प्रधान एवं गौण) तथा इन सम्बन्धों द्वारा स्थापित किये गये प्रभावों एवं दृष्टिकोणों की परस्पर क्रियाओं का सम्मिश्रण है।''

रेक्सहालो के अनुसार, ''जनसम्पर्क एक विज्ञान है, जिसके द्वारा संगठन एक यथार्थ रूप में अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को पूरा करने तथा उनकी सफलता हेतु जन स्वीकृति एवं अनुमोदन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।''

बर्नेज के अनुसार, बर्नेज जन सम्बन्ध के सम्बन्ध में तीन आशय प्रकट करते हैं। पहला- जनता को सूचना देना, दूसरा- जनता के कार्य तथा रूख में संसोधन का प्रयास करना और तीसरा- जनता के प्रति किसी अभिकरण के कार्यों एवं रूखों या प्रतिक्रियाओं को एकत्रित करना।

डिमॉक ने जन सम्बन्धों को सरलतम रूप में विश्लेषित करते हुए लिखा है कि ''जन सम्बन्ध, लोक सम्बन्ध, प्रशासनिक क्रिया का एक-एक अंग है, जिसके अन्तर्गत यह जानने का प्रयास करता है कि लोग उसके प्रशासनिक संगठन तथा कार्यक्रम के बारे में क्या सोचते हैं? जन सम्बन्ध का उद्देश्य संगठन को अनावश्यक आलोचनाओं से बचाकर उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि एवं उसकी अस्तित्व की रक्षा करना है। इस तरह जन सम्बन्ध या लोक सम्बन्ध की प्रत्येक क्रिया एवं नीति एक निश्चयात्मक एवं प्रतिरचनात्मक होती है। ऐसी नीतियों की सफलता इस तथ्य का पता लगाने पर निर्भर करती है कि संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए वर्तमान एवं भविष्य में क्या करना चाहिए?''

अतः उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि लोक सम्बन्ध जनता एवं सरकार के मध्य एक ऐसी कड़ी के रूप में कार्य करता है, जो अपनी-अपनी भावनाओं को एक-दूसरे के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

वास्तव में लोक सम्बन्ध एक ऐसी युक्ति है, जो प्रशासनिक संगठन की क्रियाओं को तत्काल जनता के समक्ष प्रकट करती है और जनता उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है।

13.3 लोक सम्बन्ध की स्वरूप

'लोक सम्बन्ध' शब्द जनता के साथ शासन के सम्बन्धों के लिए प्रयुक्त होता है। लोक शब्द यद्यपि बार-बार प्रयोग किया जाता है। सामान्य जनता कोई एक नहीं बल्कि बहुत से लोगों का एक समूह है। लोकतंत्र लोकमत पर आधारित शासन है। लोकमत का महत्व सभी क्षेत्रों में हैं। प्रशासन के क्षेत्र में तो यह महत्व सबसे अधिक है। प्रशासन की कुशलता और सुचारूता बहुत अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि लोकमत उसके अनुकूल किस सीमा तक है? लोकमत के अनुकूल न रहने पर प्रशासन की गति मन्द हो जाती है। यदि जनता प्रशासन के प्रतिकूल है, तो शासन पर होने वाले व्यय की मंजूरी ही क्यों देगी? सरकार को अपना विवेवपूर्ण समर्थन देने के लिए जब तक विशाल जनता को सरकार के उद्देश्यों एवं कार्यों की पर्याप्त जानकारी नहीं होगी,तब तक विनियोजन जो कि अभिकरणों (सरकारों) का जीवन रक्त होता है, प्राप्त नहीं हो सकता।

लोक प्रशासन का यह कर्तव्य है कि वह प्रशासन के कार्य संचालन के सम्बन्ध में जनता की राय ज्ञात करे। उसे केवल यही नहीं जानना चाहिए कि लोक प्रशासन के बारे में वह क्या सोचते हैं? बल्कि उनको इस बात से भी परिचित रहना चाहिए कि प्रशासन उनके लिए क्या कर रहा है? प्रशासन के कार्य संचालन के लिए सम्बन्धों की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि प्रशासन की प्रभावोत्पादकता में तभी वृद्धि होती है, जबकि उनके प्रति नागरिकों का रूख मित्रता पूर्ण होता है।

किसी भी स्वतंत्र समाज में लोक सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रेस के साथ प्रशासन के सम्बन्धों को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। प्रजातंत्र में सबसे विकट समस्या राजनीतिक दलों, विशेष रूप से सत्ताधारी दल के नेताओं तथा प्रशासकीय पदाधिकारियों से सम्बन्धित है। प्रत्येक लोकतांत्रिक देश को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है। हमें यह पूर्ण आशा है कि जैसे-जैसे राजनीतिक अपने उत्तर दायित्व में परिपक्व और अनुभवी होते जायेंगे, वे अपने कार्यों को भी समझते जायेंगे और सरकारी अधिकारियों के साथ उनके सम्बन्ध भी स्वस्थ एवं सुन्दर हो जायेंगे।

13.4 लोक सम्बन्ध की आवश्यकता

आज लोक सम्बन्ध प्रशासन का एक अंग माना जाता है। कुछ तत्व,जिन्होंने लोक सम्बन्ध में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वे इस प्रकार हैं-

1. **लोक आलोचना से रक्षा-** लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में एक मुख्य अन्तर यह है कि लोक प्रशासन में छोटी से छोटी भूल भी जल्दी ही प्रकाश में आ जाती है और जनता उसकी कटु आलोचना करने लगती है। इसके विपरीत निजी प्रशासन के क्षेत्र में बड़ी-बड़ी घटनाऐं हो जाती हैं और लोगों को उसका पता भी नहीं चलता है। इसलिए प्रशासनिक अधिकारियों को बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। उन्हें लोक आलोचना से अपनी और अपनी नीतियों की रक्षा करना होती है। इसके लिए जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना और बनाये रखना आवश्यक होता है।
2. **लोक कर्मचारियों के कार्यों का परिवर्तित स्वरूप-** आज शासकीय अधिकारियों के कार्यों का स्वरूप बदल गया है। अब केवल सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन तक ही उनका कार्य सीमित नहीं है। उनका अर्थ यह भी हो गया है कि वे सरकार की नीतियों का समुचित प्रचार करें तथा जनता को उनके बारे में जानकारी दें, ताकि सरकारी योजनाओं एवं कार्यक्रमों को लोकप्रिय समर्थन प्राप्त हो।

3. **सरकारी अधिकारियों की 'सेल्समैन' की भूमिका-** लोक सम्बन्ध या लोकसम्पर्क एक बेचने की कला है। जैसे कोई विक्रेता अपनी चीजों, वस्तुओं का प्रचार-प्रसार कर उन्हें बेचता है, उसी प्रकार आधुनिक काल में प्रशासकों को सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रम जनता में बेचने पड़ते हैं। अर्थात वे उन्हें जनता के सामने लोकसम्पर्क माध्यमों से इस रूप में पेश करते हैं कि वे जनता को जानकारी हो जाय और अपना समर्थन प्रदान करें। इसलिए कहा गया है कि लोक सम्बन्ध बनाने में एक सेल्समैन की तरह कार्य करना पड़ता है।
4. **राज्य के कार्यों में बुद्धि-** वर्तमान में राज्य की अवधारणा एक कल्याणकारी राज्य के रूप में परिवर्तित होती जा रही है। इस कल्याणकारी राज्य की धारणा ने राज्य के कार्यों में बेतहासा वृद्धि कर दी है, जिससे प्रशासनिक क्रियाओं का दायरा बढ़ता जा रहा है। साथ ही साथ जनता की प्रशासन में भागीदारी और उसकी जागरूकता सरकार की प्रत्येक कार्यवाही एवं कार्यक्रम को निकट से देखना चाहती है। इस प्रक्रिया में यह प्रशासन की जिम्मेदारी बनती है कि वह जनता के लिए निर्मित कार्यक्रमों से उसको अवगत कराये ताकि वह उन योजनाओं का लाभ उठाये, जिन्हें वह पाना चाहती है।
5. **भ्रमों का निराकरण-** जब सरकार जनता के कार्यक्रमों को लाती है, तो कुछ विरोधी दल अपने राजनीतिक लाभ प्राप्त करने हेतु उन कार्यक्रमों एवं नीतियों को जनता के सामने भ्रामक रूप से प्रचारित करते हैं, जिससे जनता के बीच उस नीति के प्रति अनावश्यक भ्रम पैदा हो जाता है। ऐसे में यदि उन्हें उस नीति की वास्तविकता से अवगत कराया जाता है, तो उनकी शंकाओं का समाधान हो जाता है और जब वह काम सरकार द्वारा या सरकार की किसी संस्था द्वारा पूरा किया जाता है तब तो उनकी इन समस्याओं का पूरी तरह से निराकरण हो जाता है। जनसम्पर्क एक ऐसा ही सशक्त माध्यम है,जो जनता को सीधे शासन से जोड़ता है और उसकी हर शंका का समाधान करता है।
6. **नीतियों की सफलता हेतु** आ**वश्यक-** किसी भी शासकीय नीति या कार्यक्रम का सफल होना तब माना जाता है, जब उसे जनता स्वयं अनुग्रहीत करती हैं। अर्थात् शासन की नीति तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक जनता उसके बारे में सन्तुष्टि की हामी ना भर दे। अतः नीति या कार्यक्रम की सफलता के लिए जरूरी है कि वह अपने कार्यक्रम की सफलता का परीक्षण जनता के बीच जा कर प्राप्त करें। इससे एक लाभ यह होगा कि जनता की इस कार्यक्रम या नीति के प्रति प्रतिक्रिया जान लेने के बाद वह उसकी कमियों को दूर कर सकती है।

13.5 लोक सम्बन्ध के कार्य

किसी भी जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था में लोक सम्बन्ध निम्नलिखित कार्यों को अंजाम देता है-

1. जन सम्बन्ध शासन की नीतियों को जनता तक पहुँचाता है। अतः यह सरकार के एजेण्ट के रूप में सरकारी नीतियों व कार्यक्रमों का प्रचार-प्रसार करता है। इस क्रिया में वह ऐसे तमाम आधुनिक यंत्रों का इस्तेमाल करता है, जिनसे जनता आसानी से समझ सके।
2. यह विपत्ति या संकटकालीन स्थिति में रक्षात्मक उपायों को आम जनता तक पहुँचाने में सरकार की मदद करता है। यह किसी भी संकटपूर्ण स्थिति से निपटने के लिए जनता को प्रशिक्षित भी करता है।
3. जनसम्पर्क एक सरकारी साधन या यंत्र है, जो लोकमत को अपने पक्ष में बनाये रखने हेतु सभी सरकारी विभागों के कार्यों, नीतियों एवं कार्यक्रमों की सूचनाऐं जनता तक पहुँचाता है और जनता में सरकार की पैठ बनाता है।

4. यह सरकारी नियमों एवं प्रक्रियाओं को जनता के लिए सरल बनाता है। इसके लिए वह सरकारी नियमों एवं तरीकों की जनता के सामने व्याख्या करता है और सरकारी एजेन्सियों, समाचार-पत्रों, सरकारी कार्यालयों के आस-पास बोर्डों पर नियमों का उल्लेख करता है, जिन्हें पढ़कर साधारण आदमी भी सरकारी कार्यों की प्रक्रिया पूरा करता है।
5. सरकार का लोकसम्पर्क विभाग सरकारी उपाक्रमों की व्यावसायिकता बढ़ाने के उद्देश्य से उनके उत्पादों एवं अन्य प्रयोजनों को प्रचारित करता है, जिससे एक तो उस पर से काम का बोझ कम करता है साथ ही साथ उनके व्यापार को बढावा देता है।
6. जनसम्पर्क जनता की इच्छा को जानने का सबसे उत्तम साधन हे। यह जनता की भावना को अपने प्रचार अभियानों के तहत नोट करता है और फिर उसी के अनुरूप नीतियों एवं कार्यक्रमों का सृजन करता है।
7. यह जनता को सही समय पर सही तथ्यों से अवगत कराते हुये उनकी भ्रान्तियों को दूर करता है।
8. जनसम्पर्क सरकार की उपलब्धियों को जनता के सामने प्रस्तुत करने का भी काम करता है। इस विभाग का दायित्व है कि वह जनता को सरकारी कार्यों की समय-समय पर पर्याप्त जानकारी देता है।

13.6 लोक सम्बन्ध के मार्ग में बाधाऐं

लोकसम्पर्क के मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित रहती हैं। जैसे- जनता की निरक्षरता, आधुनिक सरकारी कार्य पद्धति की जटिलता, जनता की उदासीनता, लोक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये धन की आपर्याप्तता आदि। यदि जनता अनपढ़ हो तो उसे सरकारी योजनाएं समझाना एक कठिन कार्य होता है। सम्पर्क के प्रति कई बार जनता का गलत दृष्टिकोण होता है। जनता साधारणता यह सोचती है कि अधिकांश सरकारी सूचनाएं प्रचार-प्रसार मात्र हैं। लोकसम्पर्क का प्रमुख उद्देश्य जनता में सरकारी कार्यों को लोकप्रिय बनाना और इनकी समुचित जानकारी देना है। इसकी सफलता इन बात पर अवलम्बित है कि इसका जनता पर क्या वही प्रभाव पड़ता है जो प्रशासन डालना चाहता है, या इसका कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि लोकसम्पर्क के साधनों का प्रयोग सही ढंग से किया जाय, इन्हें किन्हीं व्यक्तियों के झूठे अन्धाधुंध प्रचार-प्रसार का माध्यम न बनाया जाये और जनता को शासन के गुण-दोषों को ठीक ढंग से बताया जाय तो जनता सहज ही में सरकारी प्रचार साधनों में विश्वास रखने लगेगी और सरकार को पूरा सहयोग देने लगेगी।

रैक्स हार्लो ने ठीक ही लिखा है कि 'शासन प्रबन्ध करने वालों का अपना हित इसी में है कि उनके लोकसम्पर्क के साधन और क्रिया-कलाप निर्मल, सच्चे, स्पष्ट, प्रमाणिक और उत्तर दायी हो।

अभ्यास प्रश्न-

1. जनसम्पर्क का उद्देश्य है-
   क. प्रचार करना ख. लोकतंत्र की स्थाप ना करना
   ग. कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों से जनता को अवगत कराने का कार्य करता है-
   क. गृह विभाग ख. योजना विभाग
   ग. जनसम्पर्क विभाग घ. शिक्षा विभाग
3. जनसम्पर्क विभाग के कार्य हैं-
   क. सरकारी कार्यक्रमों का प्रचार करना ख. लोक प्रशिक्षण प्रदान करना
   ग. जनता की राय मालूम करना घ. उपर्युक्त तीनों
4. भारत में जनसम्पर्क के मार्ग में बांधा है-
   क. निरक्षरता ख. निर्धनता ग. उदासीनता घ. उपर्युक्त तीनों

5. नागरिकों एवं प्रशासकों के बीच मेल-जोल बढ़ाने का माध्यम है-

क. नौकरशाही ख. जनसम्पर्क ग. दबाव समूह घ. पर्युक्त कोई नहीं

13.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आपने लोक सम्बन्ध की आवश्यकता, अर्थ, परिभाषा तथा स्वरूप , लोक सम्बन्ध के कार्य एवं जनसम्पर्क के मार्ग में आने वाली बाधाएं आदि के विषय में विस्तार पूर्वक अध्ययन किया। लोकतंत्र लोकमत पर आधारित शासन है। लोकमत का महत्व सभी क्षेत्रों में हैं। प्रशासन के क्षेत्र में तो यह महत्व सबसे अधिक है। प्रशासन की कुशलता और सुचारूता बहुत अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि लोकमत उसके अनुकूल किस सीमा तक है? लोक प्रशासन का यह कर्तव्य है कि वह प्रशासन के कार्य संचालन के सम्बन्ध में जनता की राय ज्ञात करें। नागरिकों तथा प्रशासकों के बीच मेल-जोल व जानकारी बढ़ाने के लिए लोक सम्पर्कों का विकास किया जाना चाहिए। सरकार में जनमत की भावना का ध्यान किस प्रकार रखा जाये या उनके अनुकूल वे कौन सी योजनाएं या नीतियां काम में लायी जाये, इसको जानने के लिए सरकारें जनसम्पर्क का सहारा लेती हैं, जिसके माध्यम से वह जनता की इच्छा जानने का प्रयास करती हैं।

वर्तमान में राज्य की अवधारणा एक कल्याणकारी राज्य के रूप में परिवर्तित होती जा रही है। आज कल अधिकतर लोग यह जानना चाहते हैं कि सरकार उनके लिए क्या कर रही है व उसकी भावी योजनाएं क्या हैं?

जनसम्पर्क का यद्यपि कोई निश्चित अर्थ नही हैं, लेकिन सामान्य शब्दों में यह सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करना है। संक्षेप में लोकसम्पर्क में वे सब क्रियाएं तथा कार्यक्रम शामिल हैं जिनके द्वारा लोकमत को शासन के अनुकूल रखने का प्रयास किया जाता है।

आज लोकसम्पर्क प्रशासन का एक आवश्यक अंग माना जाता है, क्योंकि सरकार के कार्यों में लगातार अत्यधिक वृद्धि होती जा रही है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात सूचना तथा प्रचार के अभिकरणों की बाढ़ सी आ गयी और उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। आज शासकीय अधिकारियों के कार्यों का स्वरूप बदल गया है। अब केवल सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन तक ही उनका कार्य सीमित नहीं है। आधुनिक काल में प्रशासकों को सरकार की नीतियां एवं कार्यक्रम जनता में बेचने पड़ते हैं।

वर्तमान समय में किसी भी जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए शासन की नीतियों को जनता तक पहुँचाना पड़ता है। उसका प्रचार तथा जनता को देश की रक्षा के लिए या अन्य राष्ट्रीय आपात से निपटने के लिए प्रशिक्षण देना होता है। जनसम्पर्क के माध्यम से सरकार जनता की भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयास करती है, तथा साथ ही साथ सरकार की उपलब्धियों के बारे में जनता को पर्याप्त जानकारी देती है।

लोकसम्पर्क के मार्ग में अनेक बाधाएं भी उपस्थित रहती हैं, जैसे- जनता की निरक्षरता, आधुनिक सरकारी कार्य पद्धति की जटिलता, जनता की उदासीनता, लोक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए धन की अपर्याप्तता आदि। यदि जनता अनपढ़ हो तो सरकारी योजनाएं समझाना एक कठिन कार्य होता है। लोकसम्पर्क का प्रमुख उद्देश्य जनता में सरकारी कार्यों को लोकप्रिय बनाना और इनकी समुचित जानकारी देना है।

अन्ततः निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि लोक सम्बन्ध (सम्पर्क) लोक प्रशासन का दर्पण है, इनमें लोक प्रशासन की आकांक्षाएं और उपलब्धियां एक साथ दृष्टिगोचर होती हैं।

13.8 शब्दावली

अनुमोदन- स्वीकृति , पत्राचार- पत्र का आदान-प्रदान, अनुसंधान- खोज, प्रभावोत्पादकता- आकर्षण, परिपक्व- किसी क्षेत्र की पूरी जानकारी रखना

13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ, **2**. ग, **3.** घ, **4.** घ, **5.** ख

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फाड़िया, बी0 एल0 (1998), लोक प्रकाशन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. जेन, पुखराज (2013), लोक प्रशासन के सिद्धान्त, एस0बी0पी0डी0पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
3. अवस्थी अमरेश्वर (1999), लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. अवस्थी एवं माहेश्वरी , (2000), भारत में लोक प्रशासन, आगरा।
5. कौर, इन्द्रजीत (2010) लोक प्रशासन नए क्षितिज, एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा।

13.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जैन, पुखराज (2012), राजनीति विज्ञान, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. जैन, पुखराज (2009), लोक प्रशासन, एस0बी0पी0डी0प्रकाशन, आगरा।
3. भाम्मरी, सी0 पी0, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया।

13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रशासनिक व्यवस्था में लोक सम्बन्ध की क्या भूमिका है? जनता के लिए इसकी क्या आवश्यकता है?
2. लोक सम्बन्ध का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके कार्यों का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।

इकाई-14 लोक सम्बन्ध के उपकरण तथा प्रविधियाँ-प्रचार,व्यक्तिगत सम्पर्क तथा सीधा पत्राचार

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 लोक सम्बन्ध के उपकरण तथा प्रविधियाँ
14.2.1 लोक सम्बन्ध के उपकरण तथा प्रविधियां
14.2.2 लोक सम्बन्ध स्थापित करने के माध्यम
14.2.3 लोक सम्बन्ध एवं प्रचार
14.2.4 लोक सम्बन्ध एवं सीधा पत्राचार
14.2.5 लोक सम्बन्ध एवं व्यक्तिगत सम्पर्क
14.2.6 भारत में लोक सम्बन्ध के उपकरण
14.3 सारांश
14.4 शब्दावली
14.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.8 निबन्धात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

वर्तमान समय में विश्व के अधिकतर देशों में प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था पायी जाती है। प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था में जनसम्पर्क का बड़ा महत्व है। चूँकि लोकतांत्रिक सरकारें जन धारणाओं पर आधारित होकर कार्य करती हैं। जो सरकारें जन-भावनाओं के अनुरूप कार्य नहीं करती, उन्हें जनता ज्यादा दिन बर्दाश्त नहीं कर पाती और उन्हें जल्दी ही पदच्युत होना पड़ता है। इन सब से बचने के लिए सरकारें जनता से जनसम्पर्क के माध्यम से व्यक्ति की समस्याओं एवं आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक निरन्तर कार्यों को सम्पादित करती रहती हैं। श्रेष्ठ लोक सम्बन्ध आज नेतृत्व के महत्वपूर्ण गुण माने जाते हैं। आधुनिक कल्याणकारी राज्य, जिसका उद्देश्य 'जन्म से मृत्यु तक' नागरिकों की देखभाल करना है, जनता की अनेक प्रकार से सेवाएं कर रहा है।

सरकार अपने जनकल्याणकारी योजनाओं का क्रियान्वयन विभिन्न उपकरणों तथा प्रविधियों के माध्यम से जनता के साथ सम्पर्क करके ही पूरा करती है। प्रचार, विज्ञान, व्यक्तिगत, सम्पर्क, सार्वजनिक भाषण, तथा डाक सम्पर्क आदि उपकरण का सहारा समय-समय पर लेती रहती है। जिसमें प्रचार लोक सम्बन्ध का का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है, जो सरकार तथा प्रत्येक बड़े संगठन के लिए आवश्यक बन गया है। शीत युद्ध के बाद तो सरकारी सूचना तथा प्रचार के उपकरणों की बाढ़ सी आ गयी है और उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अपने देश में सरकार का प्रचार कार्य सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय को सौंपा गया है। मंत्रालय विभिन्न अभिकरणों जैसे- आकाशवाणी, दूरदर्शन, समाचार पत्र, विज्ञापन, रेडियो आदि के माध्यम से लोक सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त बड़ी से बड़ी सार्वजनिक समस्याओं का निराकरण आपसी संवाद के माध्यम से करने का प्रयास किया जाता है जो एक स्वस्थ्य लोकतंत्र की आवश्यक शर्त को पूरा करता है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक सम्बन्ध के महत्व को समझ सकेंगे।
- लोक सम्बन्ध को स्थापित करने के माध्यम को जान सकेंगे।
- लोक सम्बन्ध के विभिन्न उपकरण को जान सकेंगे, जिनके माध्यम से सरकार जनता से सम्बन्ध स्थापित करके अपने कार्यों को अंतिम रूप देती है।
- वर्तमान समय में लोक प्रशासन के सामने जो गम्भीर चुनौतियाँ हैं, उनको प्रशासन जनसम्पर्क के माध्यम से किस प्रकार दूर कर रही है, इसकी भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।

14.2 लोक सम्बन्ध के उपकरण तथा प्रविधियाँ

इस इकाई के अन्तर्गत हम लोक सम्बन्ध के उपकरण तथा प्रविधियाँ आदि की चर्चा करेंगे। लोक सम्बन्ध स्थापित करने के विभिन्न माध्यमों के साथ उसके उपकरणों- प्रचार, व्यक्तिगत सम्पर्क, डाक सम्पर्क आदि का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम लोक सम्बन्ध का भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी अध्ययन विस्तार पूर्वक करेंगे।

14.2.1 लोक सम्बन्ध के उपकरण तथा प्रविधियाँ

सम्भवतः अच्छे लोक सम्बन्ध के लिए उपकरणों, माध्यमों तथा प्रविधियों की कोई पूर्ण सूची नहीं दी जा सकती। समय, स्थान तथा मनुष्यों द्वारा सदा ही उसमें परिवर्तन किये जाते हैं। ऐसा भी समय आता है जब कोई साधारण वस्तु आश्चर्यजनक कार्य कर जाती है और ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपनी मौलिकता तथा कल्पना शक्ति से लोक सम्बन्ध के क्षेत्र में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु यह बहुत कम होता है। प्रचार, विज्ञान, व्यक्तिगत सम्पर्क, सार्वजनिक भाषण तथा डाक सम्पर्क सामान्य उपकरण कहे जा सकते हैं। प्रचार लोक सम्बन्ध का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है और सरकार तथा प्रत्येक बड़े संगठन के लिए यह आवश्यक बन गया है। आज कदाचित ही ऐसी कोई सरकार है, जिसमें सूचना या प्रचार का कोई विभाग ना हो। प्रजातंत्रीय तथा अधिनायकतंत्रीय दोनों ही प्रकार की सरकारें लोकमत को प्रभावित करने के लिए इस शक्तिशाली हथियार का प्रयोग करती है। प्रचार का अर्थ है, जनता में तथ्यों की जानकारी प्रकट करना या उनका प्रचार करना। ''जन समुदाय के साथ व्यवहार की कला'' के रूप में इसकी परिभाषा ठीक ही की गयी है। फिर भी प्रयोग में प्रचार प्रोपेगैंडा का रूप धारण कर लेता है। इन दोनों शब्दों में निश्चितताः भेद किया जा सकता है, किन्तु भेद अति सूक्ष्म है। प्रचार बिगड़कर प्रोपेगैण्डा का रूप धारण कर लेता है, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण कदाचित बदनाम डॉ0 गोवेल्स के अधीन हिटलर का बोध मंत्रालय था। प्रचार खुला स्वतंत्र तथ्ययुक्त होना चाहिए जबकि प्रोपेगैण्डा अनुचित, गोपनीय तथा झूठ पर आधारित होता है। 'बड़े झूठ' में नाजियों का विश्वास ही सारी व्याधी की जड़ था। यदि कोई प्रोपेगैण्डा निरन्तर और जोरदार तरीके से किया जाय तो वह जन-बुद्धि को दास बना सकता है तथा उसे परिवर्तित कर सकता है। केवल इसी कारण सरकारी प्रचार को प्रायः विरोध तथा संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।
आधुनिक समय में प्रचार के तीन प्रधान माध्यम हैं- दृश्य अर्थात देखे जाने वाले (दृश्य, विज्ञापन, प्रचार, मूकचलचित्र, प्रदर्शन) श्रव्य अर्थात सुने जाने वाले (रेडियो, ब्रॉडकास्ट तथा व्याख्यान) तथा दृश्य-श्रव्य अर्थात देखे और सुने जा सकने वाले (चलचित्र तथा टेलीकास्ट)। आधुनिक सरकारें अपने प्रचार में इन सभी रीतियों का पूरा-पूरा प्रयोग करती है। इनमें रेडियो तथा दूरदर्शन या टेलीविजन स्पष्टतः सबसे शक्तिशाली माध्यम है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के विगत चुनावों में टेवीविजन ने बहुत महत्वूर्ण ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

राष्ट्रपति पद के दोनों उमीदवारों के महत्वपूर्ण चर्चाओं तथा वाद-विवाद ने जिन्हें लाखों अमरीकनों ने टेलीविजन पर देखा, चुनाव को निर्धारित करने की दिशा में बहुत बड़ा कार्य किया था।

14.2.2 लोक सम्बन्ध स्थापित करने के माध्यम

प्रशासन जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग करता है। यह जन-सम्पर्क अधिकारी की अपनी सूझ-बूझ पर निर्भर करता है कि वह कौन से साधन को प्रयोग में लाता है? आधुनिक समय में वैज्ञानिक प्रगति ने ऐसे अनेकों साधनों को निकाला है, जिनसे जनता हर समय प्रत्यक्षतया शासन एवं शासकीय नीतियों से जुड़ी रहती है। वर्तमान में ये साधना क्या-क्या हैं, इसकी विस्तृत विवेचना नीचे की जा रही है-

1. प्रकाशन तथा सूचना- प्रत्येक सरकार अपने कार्यक्रमों और योजनाओं का जनता में प्रचार करने के लिए अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करती है। आज-कल प्रत्येक सरकार में एक सूचना प्रकाशन विभाग होता है। प्रकाशन का उद्देश्य रहता है कि जनता को सरकारी कार्यों के सम्बन्ध में जानकारी देना, उनके सामने तत्सम्बन्धी आंकड़े रखना और प्रचार करना।
2. आकाशवाणी तथा रेडियो- आकाशवाणी जनसम्पर्क का सबसे सशक्त साधन है। जब से रेडियो सस्ते होकर गांव-गांव में पहुँचे हैं, तब से आकाशवाणी के माध्यम से जनता के साथ सम्पर्क करना बहुत सरल हो गया है। इसके द्वारा क्या पढ़े-लिखे और क्या अनपढ़ दोनों प्रकार के व्यक्तियों को सूचनाऐं दी जाती हैं।
3. प्रदर्शनियां- लोक सम्बन्ध का एक अन्य तरीका प्रदर्शनियां लगाना है। सरकार के विभिन्न विभाग प्रदर्शनियों के माध्यम से अपनी उपलब्धियों के आंकड़े जनता के सम्मुख रखते हैं। भारत में परिवार नियोजन सम्बन्धी नीति के क्रियान्वयन में प्रदर्शनियों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।
4. सार्वजनिक भाषण एवं जन-सम्पर्क का दौर जनसम्पर्क हेतु यात्रायें की जा सकती हैं और विशाल जन-समूह के सामने भाषणों के माध्यम से सरकारी योजनाओं एवं कार्यक्रमों पर प्रकाश डाला जा सकता है।
5. विज्ञापन- सरकारी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए तथा उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए विज्ञापन का प्रयोग किया जाता है।

14.2.3 लोक सम्बन्ध एवं प्रचार

प्रचार लोक सम्बन्ध का मुख्य अंग हैं। परन्तु प्रचार और सम्पर्क में अन्तर है। प्रशासकीय प्रचार में कार्य के तथ्यों को लोक में विदित किया जाता है। उधर लोक प्रचार में लोक के व्यवहार पर प्रभाव डाला जाता है और उसके मत को अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाता है। प्रशासकीय प्रचार केवल तथ्यों एवं वार्ताओं को उजागर करता है। मत या व्यवहार को प्रभावित करना उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं है।

प्रशासकीय प्रचार, विषयों का मूल उद्-भव ज्ञात रहता है। परन्तु लोक प्रचार कहाँ से हो रहा है, इसका निश्चित जानकारी नहीं हो पाती है। इसमें तथ्यों का भी उतना विचार नहीं रहता, जितना प्रशासकीय प्रचार में रहता है। वस्तुतः प्रशासकीय प्रचार वास्तविक तथ्यों का प्रचार है, यह कोई रहस्य की बात नहीं है। प्रशासकीय प्रचार का उद्देश्य कुत्सित नहीं होता। लोगों को वास्तविकता से परिचित करना ही इसका उद्देश्य है। यह एक प्रचार की लोक सेवा है, पर लोक प्रचार ऐसा नहीं होता है। इसका उद्देश्य लोक को अपने अनुकूल बनाना और अपनी और खींचना है। हिटलर को लोक प्रचार का पण्डित माना है, उसका स्पष्ट मत था कि लोक प्रचार का आधार झूठ है। ज्यो-ज्यों झूठ बड़ा होगा, त्यों-त्यों लोक प्रचार को बल मिलेगा।

लोक प्रचार को बुरा माना जा सकता है। जबकि लोकसम्पर्क का अपना विशिष्ट महत्व है। यदि लोकसम्पर्क नहीं होगा तो अनेक उपयोगी वार्ताएं अज्ञात रह जायेंगी। कृषि, संस्कृति, स्वास्थ्य तथा वाणिज्य व्यापार आदि के

विषयों का आम जनता तक पहुँचना कठिन हो जायेगा। सरकार ने अनेक अनुसंधान केन्द्र खोल रखे हैं। उनके निष्कर्षों से नागरिक को अवगत कराना आवश्यक है, अन्यथा वे निष्प्रयोज्य हो जायेंगे।

14.2.4 लोक सम्बन्ध एवं सीधा पत्राचार

प्रत्येक प्रजातांत्रिक देश में राजनीतिक कर्मचारियों की विशेष रूप से ढेर सारी सीधी डाक आती है और प्रत्येक व्यक्ति कम से कम अपने पत्र की स्वीकृति की आशा तो रखता ही है। उदाहरण के लिए पं0 जवाहर लाल नेहरू को प्रति माह विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों तथा संगठनों की हजारों चिट्ठियां प्राप्त होती थी। यह दायित्व विचित्र है। किन्तु कोई भी मंत्री स्वयं को जोखिम में डालकर ही इसकी अवहेलना कर सकता है, या इनके प्रति उदासीन हो सकता है। ऐसे पत्रों को तुरन्त विनम्रता पूर्वक उत्तर देने से लोक सम्बन्धों की स्थापना में बहुत सहायता मिलती है।

'क्लीवलैण्ड' का कथन है कि ''मुझे याद है, पॉल हॉफमैन ने एक बार स्टाफ मीटिंग में कहा था कि हमें प्रत्येक पत्र का उत्तर , जिस दिन प्राप्त हो उसी दिन दे देना चाहिए, इस विषय में कम से कम हम यह तो कह सकते हैं कि उसका विस्तार में उत्तर हम बाद में देंगे। उन्होंने अपना कथन जारी रखते हुये कहा कि जब मैं पेट्रोल पम्प स्टेशन का व्यवसाय करता था, उस समय मैंने देखा कि यदि पेट्रोल पम्प पर किसी व्यक्ति पर तुरन्त कोई ध्यान नहीं देता था तो पेट्रोल की प्रतीक्षा में वह दो-तीन मिनट से अधिक समय तक नहीं खड़ा रह सकता था। किन्तु उसका स्वागत करके उसे समझाकर कह दिया जाय कि उसके आगे कई कारें प्रतीक्षा में हैं, तो वह बड़ी खुशी से चौथाई घण्टा रूका रहेगा।''

शासन के साथ आम नागरिक का जो पत्राचार होता है, उसका भी जनसम्पर्क के क्षेत्र में एक प्रभाव है। लोकतंत्र में आम नागरिक शासन के बड़े अधिकारियों को पत्र लिखते हैं। यदि पत्रों के संतोषजनक ढंग से उत्तर दिये जायें तो इसका जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

14.2.5 लोक सम्बन्ध एवं व्यक्तिगत सम्पर्क

लोक सम्बन्धों के अन्तिम विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह लोक अधिकारियों तथा जनता के व्यक्तिगत सदस्यों के बीच वैयक्तिक सम्पर्क के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक औसत दर्जे का नागरिक प्रशासन की उत्कृष्टता की परख छोटे से छोटे अधिकारियों के सम्पर्क में आकर कर लेता है, इसीलिए चुस्त कर्मचारियों को स्वागत करने के लिए चेहरे पर मुस्कराहट, धन्यवाद तथा मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? आदि वाक्यांशों के प्रयोग पर बल देना चाहिए। हमारे देश में बहुधा विनम्रता सप्ताहों का आयोजन होता है। इनका भी यही उद्देश्य है। स्वतंत्र भारत में सरकारी अधिकारियों को प्रति सप्ताह बहुत से मुलाकातियों से मिलना पड़ता है। राजनीतिक कार्यपालकों से मिलने वालों की संख्या और अधिक होती है।

14.2.6 भारत में लोक सम्बन्ध के उपकरण

भारत में जनसम्पर्क का उत्तर दायित्व सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय को सौंपा गया है। राज्यों में इस कार्य को सूचना एवं प्रसारण निदेशालय पूरा करता है। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय एक कार्यपालिका विभाग है, जो अपने निम्नलिखित कार्यालयों के माध्यम से जनता से सम्पर्क बनाता है-

1. महानिदेशालय, आकाशवाणी(नई दिल्ली)- सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय का यह प्रभाग आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के माध्यम से प्रचार-प्रसार करता है। यह प्रभाग इन यंत्रों के माध्यम से युवकों, महिलाओं, बच्चों, शिक्षित बेरोजगारों किसानों एवं श्रमिकों हेतु अनेक उपयोगी कार्यक्रम प्रसारित करता है, जिनका लाभ उठाकर वे सही दिशा का चुनाव करते हैं और अपने जीवन यापन के स्तर में वृद्धि करते हैं।
2. प्रेस सूचना ब्यूरो- इस केन्द्रीय संगठन की स्थापना भारत में सबसे पहले 1919 में हुई थी और आज यह सरकार और जनता के मध्य एक कड़ी का कार्य कर रहा है। यह विभाग सभी भारतीय भाषाओं (आठवीं

सूची में उल्लेखित) एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में सरकारी कार्यों एवं नीतियों की जनता के मध्य प्रेषित करता है। किसी भी स्वतंत्र समाज में लोक सम्बन्ध के क्षेत्र में प्रेस के साथ प्रशासन के सम्बन्धों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

3. विज्ञापन एवं दूरस्थ प्रचार का निदेशालय- यह निदेशालय सरकार की ओर उसकी नीतियों एवं कार्यक्रमों को विज्ञापनों के माध्यम से समाचार पत्रों एवं टी0वी0 चैनलों को प्रसारित करने हेतु भेजता है तथा उन कार्यक्रमों से सम्बन्धित पोस्टर एवं बड़े-बड़े इश्तिहार जनता के हित में प्रसारित करता है।
4. प्रकाशन विभाग- मंत्रालय का यह प्रभाग सरकारी कार्यक्रमों से सम्बन्धित पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, एलबमो आदि का निर्माण एवं प्रकाशन करता है। योजना, कुरूक्षेत्र जैसी ग्रामीण विकास से सम्बन्धित पत्रिकाओं का मुद्रण कराना, इस विभाग की जिम्मेदारी है।
5. फिल्म सम्भाग (मुम्बई)- यह प्रभाग जनता के लिए शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक महत्व के कार्यक्रमों को फिल्मांकित कर, जिसमें सरकारी नीतियों का समावेश होता है, देश के विभिन्न भागों में प्रदर्शित करता है तथा साथ ही साथ साप्ताहिक एवं पाक्षिक समाचार दर्शन तैयार कर देश की समसामयिक घटनाओं का प्रदर्शन करता है।
6. फिल्म सेंसर का केन्द्रीय मण्डल- मंत्रालय के इस प्रभाग की स्थापना 1951 में जनता के लिए दिखाई जाने वाली फिल्मों के प्रदर्शन से पूर्व संपरीक्षा करने के उद्देश्य से की गयी थी। इस मण्डल के अनापत्ति प्रमाणन के फलस्वरूप ही कोई फिल्म जनता के लिए प्रदर्शित की जाती है।
7. अनुसंधान तथा सन्दर्भ प्रभाग- यह प्रभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अन्तर्गत उन माध्यमों की खोज करता है, जो प्रसार-प्रचार में जनसम्पर्क में अग्रणी भूमिका निभा सकते हैं। यह प्रभाग उन महत्वपूर्ण विषयों पर भी ज्ञान प्राप्त करता है, जो जनता के लिए उपयोगी होता है।
8. भारतीय समाचार पत्रों के रजिस्ट्रार का कार्यालय- यह कार्यालय भारत में प्रसारित होने वाले सभी छोटे-बड़े समाचार पत्रों के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश जारी करता है तथा उनके विपणन एवं मूल्य निर्धारण सम्बन्धी मामलों को सुलझाता है।
9. पंचवर्षीय योजना प्रसार कार्यालय- यह कार्यालय पंचवर्षीय योजनाओं के प्रचार-प्रसार सम्बन्धी कार्यक्रमों का संचालन करता है। तथा इसके लिए वह पंचवर्षीय योजनाओं का मूल्यांकन भी करता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक सम्बन्ध से तात्पर्य है-

क. प्रशासकीय अभिकरणों के माध्यम से समाचारों का आदान-प्रदान

ख. प्रशासन के कार्यक्रमों के सम्बन्ध में सूचना ग्रहण करना

ग. लोकमत को शासन के अनुकूल बनाये रखने का प्रयत्न करना

घ. केवल प्रचार करना

2. लोक सम्बन्ध के उपकरण निम्नलिखित में कौन नहीं है?

क. प्रचार ख. प्रदर्शनियां ग. संगोष्ठी घ. संचार के साधन

3. प्रशासन में जीवन रक्त की संज्ञा किसे दी गयी है?

क. रेडियो ख. विनियोजन ग. सीधी डाक घ. टेलीविजन

4. प्रशासन में लोक सम्बन्ध के मार्ग में निम्न में कौन तत्व बाधक नहीं है?

क. साक्षरता ख. निरक्षरता ग. निर्धनता घ. उदासनीता

14.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आपने लोक सम्बन्ध तथा उसके विभिन्न उपकरणों एवं प्रविधियों का विस्तार पूर्वक अध्ययन किया। वर्तमान समय में लोकसम्पर्क व्यक्ति समस्या तथा उद्देश्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए निरन्तर बदलने वाले विभिन्न रूपों में कार्य करता है। लोक सम्बन्धों को प्रायः सरकार की सूचना सम्बन्धी सामान्य क्रियाओं, आंतरिक संचार तथा प्रचार से भिन्न माना जाता है। शासन का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि ढेर सी सामान्य सूचना एकत्र करके सामान्य जनता के प्रयोग के लिए उसे प्रकाशित किया जाय। प्रजातंत्र की संसदीय तथा अध्यक्षात्मक प्रणाली के अन्तर्गत विधान मण्डल जनता का एक महत्वूपर्ण अंग है। यह निर्विववाद सत्य है कि राजनीतिक निष्पादन के रूप में केवल मंत्रियों का ही विधानमण्डल से सीधा सम्पर्क है। लोक सेवा के कर्मचारियों का जनता से अप्रत्यक्ष सम्पर्क रहता है। किसी भी स्वतंत्र समाज में लोक सम्बन्ध के क्षेत्र में प्रेस के साथ प्रशासन के सम्बन्धों को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इसी में प्रेस अधिकारियों की प्रतिभा का निर्धारण भी हो सकता है। प्रेस को कार्यपालिका का चतुर्थ अंग यूँ ही नहीं कहा जाता। प्रत्येक सरकार को इस बात की व्यवस्था रखनी चाहिए कि प्रेस को पूरी सूचना मिलती रहे, जिससे जनता सरकार की नीतियां से अवलोकित होती रहे।

प्रचार लोक सम्बन्ध का सबसे महत्पूर्ण पहलू है और सरकार तथा प्रत्येक बड़े संगठन के लिए यह आवश्यक बन गया है। आज कदाचित ही ऐसी कोई सरकार है, जिसमें सूचना या प्रसार का कोई विभाग ना हो। प्रजातंत्रीय तथा अधिनायक तंत्रीय, दोनों ही प्रकार की सरकारें लोकमत को प्रभावित करने के लिए इस शक्तिशाली हथियार का प्रयोग करती रहती हैं।

प्रशासन जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के दृश्य, श्रव्य साधनों का प्रयोग करता है। यह जनसम्पर्क अधिकारी की अपनी सूझ-बूझ पर निर्भर करता है कि वह कौन से साधन को प्रयोग में लाता है?

लोकसम्पर्क विभाग भी विभिन्न प्रकार के कार्यों जैसे- प्रचार, लोक प्रशिक्षण, विभागीय कार्यों की सूचनाएं, कानूनों एवं नियमों की सरल व्याख्या, सरकार एवं जनता के बीच कड़ी का काम करती है।

शासन के साथ आम नागरिक का जो पत्राचार होता है, उसका भी जनसम्पर्क के क्षेत्र में एक प्रभाव है। लोकतंत्र में आम नागरिक शासन के बड़े-बड़े अधिकारियों को पत्र लिखते हैं। यदि पत्रों के संतोषजनक उत्तर दिये जाये तो इसका जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। हर प्रजातंत्र में राजनीतिक कर्मचारियों की विशेष रूप से ढेर सारी डाक भी आती है और प्रत्येक व्यक्ति कम से कम अपने पत्र की स्वीकृति की आशा तो रखता ही है।

भारत में लोकसम्पर्क एवं प्रचार का कार्य सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय को सौंपा गया है। यह भारत सरकार का एक कार्यपालिका विभाग है, जो समय-समय पर जनता को अपनी नीतियों से अवगत कराता रहता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लोक सम्बन्ध जनता एवं सरकार के मध्य एक ऐसी कड़ी के रूप में कार्य करता है, जो अपनी-अपनी भावनाओं को एक-दूसरे के माध्यम से व्यक्त करते हैं। वास्तव में लोकसम्पर्क एक ऐसी युक्ति है जो प्रशासनिक संगठन की क्रियाओं को तत्काल जनता के समक्ष प्रकट करती है और जनता उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है।

14.4 शब्दावली

लोक सम्बन्ध- जनसम्पर्क अर्थात प्रशासनिक भाषा में सरकार का जनता के साथ सम्पर्क में रहना, प्रचार- जनता में सही तथ्यों की जानकारी होना, व्याधि- समस्या, पत्राचार- पत्रों का आदान-प्रदान करना, उपकरण- तरीके (उपाय)

14.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग, **2.** ग, **3.** ख, **4.** क

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी, अमरेश्वर अवस्थी, श्रीराम माहेश्वरी (1999) ''लोक प्रशासन'' इण्डियन इन्स्टीट्युट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली।
2. फड़िया, बी0एल0 (1998) ''लोक प्रशासन'', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स हाउस, आगरा।
3. जैन, पुखराज, (2009), 'लोक प्रशासन' एस0बी0पी0डी0 पब्लिसिंग हाऊस, आगरा।
4. भाम्भरी, सी0पी0 ''पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया।''

14.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मुतालिब, एम0 ''इण्डियन यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन,'' लन्दन लोक प्रशासन संस्थान प्रकाशन।
2. भाम्भरी, सी0 पी0, ''पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया।''
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, (1999) ''पब्लिक एडमिनस्ट्रेशन'' इण्डियन इंस्टीट्युट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली।

14.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. जनसम्पर्क का महत्व एवं कार्यों को स्पष्ट कीजिए। भारत में इसके विभिन्न यंत्रों की विवेचना कीजिए।
2. लोक सम्बन्ध तथा प्रचार में अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रभावशाली लोक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रमुख प्रविधियों का स्पष्ट उल्लेख कीजिए।

इकाई-15 समन्वय

इकाई की संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 समन्वय की परिभाषा
15.3 समन्वय का महत्व
15.4 समन्वय की स्वरूप एवं विशेषताऐं
15.5 समन्वय की आवश्यकता
15.6 समन्वय के प्रकार
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
15.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
15.12 निबन्धात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

हम यह जानते हैं कि किसी भी विभाग में चाहे व सरकारी हो या गैर-सरकारी, उस विभाग में जो भी कार्य किये जाते है, वो व्यक्तियों द्वारा एक संगठनात्मक ढ़ाँचे में रह कर किये जाते है। किसी भी विभाग या संस्थान में किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सभी कर्मियों द्वारा उनकी योग्यता व कौशलता के अनुरूप कार्य लिया जाता है। हम देखते हैं कि विभाग में प्रत्येक कर्मचारी के पास अलग-अलग उत्तर दायित्व होते हैं, लेकिन उनका लक्ष्य एक होता है। प्रत्येक कर्मचारी का अलग-अलग कार्यों को करने के बाद भी वह एक प्रकार की व्यवस्था से जुड़ा होता है और उसके लिये प्रतिबद्ध होता है, इस व्यवस्था को समन्वय कहते हैं। समन्वय के अभाव में विभागीय साधनों का दुरूपयोग होने की सम्भावना होती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि समन्वय एक महत्वपूर्ण क्रिया है। समन्वय विभाग या संगठन के प्रयत्नों को इस प्रकार नियमित करती है कि उनके हित संस्था के हितों तथा लक्ष्यों के अनुरूप हो जाता है।

मूलतः समन्वय को प्रबन्ध से सम्बन्धित विषय के रूप में देखा जाता है, लेकिन प्रशासनिक कार्यों में प्रबन्धन का अपना अलग महत्व है। हम ये बात जानते हैं कि प्रबन्धन समन्वय की धूरी पर टिका है। किसी भी विभाग का सही व सुलभ संचालन उसके कुशल प्रबन्धन पर निर्भर रहता है। दूसरी तरफ हम ये भी कह सकते हैं कि समन्वय किसी भी संस्था के विभिन्न विभागों, कर्मचारियों तथा उनके समूहों में आपसी एकीकरण व सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करता है। इसे हम इस तरह भी समझ सकते हैं कि समन्वय विभिन्न साधनों व उनकी क्रियाओं को क्रमबद्ध करने की कला है, जिससे कि प्रभावी तरीके से संगठन या विभाग के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। समन्वय संगठन या विभाग का हृदय है जिसमें सर्वोच्च अधिकारी से लेकर निचले स्तर तक के अधिकारी व कर्मचारी एक ही मनोयोग से एक निश्चित उद्देश्य के लिये कार्य करते हैं। सामान्यतः समन्वय यह सुनिश्चित करता है कि एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी को कार्य में सहयोग प्रदान करे। विभाग के शीर्ष अधिकारी को कुशल प्रशासन के लिये कई महत्वपूर्ण कार्यों के बीच में समन्यव स्थापित करना पड़ता है। उसे नियोजन, नियंत्रण, प्रक्रिया, नियुक्तियां,

अभिप्रेरण व संगठन के बीच में समुचित तालमेल स्थापित करना पड़ता है। जिस प्रकार एक फुटबाल टीम के खिलाड़ी गोल दागने के लिये अपना-अपना प्रयास अपने स्तर पर करते हैं और गोल दाग कर सामुहिक लक्ष्य को प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार किसी विभाग में कर्मचारी व अधिकारी अपना-अपना कार्य कर किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का कार्य करते हैं। सह सामुहिक प्रयास ही समन्वय कहलाता है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप -

- भारत की प्रशासकीय व्यवस्था को विस्तृत रूप से जान पायेंगे।
- शासकीय कार्यों को कैसे किया जाता है, प्रशासन कैसे शासकीय कार्यों को करता है? इसकी जानकारी भी इस इकाई में मिलेगी।
- यह भी जान पायेंगे कि प्रशासन में समन्वय की क्या भूमिका है, इसका प्रयोग कैसे किया जाता है?
- सरकारी व गैर-सरकारी संगठनों में समन्वय का प्रयोग कैसे किया जाता है? इसका भी इस इकाई में अध्ययन किया जायेगा।
- समन्वय कैसे राजनीति विज्ञान जैसे विषय के लिये महत्वपूर्ण है? इस अध्याय में हम यह भी जानेंगे।

15.2 समन्वय की परिभाषा

अनेक विद्वानों द्वारा समन्वय की परिभाषा दी गयी है। आईये इनका अध्ययन करते हैं-

स्प्रीगल के अनुसार, "समन्वय प्रबन्ध की वह एकीकरण क्रिया है, जो संगठात्मक टीम के सदस्यों को संगठन लक्ष्य की ओर दृढ़ संकल्प व विश्वास के साथ अग्रसर व योग्य बनाती है।"

मूने एवं रैले के अनुसार, "कार्य की एकता की स्थापना हेतु सामूहिक प्रयास का व्यवस्थित आयोजन, समन्वय कहलाता है।" इस परिभाषा से समन्वय के निम्न लक्ष्यणों को हम समझ सकते हैं-

1. क्रियाओं में एकरूपता लाने का कार्य समन्वय कहलाता है।
2. समन्वय सामूहिक प्रयत्नों का व्यवस्थित प्रबन्धन है।
3. समन्वय से सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

न्यूमैन के अनुसार, "समन्वय का प्रबन्धन व्यक्तियों के एक समूह के कार्यों को व्यवस्थित ढंग से जोड़ने में व उनमें एकरूपता लाने से है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि समन्वय एक ऐसा प्रबन्ध कार्य है, जो क्रियाओं में एकीकरण स्थापित करता है तथा संस्था के सदस्यों को लक्ष्यों की ओर आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ाता है।

ग्ल्यूक के अनुसार, "समन्वय से आशय मानवीय एंव संरचनात्मक तंत्रों की उस व्यवस्था से है, जिसका निर्माण संस्था के हिस्सों को जोड़ने हेतु किया जाता है। जिससे संगठन व विभाग के उद्देश्यों की प्राप्ति को मदद मिल सके।"

कूण्टज ओ0 डोनेल के अनुसार, "समन्वय प्रबन्ध का सार है जो एक समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये व्यक्तिगत प्रयासों में एकरूपता लाने के लिये किया जाता है।"

पार्कर फौलेट के अनुसार, "यह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। अतः प्रारम्भ से ही संस्थाओं की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना चाहिए, क्योंकि बाद में समन्वय स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि समन्वय विभाग, संगठन या संस्था के उद्देश्यों, विभागीय क्रियाओं, साधनों तथा कर्मचारियों के वैयक्तिक एवं सामुहिक प्रयत्नों को एकरूपता प्रदान करने

वाला प्रबन्ध कार्य है,ताकि संस्था के उद्देश्य पूरे किये जा सके और नीतियों को सुचारू रूप से लागू किया जा सके। दूसरे शब्दों में हम ये भी कह सकते हैं कि संगठन या विभाग में विभिन्न योग्यताओं, इच्छाओं, दृष्टिकोणों एवं आकांक्षाओं वाले व्यक्ति कार्य करते हैं। समन्वय सहयोगपूर्ण वातावरण का निर्माण करता है और पारस्परिक विरोध व कटुता को दूर करने का कार्य करता है। यदि इस विविधता को उद्देश्य की एकता के रूप में रूपान्तिरित ना किया जाय तो परिणाम नकारात्मक होंगे।

15.3 समन्वय का महत्व

समन्वय का महत्व प्रबन्ध विषय में ही नहीं अपितु सभी विषयों में है। राजनीति, लोक प्रशासन, अर्थशास्त्र व अन्य सभी विषय इससे अछूते नहीं है। आज हम यह कह सकते हैं कि समन्वय वह कला है जो अनेकता को एकता में परिवर्तित कर संगठन को कार्यकुशल व प्रभावी बनाने का कार्य करता है। आज कोई भी संगठन वो चाहे सरकारी हो या गैर-सरकारी, अर्थतन्त्र, प्रशासकीय प्रबन्धन, राजनीतिक और प्रबन्धकीय कुशलता के बिना क्रियाशील नहीं हो सकता है। राजनीतिक व लोक प्रशासन के विचारक समन्वय के अन्तर्गत निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातों को सम्मिलित करते हैं। संगठन की प्रारम्भिक व अंतिम क्रियाएं समन्वय से ही स्थापित की जा सकती है, ताकि संगठन या विभाग का संचालन कुशलता पूर्वक हो सके।

पद-सोपान की व्यवस्था के बिना समन्यव संचालित नहीं हो सकती। पद-सोपान में संगठन या विभाग का प्रत्येक अधिकारी व कर्मचारी एक निश्चित उद्देश्य के लिये 'आदेश की एकता' में बंधा होता है। संगठन या विभाग के अन्तर्गत कार्यरत विभिन्न अधिकारियों व कर्मचारियों के मध्य किसी निर्णय पर सामुहिक विचार-विमर्श करना चाहिए। जिससे लिये जाने वाले निर्णय में किसी तरह का व्यवधान उत्पन्न ना होने पाये। समन्वय अधिकारियों व कर्मचारियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्प्रेषण व्यवस्था को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सेवीवर्गीय विभागों की आन्तरिक क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना चाहिए।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी विभाग व संगठन को सकुशलता के साथ चलाने के लिये समन्वय महत्वपूर्ण कारक के रूप में कार्य करता है। समन्वय एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है, जो स्थिर न होकर गत्यात्मक है।

15.4 समन्वय की स्वरूप एवं विशेषताऐं

कार्य की एकता की स्थापना हेतु सामुहिक प्रयास की नियमित व्यवस्था ही समन्वय की मूल विशेषता है। लूथर गुलिक ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि समन्वय स्वतः ही स्थापित नहीं हो जाता। इसे बुद्धिपूर्ण कठोर प्रयत्नों द्वारा स्थापित किया जाता है।

समन्वय की स्वरूप और विशेषताओं को निम्न रूप में समझा जा सकता है -

1. **समन्वय व्यापक कार्य है-** समन्वय सहयोग को सम्मिलित करने वाला विचार है। समन्वय सहकारिता से अधिक व्यापक कार्य है। सहयोग संगठन में कार्यरत व्यक्तियों की स्वैच्छिक प्रवृतियों का परिणाम होता है, जबकि समन्वय सहयोग करने वाले व्यक्तियों द्वारा स्वैच्छा से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। सहयोग समन्वय में एक महत्वपूर्ण तत्व है, किन्तु उनका प्रतिस्थापन नहीं है।
2. **समन्वय उच्च प्रबन्धकों का दायित्व है-** सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाओं में भी निजी संस्थाओं की भाँति प्रबन्धन महत्वपूर्ण कारक है। समन्वय, प्रबन्धन को गति प्रदान करने में

सहायक होता है। नेतृत्व का एक गुण समन्वय भी है इसलिये यह भी कहा जाता है कि समन्वय नेतृत्व प्रदान करता है।

3. **एकीकरण की प्रक्रिया-** समन्वय किसी भी संस्था के अधिकारियों व कर्मचारियों में एकीकरण की भावना को जागृत करती है। जिससे कोई भी संस्था अपने लक्ष्य को सफलता के साथ प्राप्त कर लेती है। किसी भी संस्था की सफलता उसके अधिकारियों व कर्मचारियों के सामुहिक प्रयास का परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि एकीकरण की प्रक्रिया किसी भी संस्था में उद्देश्य, साधनों एवं प्रयत्नों में तालमेल स्थापित कराती है।
4. **निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया-** समन्वय एक अविरल चलने वाली धारा है। यह जड़ अवस्था नहीं है। यह एक गतिमान अवस्था है जो किसी भी संगठन व संस्था में विद्यमान रहती है। जैसा कि हम जानते है कि सरकारी या किसी भी संस्था में प्रशासनिक, आर्थिक, राजनीतिक या व्यवसायिक क्रियाएं चलते रहती हैं और जो बाहरी व आंतरिक घटकों के दबाव के कारण परिवर्तित व संशोधित होते रहती हैं। इन सब क्रियाओं में समन्वय विसंगतियों व दुर्बताओं को दूर करता रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि समन्वय निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।
5. **पद-सोपानीय व्यवस्था के लिये** आ**वश्यक-** समन्वय की प्रक्रिया पद सोपानीय व्यवस्था के लिये आवश्यक है। किसी भी संगठन में लक्ष्य की प्राप्ति के लिये संगठन में कार्यरत सभी कर्मचारियों के बीच सही तालमेल स्थापित करना सबसे महत्वपूर्ण होता है, जो उचित समन्वय से ही सम्भव है। समन्वय संगठन में उच्च अधिकारियों व कर्मचारियों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है। हम यह भी कह सकते हैं कि समन्वय उच्च अधिकारियों का दायित्व है। इसे नेतृत्व का कार्य भी माना जाता है। यह आदेश व निर्देश की प्रक्रिया भी है।
6. **विभाग या संगठन के सभी हिस्सों को जोड़ने वाली प्रक्रिया-** समन्वय यांत्रिक व संरचनात्मक तंत्रों की व्यवस्था है। समन्वय के लिये यांत्रिक विधियों का भी प्रयोग किया जाता है। जैसे- संचार, नीतियां, समितियां, पद्धतियां आदि। यांत्रिक व संरचनात्मक विधियों द्वारा विभाग या संगठन के प्रयासों को एकरूपता देने का प्रयास किया जाता है। समन्वय संगठन को एक सूत्र में बांधने की प्रक्रिया है।

15.5 समन्वय की आवश्यकता

समन्वय की आवश्यकता मनुष्य को उसके जीवन के हर क्षेत्र में है। समन्वय के बिना मनुष्य न तो सामाजिक हो सकता है और ना ही अपने जीवन के सामाजिक क्रिया-कलापों में सफल हो सकता है। यदि समन्वय न हो तो खिलाड़ी खेल के मैदान में और योद्धा युद्ध के मैदान में कभी सफल नहीं हो सकता है। व्यायापार, उद्योग जगत व हम कह सकते हैं कि आज राजनीति भी समन्वय के बिना सफल नहीं हो सकती है। समन्वय की आवश्यकता को निम्न तथ्यों के साथ भली-भाँति समझा जा सकता है।

1. **लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये** आ**वश्यक-** आज वैश्वीकरण के युग में केवल औद्योगिक जगत में ही नहीं बल्कि राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक जगत में भी जटिलताएं आयी हैं। नई चुनौतियों ने समाज को नया स्वरूप दिया है। नई तकनीकी, कम्प्यूटर व संचार के जाल ने विभागों के कार्य प्रणाली को भी प्रभावित किया है। जिस कारण विभागों व संगठनों में तकनीकी से कुशल कर्मचारियों की संख्या बढ़ी है। विभागों के आकारों में परिर्वतन आया है। विभागों में उप-विभागों को बनाया गया है। कार्य विभाजन का आधार विशिष्टिकरण को बनाया गया है।

विभागों व संगठनों के विकास व विस्तार को देखते हुए समन्वय की आवश्यकता और महत्वपूर्ण हो गयी है। विभाग या संगठन अपने लक्ष्य को यथाशीघ्र पाने के लिये समन्वय की प्रक्रिया पर विषेश ध्यान देते हैं। दूसरी तरफ हम यह भी कह सकते हैं कि विभागीय संरचनाओं के निरन्तर जटिल होने के कारण समन्वय का महत्व बढ़ता जा रहा है।

2. **एकता स्थापित करने के लिये** आ**वश्यक-** समन्वय विभाग व संगठन के सभी उप-विभागों व उनके प्रभारी अधिकारियों व कर्मचारियों के बीच एक तारतम्यता स्थापित करता है। समन्वय विभागीय सम्बन्धों को बनाने में सहायक होता है। किसी भी विभाग की तदसोपानीय प्रणाली को सुचारू रूप से संचालित करने में समन्वय का विशेष महत्व होता है। यदि अधिकारियों व कर्मचारियों के बीच सही तालमेल नहीं होगा तो विभाग या संगठन की संरचना ध्वस्त हो सकती है और विभाग या संगठन अपने लक्ष्य से भटक सकता है। जो विभाग व कर्मचारियों के लिये हितकर स्थिति नहीं होती है। समन्वय विभागों व उप-विभागों के बीच व उनके कर्मचारियों के बीच में तालमेल स्थापित करता है और सम्पूर्ण संगठन को एक इकाई का स्वरूप प्रदान करता है। समन्वय विभाग के सभी कर्मचारियों के मध्य सहयोग की भावना को जागृत करता है। किसी भी विभाग व संगठन में कर्मचारियों का आपसी सहयोग विभाग या संगठन की शक्ति को प्रदर्शित करता है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि समन्वय विभाग के लक्ष्यपूर्ति में विशेष योगदान देने में सहायक होता है।
3. **कर्मचारियों में संतुलन बनाये रखने में** आ**वश्यक-** किसी भी विभाग या संगठन में कार्य करने वाले कर्मचारियों की योग्यताऐं व क्षमताऐं या कहें कि उनमें कार्य करने की कुशलता अलग-अलग होती है, उनमें समानता नहीं होती है। साथ ही विभाग के कार्य कर रहे कर्मचारियों के व्यवहार भी अलग-अलग होते हैं। कुछ व्यक्ति कुशल हाते हैं, कुछ अकुशल। कुछ व्यक्ति व्यवहार से बहुत अच्छे होते हैं, पर उनके कार्य में दक्षता का अभाव होता है। इसके ठीक विपरीत कुछ व्यक्ति व्यवहार से एकदम उदासीन स्वभाव के होते हैं, परन्तु वो अपने काम में दक्ष व कुशल होते हैं। विभाग के महत्वपूर्ण कार्य उन्हीं के पास होते हैं। कुछ कर्मचारी शीघ्रता से काम करते हैं और कुछ धीरे-धीरे काम करने के आदि होते हैं। इन सभी के बीच समन्वय स्थापित करके आपसी सन्तुलन बना कर विभाग को लक्ष्य तक पहुँचाने का काम किया जाता है। जिससे विभाग या संगठन न्यूनतम लागत में अधिकतम परिणाम प्राप्त कर सके।
4. आ**पसी हितों की समाप्ति में सहायक-** मनुष्य की स्वरूप होती है कि वो अपने हितों को लेकर कार्य को करते हैं। कर्मचारी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सामुहिक हितों की उपेक्षा करने को तैयार हो जाते हैं। विभागीय हित, संस्था के हितों से प्रमुख बन जाते हैं। पारस्परिक हित-संघर्ष को समाप्त करने के लिये समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। समन्वय व्यक्तिगत अथवा विभागीय हितों के स्थान पर सामान्य हितों की भावना को उत्पन्न करता है।
5. **विभागीय स्रोतों के उचित प्रयोग में सहायक-** प्रत्येक विभाग या संगठन चाहे वो कितना ही बड़ा क्यों ना हो उसके प्रशासनिक, आर्थिक व राजनीतिक शक्तियां सीमित होती हैं। विभागीय स्रोतों के सीमित होने के कारण समन्वय इन स्रोतों के उचित प्रयोग में सहायक होता है। सीमित साधनों का सदुपयोग भी समन्वय के द्वारा ही सम्भव है। समन्वय की प्रक्रिया दोहराव को रोकने में सफल होती है, साथ ही यह प्रक्रिया संचार एंव नेतृत्व को सफल बनाने में सहायक होते हैं। समन्वय के कारण किसी भी संगठन व संस्था में उसके साधन व स्रोत निष्क्रिय नहीं रहते, बल्कि

वो निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। दूसरी ओर समन्वय की प्रक्रिया से स्रोतों व संसाधनों की बरबादी नहीं होती है। समन्वय विभागीय कार्यों को महत्व देता है तथा साधनों का सही व सन्तुलित आवंटन करता है। इसलिये ये कहा जा सकता है कि समन्वय विभागीय स्रोतों के उचित प्रयोग में सहायक होता है।

6. **कर्मचारियों के बीच मजबूत सम्बन्धों को बनाने में सहायक-** समन्वय कर्मचारियों व संगठन के बीच एक गठजोड़ स्थापित करता है जो दोनों कर्मचारी व संस्था को शक्ति प्रदान करता है। विभाग व कर्मचारियों के श्रेष्ठ गठजोड़ के कारण उस विभाग व कर्मचारियों की छवि समाज में फैलती है, जिससे योग्य व भावी कर्मचारी युवा विभाग की ओर आकर्षित होते हैं। समन्वय मानव शक्ति को संस्था में बने रहने की प्रेरणा देती है। आज तकनीकी के युग में प्रत्येक विभाग, संस्था या संगठन में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक वातावरण बदला है। इस बदले वातावरण में प्रत्येक संस्था व संस्था के कर्मचारियों को आपसी समायोजन करके चलना होता है जो समन्वय की प्रक्रिया से ही संम्भव है।
7. समन्वय की प्रक्रिया विशिष्टीकरण के लाभों को उपलब्ध कराता है। इसके साथ ही संस्था के सामाजिक उत्तर दायित्व के निर्वाह में सहयोग करता है। समन्वय का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह संचार को प्रभावी बना कर भ्रम व आकांक्षाओं को उत्पन्न होने से रोकता है तथा संस्था की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है।

15.6 समन्वय के प्रकार

समन्वय को प्रमुखतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है- आन्तरिक समन्वय, वाह्य समन्वय और आत्म समन्वय।

1. **आन्तिरिक समन्वय-** किसी विभाग या संस्था के कर्मचारियों व अधिकारियों के बीच कार्य-प्रणाली को सुचारू रूप से संचालित करने के लिये जो प्रक्रिया अपनायी जाती है वह आन्तरिक समन्वय कहलाता है। आन्तरिक समन्वय संगठन, संस्था या विभाग के बीच कर्मचारियों, अधिकारियों, विभागों, अनुभागों व शाखाओं आदि की क्रियाओं एवं प्रयासों में सामंजस्य स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। आन्तरिक समन्वय विभाग या संस्था को एक सूत्र के रूप में पिरो देता है। आन्तरिक समन्वय को दो भागों में देखा जा सकता है- क्षैतिज समन्वय और लम्बवत समन्वय।

   समकक्ष अधिकारियों व उनके विभागों के मध्य स्थापित होने वाला समन्वय क्षैतिज समन्वय कहलाता है। किसी विभाग के अन्तर्गत उप-विभाग के प्रभारी अधिकारियों के बीच समन्वय क्षैतिज समन्वय कहलाता है। जैसे-कार्मिक विभाग, वित्त विभाग, न्याय विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग इत्यादि।

   जब उच्च अधिकारियों द्वारा अपने अधीन निम्न अधिकारी या कर्मचारियों से तालमेल के साथ बिना किसी विवाद के साथ काम लिया जाता है, ऐसा समन्वय लम्बवत समन्वय कहा जाता है। लम्बवत समन्वय उच्च स्तर से निम्न स्तर पर विभागीय क्रियाओं में एकरूपता प्रदान करने का कार्य करती है। जैसे- शिक्षा विभाग का सर्वोच्च अधिकारी व विभाग के अन्य अधिकारी व कर्मचारी उस विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के निर्देशन में काम करेंगे।
2. **वाह्य समन्वय-** किसी विभाग या संस्था का अन्य वाह्य विभाग या संस्था और संगठन के साथ समन्वय स्थापित करके किसी कार्य को करने की प्रक्रिया वाह्य समन्वय के अन्तर्गत आता है। कोई भी विभाग चाहे वो सरकारी हो या गैर-सरकारी, वाह्य विभागों के बिना किसी कार्य या लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकती

है। इसलिये प्रत्येक विभाग को अपने कार्यों से सम्बन्धित वाह्य संस्थाओं व विभागों को अपने साथ मिला कर कार्यों को सम्पन्न कराना होता है। जैसे कोई विभाग अपने कार्यों को वाह्य विभाग जैसे- बैंक, सरकार, प्रतिस्पर्धी संस्थाएं, कोषागार या अन्य के सहयोग से ही पूरा कर सकता है।

3. **आत्म समन्वय-** प्रत्येक विभाग में अधिकारी अपने कार्य निर्धारित योजनानुसार करें, तो विभाग में समन्वय स्वंय ही स्थापित हो जाता है। इस प्रकार के समन्वय को आत्म समन्वय कहा जाता है। आत्म समन्वय एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें ना तो आदेश देने की जरूरत होती है और ना ही किसी के निर्देशन की। ऐसा समन्वय उच्च अधिकारियों की कार्यकुशलता पर निर्भर होता है। आत्म समन्वय नियन्त्रण एवं आत्मानुशासन की भावनाओं पर टिका है। साइमन के अनुसार, उन सभी स्थितियों में जहाँ व्यक्ति संगठन या संस्था के उन सदस्यों के व्यवहार का अवलोकन कर सकते हों और अपने व्यवहार को उनके व्यवहार के साथ समायोजित कर सकते हों, वहाँ आत्म समन्वय स्थापित हो जाता है। जहाँ ऐसा प्रत्यक्ष अवलोकन सम्भव नहीं होता, वहाँ संगठन का समन्वय करना चाहिए। यह कथन स्पष्ट करता है कि लघु समूहों वाले संगठनों में आत्म समन्वय करना आसान होता है, क्योंकि छोटे समूहों में व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित होते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'समन्वय सामूहिक प्रयत्नों का व्यवस्थित प्रबन्धन है' किसने कहा है?
2. समन्वय का शाब्दिक अर्थ मुख्य रूप से किससे लगाया जाता है?
3. क्या समन्वय किसी विभाग या संस्था के साधनों के दुरूपयोग को रोकने का प्रयास करती है?

15.7 सारांश

इकाई का यह भाग मुख्य रूप से समन्वय की विस्तृत जानकारी देता है। साथ ही यह भी स्पष्ट करता है कि किसी भी विभाग या संस्था के लिये समन्वय कितना आवश्यक है। आज समन्वय केवल गैर-सरकारी तंत्र में ही नहीं, वरन् सरकारी तंत्र में भी महत्वपूर्ण कारक के रूप में देखा जा रहा है। समन्वय किसी भी विभाग या संस्था के लिये तंत्रीका-तंत्र की तरह कार्य करता है। समन्वय अदृश्य होकर भी किसी भी विभाग या संस्था को उसके कार्यों या लक्ष्यों तक पहुँचाने में सर्वाधिक सहायक होता है। समन्वय के बिना कोई भी कार्य चाहे व प्रशासकीय हो या प्रबन्धकीय निरर्थक साबित होता है, इसलिये समन्वय किसी भी विभाग या संस्था की उर्जा व प्राणस्वरूप है। किसी भी विभाग में कोई भी कार्य मनुष्यों के सहयोग से ही सम्पन्न हो सकता है। किसी भी कार्य को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये मनुष्य के सहयोग की आवश्यकता होती है और किसी भी मनुष्य का सहयोग प्राप्त करने की कला अभिप्रेरणा कहलाती है। समन्वय, सहयोग प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दूसरी तरफ अभिप्रेरणा के कार्य को प्रभावी ढंग से करने के लिये कर्मचारियों की आवश्यकताओं तथा कार्य-उद्देश्यों को मालूम करना पड़ता है। इस कार्य को सकुशल करने के लिये अभिप्रेरण योजनाएं तैयार करनी पड़ती हैं तथा उनको लागू करना पड़ता है। यह सब कार्य समन्वय के बिना भली प्रकार से नहीं किया जा सकता है। इसलिये ये भी कहा जाता है कि समन्वय अभिप्रेरणा का आधार है।

सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि समन्वय किसी भी विभाग, संस्था या संगठन के प्रशासकीय व प्रबन्धकीय कार्यों का आधार है। समन्वय किसी भी विभाग के कार्यों व विभाग के अपने लक्ष्यों तक पहुँचने का मूल स्रोत है। किसी विभाग की सफलता उस विभाग के व्यक्तियों के आपसी सहयोग व उचित तालमेल व समन्वय पर निर्भर करती है।

15.8 शब्दावली

गैर-सरकारी संगठन- ऐसे संस्थान या संगठन जिन पर सरकार का आंशिक या पूर्ण किसी भी प्रकार का हस्तक्ष ाप नहीं होता, आकांक्षाएं- अपेक्षाएं, व्यवधान- बाँधा, स्वैच्छिक प्रवृतियां- किसी संस्था या व्यक्ति का चरित्र

15.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मूरे एवं रैले, **2.** सहयोग से, **3.** हाँ

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 विवेक शर्मा- प्रबन्ध के सिद्धान्त।
2. पुखराज जैन व बी0 एल0 फड़िया- भारतीय शासन एवं राजनीति।
3. अवस्थी व माहेश्वरी- लोक प्रशासन।
4. जेम्स एंडरसन- पब्लिक पालिसी मेकिंग।
5. बी0सी0 माथुर- सरकार के भीतर प्रबन्धन।

15.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डॉ0 विवेक शर्मा- प्रबन्ध के सिद्धान्त।
2. पुखराज जैन व बी0 एल0 फड़िया- भारतीय शासन एवं राजनीति।
3. अवस्थी व माहेश्वरी- लोक प्रशासन।

15.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समन्वय किसे कहते हैं? यह किसी विभाग, संगठन या संस्था के लिये किस प्रकार से सहायक हो सकता है?
2. समन्वय के प्रकारों पर एक लेख लिखिये।
3. समन्वय की प्रमुख विशेषताओं को समझाईये।

इकाई-16 प्रत्यायोजन

इकाई की संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 प्रत्यायोजन की परिभाषा
16.3 प्रत्यायोजन का महत्व एवं आवश्यकता
16.4 प्रत्यायोजन के गुण
16.5 प्रत्यायोजन के प्रकार
16.6 प्रत्यायोजन के सिद्धान्त
16.7 प्रत्यायोजन की बाधांऐं
16.8 सारांश
16.9 शब्दावली
16.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
16.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
16.13 निबन्धात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

आज के कम्प्यूटर व औद्योगिक युग में किसी एक व्यक्ति के लिये सम्पूर्ण विभाग के कार्यकलापों पर नियन्त्रण रख पाना असम्भव है। प्रत्येक विभाग या संगठन में कार्यों को कर्मचारियों की योग्यता व दक्षता के आधार पर आवंटित किया जाता है और यह कोई नई प्रणाली या व्यवस्था नहीं है, बल्कि यह प्रणाली संगठन या विभाग के उद्-भव के साथ ही प्रारम्भ हुयी है। यदि हम किसी सरकारी या गैर-सरकारी संस्थान में जाकर देखें तो पाते हैं कि एक ही कार्य कई भागों में विभक्त होकर अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न कराया जा रहा होता है। इस प्रकार अपने कार्य को दूसरे व्यक्तियों को विभक्त करना ही प्रत्यायोजन कहलाता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि विभाग का शीर्ष अधिकारी जब किसी कार्य को करने में पूर्णतया सक्षम नहीं होता है, तो ऐसी स्थिति में अधिकारी अपने काम को एसे कर्मचारियों या अधिकारियों को सौंप देता है, जो उस कार्य की पूर्ण जानकारी रखते हैं या उसमें दक्ष होते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि किसी कार्य को या उस कार्य से सम्बन्धित अपने अधिकारों को अन्य अधिकारियों व कर्मचारियों में हस्तान्तरित करना प्रत्यायोजन कहलाता है। प्रत्यायोजन को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जिसे कुछ कार्य दिये जायें तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसे कुछ अधिकार व कुछ विशेष शक्तियॉ भी प्रदान की जायें, क्योंकि अधिकारों व विशेष शक्तियों के बिना कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्य को पूर्णतया पालन करने में असमर्थ होगा। अतः यह अति आवश्यक है कि यदि किसी भी व्यक्ति को काई कार्य दिया जाये तो उस व्यक्ति के पास कुछ विशेष अधिकार व शक्तियां अवश्य होनी चाहिये। किसी भी विभाग या संगठन में किसी कार्य को करने के लिये कार्यों के वितरण के साथ-साथ, कार्यों के आधार पर ही सम्बन्धित व्यक्ति को विशेष अधिकार व शक्तियां दी जाती हैं, जिसके द्वारा सम्बन्धित व्यक्ति उस कार्य को सम्पन्न कराने में सहजता प्राप्त करता है। जिस व्यक्ति को अधिकार दिया जाता है, वह अपने अधिकारों के प्रयोग से

अपनी विशेष शक्ति का हस्तांतरण कर दिये कार्य को सुलभता के साथ सम्पन्न करा लेता है। अधिकारों के इस प्रकार के हस्तांतरण को ही प्रत्यायोजन कहा जाता है।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रत्यायोजन क्या है, इसको समझ पायेंगे।
- प्रत्यायोजन किसी सस्थान के लिये कैसे उपयोगी है, इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त हो पायेगी।
- प्रत्यायोजन किस प्रकार से प्रभावी होता है तथा इसके वर्गीकरण को भी समझेंगे।
- प्रत्यायोजन प्रशासनिक संरचना में किस प्रकार उपयोगी है, इसको समझ पायेंगे।

16.2 प्रत्यायोजन की परिभाषा

आज के मशीनीकरण के युग में कार्य की क्षमता केवल व्यक्तियों से नहीं आंकी जा सकती है, बल्कि कार्य की क्षमता का आकलन तकनीकी कुशलता के आधार पर भी देखा जा सकता है। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि कार्य का हस्तांतरण तकनीकी कुशलता के आधार पर उस व्यक्ति को दिया जाता है, जो कार्यालय में प्रयोग हो रही आधुनिक तकनीकी से परिचित हो और उस तकनीकी का जानकार हो। प्रत्यायोजन की प्रक्रिया कोई नया विषय या नई अवधारणा नहीं है, बल्कि यह संगठन या विभागों के उद्-भव के साथ ही प्रारम्भ होता है। प्रत्यायोजन केवल प्रबन्ध का विषय नहीं, यह पूर्व से ही लोक प्रशासन को समझने व अध्ययन करने का सबसे उचित माध्यम रहा है। जब संसद, शासन द्वारा प्रद्त सत्ता के आधार पर आदेश, नियम या उप-नियम आदि जारी किये जाते हैं या दूसरे शब्दों में यह नियम या उपनियम प्रशासन द्वारा उसी विधि को मानते हुए अपने अधिकारियों व कर्मचारियों को परित किये जाते हैं, तो इस प्रक्रिया को प्रत्यायोजन का नाम दिया जाता है। प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेकों परिभाषाएं दी हैं-

लोक प्रशासन के विद्वानों ने माना है कि प्रत्यायोजन संगठन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अधिकारों या सत्ता का एक भाग अधीनस्थों को सौंपा जा सकता है। इसमें अधिकारों को स्थान्नात्तरण किया जाता है।

एफ0 जी0 मूरे के अनुसार, "प्रत्यायोजन का आशय कार्यों का अन्य व्यक्तियों को हस्तान्तरण तथा उनके कार्य करने की शक्ति का हस्तान्तरण है।"

एक अन्य विद्वान ने प्रत्यायोजन का अर्थ को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, प्रत्यायोजन का अर्थ अधिकार त्यागना नहीं है, बल्कि अधिकारों को सौंपना होता है।

लुईस ए0 ऐलन के अनुसार, "प्रत्यायोजन एक क्रियात्मक संचालन शक्ति है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका अनुशरण करते हुए एक प्रशासक अपने कार्य को इस तरह से विभाजित करता है कि कार्य का ऐसा भाग जो केवल वह स्वयं ही संगठन में अपनी अद्वितीय स्थिति के कारण प्रभावपूर्णता के साथ कर सकता है, वह स्वयं करता है और कार्य के अन्य भागों को या तो वही आवंटित कर देता है या उस कार्य में दूसरों की सहायता लेता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से यह आशय लगाया जा सकता है कि-

1. प्रत्यायोजन आवंटित या हस्तान्तरित किये गये कार्यों को कभी कम या अधिक भी कर सकता है या फिर कभी कार्य के पूर्ण होने से पहले ही कार्य कर रहे किसी व्यक्ति को उस कार्य से मुक्त भी कर सकता है।
2. प्रत्यायोजन के बाद भी इस क्रिया में प्रतिभाग करने वाले अधिकारी के पास अधिकार बने रहते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यह अधिकारों का वितरण है, विकेन्द्रीकरण नहीं।

3. प्रत्यायोजन उपरिगामी भी हो सकता है, जिससे अधीनस्थों की अधिकार सीमा भी स्पष्ट होती है।
4. प्रत्यायोजन का उद्देश्य प्रशासकीय एवं क्रियात्मक दक्षता को बढ़ाना होता है। यह सदैव सिद्धान्तों के आधार पर किये जाते हैं।
5. ऐसे अधिकारों का प्रत्यायोजन कभी भी नहीं किया जा सकता है, जो अधिकार क्षेत्र में न हों। प्रत्यायोजन में कार्य निष्पादन हेतु अधिकारों का हस्तान्तरण किया जाता है, ना कि किसी पद का।

16.3 प्रत्यायोजन का महत्व एवं आवश्यकता

आधुनिक काल में प्रत्यायोजन प्रशासन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। तीव्रगामी आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिर्वतनों के कारण वर्तमान समय में प्रत्यायोजन विधि निर्माण अपरिहार्य हो गया है। यदि हम इसके इतिहास में झाकें तो हम पाते हैं कि यह बहुत प्राचीन प्रक्रिया है, जब राजवंश अपना शासन व सत्ता का प्रयोग किया करते थे। आज के आधुनिक युग में कार्यप्रणाली के बदलने के साथ-साथ प्रत्यायोजन का महत्व भी बदला है। आज का राज्य लोककल्याणकारी, समाजवादी राज्य है। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने राज्य की कार्य प्रणाली में आमूल-चूल परिर्वतन किये हैं, जिस कारण प्रत्यायोजन की प्रक्रिया में भी परिर्वतन हुआ है। आज संवैधानिक विधियों, प्रशासनिक कार्यवाहियों में निरन्तर परिर्वतन हो रहे हैं, जिसके चलते कार्यों का प्रत्यायोजन कैसे किया जाये, किन व्यक्तियों को कार्य का हस्तांतरण किया जाये, ये सबसे बड़ी प्रशासनिक चुनौती है। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने जन-प्रतिनिधियों की कार्य-प्रणाली को प्रभावित किया है। आज का जन-प्रतिनिधि सीधे समाज व जनता से जुड़ा है। जिस कारण वो प्रशासन पर निरन्तर नियंत्रण बनाये रखता है और अपने कार्यों को पूर्ण कराने के लिये प्रयासरत रहता है, जिससे प्रशासकीय कार्यों में तीव्रता आयी है। प्रशासन द्वारा किये जाने वाले लोककल्याणकारी कार्य समुचित समय में व निर्गत धनराशि के अन्तर्गत हो जाये, इस सबके लिये प्रत्यायोजन की आवश्यकता होती है। कोई भी प्रशासनिक अधिकारी किसी भी कार्य को पूर्ण रूप से सम्पन्न करा दे, ऐसा प्रायः असम्भव सा ही प्रतीत होता है। उपरोक्त चर्चा के बाद हम यह कह सकते हैं कि व्यस्तताओं एवं जटिलताओं के कारण कोई भी प्रशासन संगठन की समस्त क्रियाओं का सफल संचालन नहीं कर सकता, क्योंकि यह देखा जाता है कि एक प्रशासक को कार्य का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है, जिस कारण उसे अपने कार्य को सकुशल सम्पन्न कराने के लिये प्रत्यायोजन का सहारा लेना पड़ता है। आधुनिक समय में प्रशासक के लिये प्रत्यायोजन कितना आवश्यक है, उन कारणों को निम्न रूप से देखा जा सकता है-

1. कोई भी प्रशासक चाहे कितना ही योग्य क्यों न हो, वो चाहे किसी भी प्रकार की आधुनिक तकनीकी से कुशल ही क्यों ना हो उसे भी अपने सहयोगियों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे सहयोगियों की जो उसके कार्य में अपनी सहभागिता दे सकें। हम यह जानते हैं कि बिना सहभागिता के किसी भी संस्था या संगठन का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। सहभागिता के अभाव में संस्था या संगठन अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। दूसरी ओर हम यह भी कह सकते हैं कि किसी भी संस्था या विभाग में सर्वोच्च प्रशासक संस्था या संगठन की समस्त प्रक्रियाओं का सफल संचालन नहीं कर सकता है। वो संगठन या संस्था की समस्त क्रियाओं पर अकेला नियंत्रण नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रशासक संस्था या संगठन की विविध क्रियाओं को कराना भी चाहे तो वह अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को निर्धारित समय पर पूरा नहीं कर सकता। सार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मानव अपूर्ण है, अतः जब हम यह जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक संस्था या संगठन में अपूर्ण होता है, तब ऐसी स्थिति में प्रत्यायोजन की प्रक्रिया अति आवश्यक हो जाता है।

2. आज का आधुनिक युग विशिष्टीकरण का युग है। किसी भी एक व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं है कि वो सभी क्षेत्रों की क्रियाओं में विशिष्टता प्राप्त कर ले। यह हम जान चुके हैं कि आज तकनीकी युग है। कम्प्यूटर के युग में कोई भी विभाग कम्प्यूटर से वंचित हो, ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिये आज के इस युग में कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से किसी कार्य को अकेले कर पाये यह कहना सम्भव नहीं है। अपने कार्य को लक्ष्य तक ले जाने के लिये उसे प्रत्यायोजन की आवश्यकता होती ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि विशेषज्ञों को भी अपने कार्यों को पूर्ण करने के लिये प्रत्यायोजन की आवश्यकता पड़ती है।
3. आधुनिक संचार व सूचना क्रान्ति के युग में समाज की बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये संस्था या संगठन को अपने कार्यात्मक क्षेत्रों के आकार में विस्तार करने की आवश्यकता पड़ती है। आज के युग में संस्था या संगठन के विभागों में प्रसार हुआ है। विभाग, उप-विभाग, अनुभाग आदि की स्थापना संगठन के सहयोग के लिये की गयी है। यह सभी संगठन के अंग विभाग के अलग-अलग कार्यों को कर विभाग के लक्ष्यों की पूर्ती करने का कार्य करते हैं। संस्था या संगठन के इन अंगों से कार्य लेने के लिये प्रत्यायोजन की आवश्यकता होती है।
4. उच्च अधिकारी अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का प्रत्यायोजन करके निम्न स्तर के प्रबन्ध अधिकारियों को महत्वपूर्ण विषयों एवं समस्याओं पर निर्णय लेने के अवसर प्रदान करते हैं। इससे निम्न स्तर के कर्मचारियों में भी आवश्यक गुणों का विकास होता है और भविष्य में अच्छे कर्मचारी आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं।

उपरोक्त अध्ययन ये स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यायोजन किसी भी संस्था या संगठन के लिये अति आवश्यक तत्व है। प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अधिकार प्रशासन की कुंजी है, ठीक उसी प्रकार अधिकार का प्रत्यायोजन संगठन या संस्था की कुंजी है। आधुनिक समय में प्रशासनिक संगठन अधिकारों का प्रत्यायोजन किये बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है।

16.4 प्रत्यायोजन के गुण

किसी भी संगठन व संस्था के लिये प्रत्यायोजन क्यों आवश्यक है? इसकी हम उपर विस्तृत चर्चा कर चुके है। प्रत्यायोजन से किसी भी संस्था या संगठन को क्या लाभ हो सकता है या प्रत्यायोजन के प्रमुख गुण क्या है? इसका अध्ययन करना भी आवश्यक है। किसी भी संस्था या संगठन के लिये प्रत्यायोजन के गुणों या लाभों को निम्न रूप देखा जा कसता है।

1. **कार्यभार में कमी या समय की बचत-** प्रत्यायोजन का सबसे बड़ा गुण यह है कि इस प्रक्रिया में कार्यों का हस्तान्तरण किया जाता है। किसी भी कार्य के लिये सभी व्यक्तियों का उत्तर दायित्व होता है। यह सहयोगी प्रवृति का कार्य होता है। प्रत्यायोजन किसी भी संस्था या संगठन के कार्यभार को हल्का कर देता है और संस्था या संगठन के कार्यों को सहजता के साथ निश्चित समय में पूरा कर लिया जाता है। प्रत्यायोजन का सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे समय की बचत होती है।
2. **विशेषज्ञों व व्यक्तियों का सद्पयोग-** प्रत्यायोजन व्यवस्था में विशेषज्ञों के अनुभव तथा कुशल व्यक्तियों के ज्ञान का लाभ लिया जा सकता है। संस्था या संगठन में कई तरह के कर्मचारी होते हैं। सभी कर्मचारी तकनीकी रूप से कुशल हों, यह सम्भव नहीं है। संस्था या संगठन में कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों या विशेषज्ञों द्वारा ही विभाग के अन्य कर्मचारियों के सहयोग से पूर्ण कराये जा सकते हैं।

3. **संकटकालीन परिस्थितियों में सहायक-** प्रत्यायोजन की विधि किसी भी संस्था या संगठन के संकटकालीन परिस्थितियों में सहायक होता है। जब किसी सस्था को आवश्यक कार्य करना होता है और संगठन के पास समय सीमा कम होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्यायोजन की विधि के द्वारा शीघ्र अति शीघ्र उस कार्य को समय में पूर्ण कर संकट की परिस्थिति से उभरा जा सकता है।
4. **लचीलेपन का गुण-** प्रत्यायोजन द्वारा किसी भी संस्था या संगठन में कार्य प्रणाली जटिल ना होकर सरल व सहज हो जाती है। प्रत्यायोजन की प्रक्रिया कार्यप्रणाली में लचीलापन लाने में सहायक होता है। यदि किसी कार्य को करने के बाद संस्था या संगठन के द्वारा यह निर्णय लिया जाता है कि उक्त कार्य को नये सिरे से करना है तो प्रत्यायोजन की प्रक्रिया द्वारा द्रुतगति से इस कार्य को नये सिरे से सम्पन्न कराया जाता है।
5. **कार्य की मात्रा-** कार्य का प्रसार होने पर किसी ना किसी प्रकार से प्रत्यायोजन आवश्यक हो जाता है। संगठन का सर्वोच्च अधिकारी कार्य का सारा जिम्मा स्वंय नहीं ले सकता है। अगर वो ऐसा करेगा तो कार्य की जो गुणवत्ता होनी चाहिए, वो नहीं मिल पायेगी। एल्बर्ट के0 विक्सबर्ग के अनुसार, ''जैसे-जैसे उत्पादन की मांग और मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे संगठन के काम के लिये और अधिक लोगों के सहयोग की आवश्यता पड़ती है। कर्मचारी की संख्या बढ़ने पर काम का, वास्तविक उत्पादन का, सामुहिक सेवाओं के विपणन का और उनकी सम्बद्ध आवश्यकताओं का बंटवारा होता है। श्रम व सोच विचार का बंटवारा होता है। ऐसे कामों का पता लगाया जाता है, जो दूसरे लोग सन्तोषजनक ढंग से कर सकते हैं, उन कामों को ऐसे लोगों को दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप मात्रा से सम्बद्ध अनेक ऐसे दबाव पड़ते हैं, जिनसे कर्तव्यों व दायित्वों का प्रत्यायोजन व पुनर्निरीक्षण होता है।''
6. **जटिलता-** आधुनिक तकनीकी युग में हम देख रहे हैं कि संस्था या संगठन चाहे वो सरकारी हों या गैर-सरकारी का काम जटिल होता जा रहा है। नियमों व तकनीकी पेचीदगियों ने जटिलताओं को और बढ़ा दिया है, इसलिये विशेषज्ञों की आवश्यकता और बढ़ गयी है। प्रमुख अधिकारी इन जटिलताओं को देखते हुए सारा काम स्वयं नहीं कर रहें हैं, बल्कि वो इसके लिये अपने सहयोगियों व विशेषज्ञों से विचार-विमर्श कर ही कोई निर्णय लेते हैं। लेकिन योजनाओं की मंजूरी देने का काम प्रमुख अधिकारी का ही होता।
7. **शैक्षिक महत्व-** प्रत्यायोजन से बहुत कुछ सीखने का अवसर मिलता है। सर्वोच्च अधिकारी का एक काम अपने अधीनस्थों को जिम्मेदारी को बांटना होता है, जिससे कर्मचारी कई नये कामों को सीखते हैं। और अधिकारी कार्यों के आवंटन व फैसले लेना सीखता है। इससे एक लाभ ये भी होता है कि कर्मचारी को निर्णय लेने का अवसर मिलता है। वो काम से सम्बन्धित कई निर्णय स्वयं लेकर काम को उसके लक्ष्य तक पहुँचाता है। कर्मचारियों को निर्णय लेने की शक्ति देने से उनमें संस्था या संगठन के प्रति वफादारी या अपनेपन की भावना जागृत होती है। उसका मनोबल मजबूत होता है और संगठन से जुड़े रहने के कारण उन्हें गर्व का अनुभव होता है।

16.5 प्रत्यायोजन के प्रकार

प्रत्यायोजन के कई प्रकार होते हैं, जिनको हम निम्न रूप से देख सकते हैं-

1. **स्थाई व अस्थाई प्रत्यायोजन-** प्रत्यायोजन स्थाई भी हो सकता है, अस्थाई भी। स्थाई प्रत्यायोजन के अन्तर्गत अधिकारी हमेशा के लिये हस्तांतरित कर दिये जाते हैं, बशर्ते स्थितियां सामान्य रहें। केवल असाधारण परिस्थितियों में ही अधिकार वापस लिये जा सकते हैं। अस्थाई प्रत्यायोजन में कोई काम

कराने के लिये अल्प अवधि के लिये अधिकारों को हस्तान्तरित किया जाता है। काम के पूरा होते ही हस्तान्तरित अधिकार फिर से वापस ले लिये जाते हैं।

2. **पूर्ण और आंशिक प्रत्यायोजन-** प्रत्यायोजन तब पूर्ण होता है, जब उसके साथ कोई शर्त नहीं होती। किसी भी अधिकारी या व्यक्ति को जब किसी कार्य को सौंपा जाता है तो उसे पूरी तरह से उन्मुक्त रखा जाता है। उसे किसी ऐसे शर्तों के साथ नहीं बांधा जा सकता, जो उस कार्य में अड़चन पैदा करे और दूसरी तरफ प्रमुख अधिकारी के साथ काम कर रहे अन्य अधिकारी या कर्मचारियों को उनके फैसलों पर प्रत्यायोजन करने वाले अधिकारी की मंजूरी जरूरी होती है। इस प्रकार का प्रत्यायोजन आंशिक होता है। उदाहरण के लिये, यदि विदेश भेजे गये राजनयिक को यदि किसी कूटनीति पर बातचीत का पूर्ण अधिकार हो तो यह पूर्ण प्रत्यायोजन कहलायेगा और यदि उसे कोई बातचीत करने से पहले किसी उच्च अधिकारी से सलाह या सुझाव लेना पड़े तो यह आंशिक प्रत्यायोजन होगा।
3. **सशर्त और शर्त रहित प्रत्यायोजन-** प्रत्यायोजन शर्तों के साथ भी होता है और शर्तों के बिना भी। जब किसी कार्य को करने में कुछ शर्तें व नियम जुड़े होते हैं, यानि अधिकार ग्रहण करने वाले व्यक्ति पर कुछ पाबंदियां लगा दी जाती हैं, तो ऐसा प्रत्यायोजन सशर्त प्रत्यायोजन होता है। यदि अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति बिना किसी पाबंदियों के काम करता है, तो इस प्रकार का प्रत्यायोजन बिना शर्त प्रत्यायोजन कहलाता है। उदाहरण के लिये, यदि अधीनस्थ के फैसले पर वरिष्ठ अधिकारी की स्वीकृति और निरीक्षण आवश्यक है, तो सशर्त प्रत्यायोजन होगा और अगर वह अपनी समझ से कार्य करने को स्वतंत्र है तो बिना शर्त प्रत्यायोजन होगा।
4. **औरपारिक व अनौपचारिक प्रत्यायोजन-** लिखित नियमों, अपनियमों या आदेशों के साथ किया जाने वाला प्रत्यायोजन औपचारिक होता है। औपचारिक प्रत्यायोजन में अधिकारी अपने कार्यों को दिये गये नियम-कानूनों की सीमा के भीतर ही रह कर सकता है। वह कोई भी कार्य अपने तरीके से या अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं कर सकता। सरकारी संस्थाओं या बड़े औद्योगिक घरानों में इस प्रकार का प्रत्यायोजन देखने को मिलता है। अनौपचारिक प्रत्यायोजन रीति-रीवाजों, परम्पराओं या आपसी सद्-भाव पर आधारित होता है।
5. **प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन-** ऐसा प्रत्यायोजन जिसमें सारे कार्य स्वयं के अधिकारों के साथ करने होते हैं तथा जिसमें किसी अन्य संस्था, संगठन या व्यक्ति मध्यस्था में नहीं होता है, प्रत्यक्ष प्रत्यायोजन कहलाता है। साथ ही ऐसा प्रत्यायोजन जिसमें किसी कार्य को करने के लिये एक मध्यस्थ या तीसरा पक्ष भी कार्य में अपना हस्तक्षेप रखता है, अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन कहलाता है।

16.6 प्रत्यायोजन के सिद्धान्त

प्रत्यायोजन सिद्धान्तों के साथ ही संचालित होता है। सिद्धान्तों के संचालन के बिना प्रत्यायोजन सम्भव नहीं होता है। सामान्य रूप से जब हम अधिकारों का प्रत्यायोजन करते हैं तो उस समय निम्न सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक होता है-

1. प्रत्यायोजन स्पष्ट होना चाहिये। प्रत्यायोजन किये जाने वाले अधिकार के बारे में कोई उलझन नहीं होनी चाहिए। नीतियां, नियम व क्रियाविधि स्पष्ट होनी चाहिए, ताकि अधिकारों का उपयोग करने वाले अधिकारियों व कर्मचारियों को कोई गलतफहमी नहीं होना चाहिए।

2. प्रत्यायोजन के अधिकार अधीनस्थ को लिखित रूप में दिये जाने चाहिये, ताकि अधीनस्थ को यह जानकारी हो कि उसे कितने अधिकारी प्रत्यायोजित किये गये हैं। अधीनस्थ को अपनी सीमाओं की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए।
3. अधीनस्थ व्यक्ति को कार्य हेतु कितने अधिकार सौंपे जायें, जिससे वो अपना कार्य सही तरीके से कर सके, इसकी स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। अधिकार ग्रहण करने वाले व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्यायोजक को यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि वह उसकी इच्छानुसार काम करेगा। अधीनस्थों को उनकी क्षमता के अनुसार सभी अधिकार और दायित्व सौंपे जाने चाहिये।
4. अधिकारों के अन्तर्गत अधीनस्थ निर्धारित कार्य पूरे करने के लिये फैसले लेते हैं और उनका पालन कराते हैं। जबकि दायित्वों के अन्तर्गत उस पर अपने अधिकारों के जरिये इन गतिविधियों को चलाने की जिम्मेदारी आ जाती है। दायित्वों के बिना अधिकार व अधिकारों के बिना दायित्व निरर्थक हैं। यानि अधिकार और दायित्वों में तालमेल व समानता होनी चाहिए।
5. कोई भी प्रमुख अधिकारी जिस पर कार्य का पूर्ण करने का जिम्मा होता है, वो अपने दायित्वों को अधीनस्थों को देकर कार्य से मुक्त नहीं हो सकता है। कोई भी प्रमुख अधिकारी अपनी गतिविधियों से बच नहीं सकता है। अधीनस्थ भी उसको दिये गये कार्य के लिये जबाबदेह होता है।
6. प्रत्यायोजन समादेश की एकता पर आधारित होता है। अधीनस्थ अपने वरिष्ठ अधिकारी के प्रति जबावदेह होता है। अधीनस्थ को अपने उच्च अधिकारी से ही निर्देश लेने चाहिए।
7. प्रत्यायोजन के बाद भी अधीनस्थ को आवश्यकता पड़ने पर प्रशासक से मिलने व विचार-विमर्श करने का अधिकार होना चाहिए। प्रशासकों को भी अधीनस्थों का मार्गदर्शन के लिये हमेशा तैयार होना चाहिये।

प्रत्यायोजन के इन सिद्धान्तों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि प्रत्यायोजन एक कठिन प्रक्रिया है। इसका कोई सटीक सिद्धान्त नहीं है। जो भी सिद्धान्त हम पाते हैं या पढ़ते हैं, वो प्रशासकों के मार्गदर्शन के लिये मात्र हैं। उपरोक्त सभी सिद्धान्त प्रत्यायोजन की प्रक्रिया को सदैव सही दिशा देते हों, ऐसा कहना उचित नहीं होगा।

16.7 प्रत्यायोजन की बाधांऐं

संगठन में प्रत्यायोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अक्सर ऐसा भी देखने में आता है कि वरिष्ठ अधिकारी अधिकारों को दूसरों को सौंपने में हिचकते हैं। कई बार ऐसा भी देखने में आता है कि वो अपने अधीनस्थ में विश्वास नहीं कर पाते हैं। जिससे प्रत्यायोजन में बाधाऐं उत्पन्न होती हैं। प्रत्यायोजन में प्रमुख दो प्रकार की बाधाओं को हम देखते हैं- संगठनात्मक बांधाऐं और व्यक्तिगत बाधाऐं।

1. **संगठनात्मक बाधांऐं-** संगठनात्मक बाधाओं को हम निम्न रूप में देख सकते हैं -
    - प्रत्यायोजन के लिये स्थापित तरीकों व प्रक्रियाओं का अभाव है।
    - समन्वय संगठन का मूल है, इसके बिना संस्था या संगठन का कोई भी काम नहीं हो सकता है। प्रत्यायोजन में अक्सर समन्वय व सम्पर्क का अभाव देखने को मिलता है। जो प्रत्यायोजन के लिये बड़ी बाधा बन जाता है।
    - प्रत्यायोजन के लिये स्थिरता परम आवश्यक है। स्थिर व पुनर्रावृतियुक्त कार्यों में प्रत्यायोजन अधिक सहज होता है।

- स्पष्ट पदों के अभाव और कर्तव्यों तथा अधिकारों के प्रत्यायोजन की अनिश्चित शर्तों के कारण भ्रान्ति फैलती है और अधिकारों के प्रत्यायोजन पर गलत असर पड़ता है।

2. **व्यक्तिगत बाधाऐं-** कभी-कभी व्यक्तिगत कारक भी प्रत्यायोजन के बाधक बन जाते हैं। मनुष्य की प्रवृति होती है कि वो सत्ता पर अपना नियंत्रण रखे। हर काम का श्रेय वो स्वयं व्यक्तिगत रूप से ले। अधीनस्थों पर विश्वास ना करना, क्या और कैसे प्रत्यायोजित किया जाय, इसका निर्णय लेने की कमी आदि प्रमुख व्यक्तिगत कारक प्रत्यायोजन में बांधा उत्पन्न करते हैं।

इन बाधाओं के अतिरिक्त एक प्रमुख बाधा ये भी है कि कई बार अधीनस्थों द्वारा प्रत्यायोजन को स्वीकार नहीं किया जाता हैं। जिसके प्रमुख कारण हो सकते हैं। जैसे- आलोचना का भय, अच्छा काम करने के लिये आवश्यक जानकारी और संसाधनों का अभाव, प्रत्यायोजित अधिकारों का उपयोग करने और सही निर्णय लेने के आत्मविश्वास का अभाव, पहल और गतिशीलता का अभाव और यह भी देखा जाता है कि क्षमता से अधिक कार्य का सौंप दिया जाना।

इसमें संदेह नहीं है कि प्रत्यायोजन में उपरोक्त समस्याएं आती हैं, किन्तु संगठन में प्रत्यायोजन के महत्व को नकारा भी नहीं जा सकता है। कोई भी संस्था या संगठन चाहे वो सरकारी हो या गैर-सरकारी बिना प्रत्यायोजन के काम नहीं कर सकता है। इसलिये प्रत्येक संस्था या संगठन चाहे वो किसी भी स्वरूप का हो, उसके लिये प्रत्यायोजन परम आवश्यक है।

अभ्यास प्रश्न-

1. यह कथन किसका है कि "प्रत्यायोजन का आशय कार्यों का अन्य व्यक्तियों को हस्तांतरण तथा उनके कार्य करने की शक्ति का हस्तान्तरण है।"
2. लुईस ए0 ऐलन के अनुसार प्रत्यायोजन एक क्रियात्मक संचालन शक्ति है । सत्य/ असत्य

16.8 सारांश

यह इकाई हमें प्रत्यायोजन की विस्तृत जानकारी देते हुए सारांशत: यह स्पष्ट करती है कि प्रत्यायोजन किसी भी प्रशासकीय या प्रबन्धकीय संगठन या संस्था की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। कोई भी संगठन प्रत्यायोजन के बिना काम नहीं कर सकता है। सामान्यतः प्रत्यायोजन का अर्थ उच्च स्तर से निम्न स्तर को अधिकार या कार्य का हस्तान्तरण होता है। दूसरे शब्दों में निश्चित उद्देश्यों के लिये दूसरे के अधिकार व कर्तव्य निश्चित करना। प्रत्यायोजन अपरिर्वतनीय नहीं होता। प्रत्यायोजक अपने अधिकार ले भी सकता है। जैसा कि हम इस इकाई में चर्चा कर चुकें हैं कि किसी भी संगठन व संस्था के विकास के लिये प्रत्यायोजन को हम नकार नहीं सकते हैं। प्रत्यायोजन हमें जटिलताओं को कम करने में सहायक होता है। यह अधिकारियों व अधीनस्थों के बीच एक सन्तुलित तालमेल स्थापित करने में भी सहायक होता है। हम यह भी जान चुकें हैं कि प्रत्यायोजन में संगठनात्मक व व्यक्तिगत दोनों प्रकार की बाधाऐं भी आती हैं। लेकिन फिर भी प्रत्यायोजन के बिना कोई कार्य अपने लक्ष्य तक समुचित समय में पहुँच सकता हो, ऐसा कहना सम्भव नहीं है। अतंतः हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यायोजन अधिकारी व अधीनस्थों के हित में होता है। इससे सम्पूर्ण उपक्रम, संस्था या संगठन लाभान्वित होता है तथा जनता के प्रति जबावदेही सुनिश्चि होती है।

16.9 शब्दावली

प्रत्यायोजन- सौंपा जाना या दे देना, उद्-भव- उत्पत्ति, सहजता- सरलता, हस्तान्तरण- किसी कार्य/ शक्ति या सत्ता को अन्य को देना या सौंपना, द्रुतगति- तेज गति, विशिष्टिकरण- विशेषज्ञता या शोधन

16.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. एफ0 जी0 मूरे, **2.** सत्य

16.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संगठन के सिद्धान्त- जे0 डी0 मुने।
2. लोक-प्रशासन- अवस्थी, माहेश्वरी।
3. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।
4. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 साह।
5. प्रबन्धन के सिद्धान्त -जार्ज टैरी।
6. प्रबन्धन के सिद्धान्त एवं व्यवहार- डॉ0 विवेक शर्मा।
7. पब्लिक पालिसी मेकिंग- जेम्स एंडरसन।
8. सरकार के भीतर प्रबन्धन- बी0 सी0 माथुर।

16.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रबन्धन के सिद्धान्त- जार्ज टैरी।
2. प्रबन्धन के सिद्धान्त एवं व्यवहार- डॉ0 विवेक शर्मा।
3. लोक-प्रशासन- अवस्थी एवं माहेश्वरी ।
4. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया

16.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रत्यायोजन से आप क्या समझते हैं?
2. प्रत्यायोजन की परिभाषा देते हुए स्पष्ट करें कि यह किसी भी संस्था के लिये कितना महत्वपूर्ण है?
3. प्रत्यायोजन के प्रकारों को स्पष्ट कीजिए?
4. प्रत्यायोजन में आने वाली बाधाऐं क्या हो सकती हैं?

इकाई- 17 संचार

इकाई की संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 संचार की परिभाषा
17.3 संचार व्यवस्था के तत्व
17.4 संचार का महत्व
17.5 संचार की आवश्यकता
17.6 संचार के प्रकार
17.7 सारांश
17.8 शब्दावली
17.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
17.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
17.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
17.12 निबन्धात्मक प्रश्न

17.0 प्रस्तावना

किसी भी संगठन के लिये संचार सबसे पुराना व चर्चित विषय है। संगठन में सबसे बड़ी समस्या आती है, व्यक्तियों का आपसी संवाद। व्यक्तियों के बीच आपसी संवाद यदि सुचारू रूप से न हो तो किसी भी संगठन की कार्य प्रणाली प्रभावित हो सकती है जो किसी भी कार्य प्रणाली को प्रभावित करता है। संचार प्रशासन का प्रथम सिद्धान्त माना जाता है। किसी भी संगठन या संस्था के अधिकारियों को प्रबन्ध के लिए निर्णय की तरह 'संचार' भी 'संयोजक कड़ी' का काम करता है। संचार संदेशों के आदान-प्रदान व पारस्परिक समझ के निमार्ण की प्रक्रिया है। वस्तुतः यह अर्थपूर्ण संदेशों का ऐसा पारस्परिक आदान-प्रदान है, जिसका उद्देश्य आपसी समझ को उत्पन्न करना तथा पारस्परिक मानव व्यवहार को प्रभावित करना है।

संचार मानवीय सम्बन्धों को स्थापित करने का सबसे उत्तम प्रकार है। संचार किसी भी विभाग या संगठन की कार्य-कुशलता हो बढ़ाने का सबसे अच्छा कारक होता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि संचार मानवीय सम्बन्धों को स्थापित करने का अभिन्न एवं महत्वपूर्ण अंग है। यदि किसी संगठन के लोग एक-दूसरे की भावनाओं को जान-समझ लें तो निस्संदेह कार्य-कुशलता बढ़ाने में मदद मिलेगी। शरीर के तंत्रिकातंत्र में जिस तरह से रूधिर का संचालन होता है, ठीक उसी तरह से संगठन में संचार से कार्य प्रणाली व संगठन या विभाग के कार्यों का संचालन होता है। किसी भी विभाग या संगठन का सबसे अधिक समय संचार में ही लगता है। कोई भी विभाग अपना 70 से 80 प्रतिशत समय संचार गतिविधियों में बिताता है। फ्रेड लूथन्स का कहना है, ''कुछ अनुमानों के अनुसार मानव जीवन के तीन चौथाई सक्रिय हिस्से में इसका इस्तेमाल होता है और किसी प्रबन्धक के जीवन में तो यह अनुपात और भी अधिक है।'' दुनिया के कई समस्याओं का मूल कारण और कम से कम व्यक्ति, व्यक्ति के बीच की समस्याओं का मूल कारण तो यह है ही, कि व्यक्ति उतनी अच्छी तरह से अपनी बात दूसरों तक नहीं पहुँच पाता, जितनी अच्छी तरह वह समझता है।

17.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप -

1. संचार व्यवस्था को विस्तृत रूप से जान पायेंगे।
2. संचार कैसे होता है इसकी क्या प्रक्रिया है, इसको समझ पायेंगे।
3. यह भी जान पायेंगे कि प्रशासन में संचार की क्या भूमिका है और इसका प्रयोग कैसे किया जाता है।
4. संचार के प्रकारों व इनके मॉडलों का अध्ययन कर पायेंगे।
5. संचार कैसे समाज विज्ञान के विषय के लिये कितना महत्वपूर्ण है, यह भी जानेंगे।

17.2 संचार की परिभाषा

किसी भी संगठन या विभाग के लिये संचार पूर्व से ही एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। यह किसी भी कार्य-प्रणाली का संचालित करने का एक प्रमुख सिद्धान्त है। संस्था या संगठन के लक्ष्यों को हासिल करने का यह एक सर्वोत्तम साधन है। समाज में हर वर्ग के व्यक्ति को चाहें वो बच्चा हो युवा हो या प्रौढ़ हो उसे संचार की आवश्यकता पढ़ती है। संगठन ही नहीं समाज का कोई भी कार्य संचार के बिना सम्भव नहीं है। सभी संगठनों में संचार व्यवस्था आवश्यक है। इसकी भूमिका निर्णायक है, क्योंकि संगठन के सभी अन्य सिद्धान्तों के कार्यकलाप और सहयोग सम्पर्कों को प्रेरित करने का एकमात्र साधन है। संचार को अनेकों विद्वानों ने परिभाषित किया है-

मिटेल के अनुसार, "संचार प्रशासनिक संगठन की जान है।"

पिफनर संचार को 'प्रबन्ध का मूल आधार ' मानते हैं।

ओर्डवे टेड ने संचार के बारे में लिखा है कि 'संचार मूलतः वह प्रक्रिया है, जिससे एक व्यक्ति अपने विचारों और भावनाओं को दूसरों तक पहुँचाता है।'

पीटर ड्रकर ने संचार की परिभाषा देते हुए कहा है कि ''यह एक उद्यम के भीतर विभिन्न क्रियात्मक समूहों की वह क्षमता है, जिसके जरिए वे एक-दूसरे को तथा एक-दूसरे के कार्यों और चिन्ताओं को समझते हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि संचार का प्रयोग जानकारी प्रदान करने या सूचना के संप्रेषण के लिये किया जाता है। संचार को हम निम्न बिन्दुओं से और सही तरीके से समझ सकते हैं-

1. "संचार विचारों का परस्पर आदान- प्रदान है।"
2. ''दो या दो से अधिक लोगों के बीच आपसी सूजबूझ के आदान-प्रदान की प्रक्रिया का नाम ही संचार है।''
3. ''किसी भी कारगर तरीके से विचारों का परस्पर आदान-प्रदान ही संचार है।''
4. ''जीवन में कुछ वांछित व्यवहार उत्पन्न कराने के लिए वातावरण को प्रोत्साहित कराने की व्यवस्था ही संचार है।''

सामान्यतः संचार शब्द का उपयोग जानकारी प्रदान करने या सूचना के सम्प्रेषण के लिए किया जाता है। किन्तु व्यापक सन्दर्भों में इसमें विचारों का आदान-प्रदान, विचारों में साझेदारी और सहयोग की भावना शामिल है। अतः संचार का मूल तत्व, सूचना नहीं समझना है। कुछ संगठनों में संचार व्यवस्था आन्तरिक, बाहरी और पारस्परिक भी हो सकती है। आन्तरिक संचार व्यवस्था संगठन को अपने कर्मचारियों से जोड़ती है। बाहरी व्यवस्था संगठन और आम जनता के बीच सम्पर्क स्थापित करती है जिसे ''जनसम्पर्क'' कहते हैं। पारस्परिक संचार व्यवस्था

संगठन के कर्मचारियों के आपसी सम्बन्धों मे सम्बद्ध है। संक्षेप में संचार का अर्थ है ''सांझे उद्देश्य की सांझी समझ।''

17.3 संचार व्यवस्था के तत्व

संचार व्यवस्था को हम पांच प्रकार के प्रमुख तत्वों के रूप में देखते हैं-

1. **सूचना प्रेषित करने वाला-** संचार का पहला तत्व है, सम्प्रेषण या सूचना को भेजने वाला। उसे हम वक्ता, प्रेषक या संदेश देने वाला कुछ भी कहा जा सकता है। सभी आदेश व संदेश मुख्य श्रोत से निर्गत किये जाते हैं, यह श्रोत मुख्य अधिकारी भी हो सकता है। संदेश को तैयार मुख्य अधिकारी या तो किसी कर्मचारी द्वारा कराता है या फिर स्वयं भी कर सकता है।
2. **माध्यम-** संचार का दूसरा तत्व है, संदेशों को भेजने के लिये प्रयोग किया जाने वाला माध्यम। संचार के माध्यमों में हम मुख्य रूप से देखते हैं- टेलीफोन, कम्प्यूटर, तार, रेडियो, मोबाईल व टेलीवीजन इत्यादि।
3. **संचार का रूप-** संचार का रूप किसी भी तरीके का हो सकता है। आदेश, नियम, पुस्तिका, पत्र, रिपोर्ट, व्यवस्था प्रपत्र आदि कई रूपों में संचार किया जाता है। किसी भी संस्था या संगठन में व्यवस्था के संचालन के लिये नियमों की जानकारी होना आवश्यक होता है।
4. **संदेश प्राप्त करने वाला-** संचार को प्राप्त करने वाला माध्यम संग्राहक या संदेश प्राप्त करने वाला है। इसके लिये आवश्यक है कि संग्राहक या संदेश प्राप्त करने वाले के पास संदेश स्पष्ट हो। भाषा व लिखा गया संदेश सुपाठ्य हो। प्रत्येक संदेश व्यवहार में प्रभावित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये।
5. **प्रतिक्रिया-** संदेश प्राप्त होने के बाद संग्राहक या संदेश लेने वाले की वांछित प्रतिक्रिया संचार का पांचवा महत्वपूर्ण तत्व है। प्रतिक्रिया के द्वारा किसी विभाग, संस्थान या संगठन का शीर्ष अधिकारी यह जान पाता है कि जो नियम या व्यवस्था बनायी गयी है, उसका क्या प्रभाव निचले स्तर के अधिकारियों व कर्मचारियों पर हो रहा है? क्या बनायी गयी व्यवस्था में सुधार करना चाहिये या इसे चलने देना चाहिये? इस प्रक्रिया से विभाग को लाभ होता है।

17.4 संचार का महत्व

आज के तकनीकी समाज में वही व्यक्ति सुखी है, जिसने नैतिक गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया हो। और हम यह जानते हैं कि व्यक्ति समाज की पहली इकाई है। व्यक्ति को सामाजिक प्राणी कहा गया है, क्योंकि व्यक्ति न तो समाज के बिना रह सकता है और ना ही समाज का निमार्ण व्यक्तियों के बिना हो सकता है। समाज को उर्जावान बनाने का काम करता है, संचार आदि संवादों का आदान प्रदान। वही समाज सुखी होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति परस्पर सम्मान की भावना रखता हो। समाजवाद, स्वतन्त्रता, समानता, बंधुत्व की स्थापना करता है। वह शोषणमुक्त समाज की रचना करके समाज की प्रचलित दासता, विषमता, असहिष्णुता को दूर करता है। संचार की अपनी भूमिका होती है। मानव सामाजिक प्राणी तब बनता है जब वह मौखिक, परम्परागत, मुद्रित या इलेक्ट्रानिक संचार साधनों द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहारों को सीखता है, उसे अपना लेता है। मौखिक संचार के चलते बालक परिवार व पड़ोस तक सीमित रहता है। लिपि-ज्ञान के कारण संस्थाओं से जुड़ता है। पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी और दूरदर्शन के सहारे मानव का समाज विस्तृत होता है, वह पूरे विश्व की क्रियाओं में सहभागी होता है। संचार परम्परागत मान्यता को पुष्ट करता है तथा सामाजिक गतिविधियों पर पैनी दृष्टि रखता है। संचार सामाजिक नियंत्रण का साधन है। यह समाज का शिक्षक है, तो सामाजिक महानिरीक्षण भी है। सहमति का वातावरण उपस्थित कर संचार सामाजिक परिदृष्य को बदलता है। नई सूचनाओं से व्यक्ति और समाज की

मानसिक क्षमता को विस्तृत बनाना, उनकी कामना को स्वस्थ रूप देना, उनकी प्रवृत्तियों, अभिरूचियों को समाज-हित में निर्मित करना ये सब संचार से ही सुलभ है। जाग्रत जनमत समाज के लिए उपयोगी हैं। संचार के साधन मनोरंजन और विकास के संदेश देकर समाज का नवनिर्माण करते हैं। प्रेम, सौहार्द्र, सद्-भाव, सहयोग द्वारा संचार शोषणमुक्त आदर्श समाज की संरचना में अपना योगदान देता है। संचार-साधनों का बाहुल्य समाजीकरण की गति को तीव्र करता है। सामाजिक विकास का सूत्रधार संचार ही है।

प्रशासन द्विमार्गीय यातायात के समान है और प्रभावी संचार की आवश्यकता अनुभव करता है। प्रभावी संचार के अभाव में प्रबन्ध की कल्पना तक नहीं की जा सकती। प्रशासन में संचार के महत्व को स्वीकारते हुए एल्विन डाड लिखते है कि 'संचार प्रबन्ध की मुख्य समस्या है।' थियो हेमेन का कहना है कि 'प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता कुशल संचार पर निर्भर करती है।'

जॉर्ज आर0 टेरी के शब्दों में 'संचार उस चिकने पदार्थ का कार्य करता है, जिससे प्रबन्ध प्रक्रिया सुगम हो जाती है।'

हैण्डरसन सुओजानिन के अनुसार, ''अच्छा संचार प्रबन्ध के एकिकृत दृष्टिकोण हेतु बहुत महत्वपूर्ण है। संचार संगठन को बांधे रखता है। सम्प्रेषण के अभाव में कोई संगठन नहीं हो सकता।''

प्रशासन में संचार के महत्व को निम्न बिन्दुओं के सन्दर्भ में भली प्रकार आंका जा सकता है-

1. **नियोजन एवं संचार-** नियोजन प्रशासन का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक कार्य है। प्रशासन की सफलता कुशल नियोजन के प्रभावी क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। 'संचार' योजना के निर्माण एवं उसके क्रियान्वयन दोनों के लिए अनिवार्य है। कुशल नियोजन हेतु अनेक प्रकार की आवश्यकता एंव उपयोग सूचनाओं, तथ्यों एवं आंकड़ों और कुशल क्रियान्वयन हेतु आदेश, निर्देश एवं मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है।
2. **संगठन एंव संचार-** प्रशासन का दूसरा प्रमुख कार्य संगठन है। अधिकार एवं दायित्वों का निर्धारण एवं प्रत्यायोजन करना और कर्मचारियों को उनसे अवगत कराना संगठन के क्षेत्र में आते हैं। ये कार्य भी बिना संचार के असम्भव है। चेस्टर आई0 बर्नार्ड के शब्दों में ''संचार की एक सुनिश्चित प्रणाली की आवश्यकता संगठनकर्ता का प्रथम कार्य है।''
3. **उत्प्रेरण एवं संचार-** प्रबन्धकों द्वारा कर्मचारियों कों अभिप्रेरित किया जाता है। इसके लिए भी संचार की आवश्यकता पड़ती है। पीटर एफ0 ड्रकर के शब्दों में "सूचनाऐं प्रबन्ध का एक विशेष अस्त्र है। प्रबन्धक व्यक्तियों को हांकने का कार्य नहीं करता वरन् वह उनको अभिप्रेरित, निर्देशित और सगंठित करता है। ये सभी कार्य करने हेतु मौखिक अथवा लिखित शब्द अथवा अंकों की भाषा ही उसका एकमात्र औजार होती है।"
4. **समन्वय एवं संचार-** समन्वय एक समूह द्वारा किये जाने वाले प्रयासों कों एक निश्चित दिशा प्रदान करने हेतु आवश्यक होता है। न्यूमैन के अनुसार, "अच्छा संचार समन्वय में सहायक होता है।'' मैरी कुशिंग नाइल्स लिखती हैं कि 'समन्वय हेतु अच्छा संचार अनिवार्यता है।' चेस्टर आई0 बर्नार्ड के शब्दों में ''संचार वह साधन है, जिसके द्वारा किसी संगठन में व्यक्तियों को एकसमान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु परस्पर संयोजित किया जा सकता है।''
5. **नियन्त्रण एवं संचार-** नियन्त्रण द्वारा प्रबन्धक यह जानने का प्रयास करता है कि कार्य पूर्व-निश्चित योजनानुसार हो रहा है अथवा नहीं? इसके अतिरिक्त यह त्रुटियों एवं विचलनों को ज्ञात कर यथाशीघ्र ठीक करने और उनकी पुनरावृत्ति को रोकने का प्रयास करता है। ये सभी कार्य बिना कुशल संचार प्रणाली के असम्भव है।

6. **निर्णय एवं संचार-** सही निर्णय लेने हेतु प्रबन्धकों को सही समय पर सही एवं पर्याप्त सूचनाओं, तथ्यों एवं आंकड़ों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है। यह कार्य भी बिना प्रभावी संचार प्रणाली के सम्भव नहीं होता।
7. **प्रभावशीलता-** प्रभावी सेवाऐं उपलब्ध करने के लिए जरूरी है कि स्टाफ के सदस्यों के बीच विचारों का मुक्त आदान-प्रदान बना रहे। किसी संगठन की प्रभावशीलता इसी बात पर निर्भर होती है कि वहाँ के कर्मचारी आपस में विचारों का कितना आदान-प्रदान करते हैं और वे एक-दूसरे की बात कितनी समझते हैं।
8. **न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन-** समस्त विवेकशील प्रबन्धकों का लक्ष्य अधिकतम, श्रेष्ठतम व सस्ता उत्पादन करना होता है। पुराने जमाने में छोटे पैमाने पर उत्पादन होता था। उस समय कर्ता बड़ी आसानी से कार्य करने वालों को आदेश व निर्देश दे सकता था। किन्तु बड़े पैमाने पर उत्पादन करने आधुनिक संगठनों में काम करने वालों तथा काम लेने वालों के मध्य यह घनिष्टता नहीं है। श्रमिकों, स्वामियों तथा प्रबन्धकों के बीच आज गहरी खाई है, जिसको पाटने में 'सन्देशवाहन' बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। संगठन का कोई भी स्वरूप हो, विभागीय अथवा क्रियात्मक- आजकल सूचनाएं व आदेश विभिन्न कर्मचारियों द्वारा होकर श्रमिकों तक पहुँचते हैं। अतः प्रत्येक स्तर पर यह आशंका बनी रहती है कि सूचनाओं को समझने में कहीं भ्रम न हो जाये। उत्पादकता को बढ़ाने के लिए यह भी आवश्यक है कि कर्मचारियों में किसी प्रकार का भ्रम अथवा मतभेद न हो, सभी में परस्पर सद्-भावना होनी चाहिए। केवल श्रेष्ठतम मानव, मशीन व माल के समूह से उत्पादकता बढ़ नहीं सकती। उत्पादकता की वृद्धि हेतु कर्मचारियों को यह स्पष्ट बता देना चाहिए कि प्रत्येक को क्या कार्य करना है एवं कार्य के निष्पादन के लिए उन्हें आवश्यक निर्देश भी देने चाहिए। इस कार्य में सन्देशवाहक ही अधिक महत्वपूर्ण होता है।

17.5 संचार की आवश्यकता

टैरी के अनुसार संचार व्यवस्था को कारगर बनाने वाली 8 मूलभूत आवश्यकताएं इस प्रकार हैं-

1. अपने आप पूरी जानकारी रखिए;
2. एक-दूसरे में आपसी विश्वास पैदा कीजिए;
3. अनुभव के समान आधारों का पता लगाइए;
4. एक दूसरे को ज्ञात शब्दों का इस्तेमाल कीजिए;
5. सन्दर्भ का पूरा ध्यान रखिए;
6. संग्राहक का ध्यान आकर्षित करके उसकी दिलचस्पी बनाए रखिए;
7. उदाहरणों और दृष्य साधनों का उपयोग कीजिए; और
8. देर से प्रतिक्रिया देने की आदत डालिए।

रिचडर्स और नीलेन्डर की राय में इससे प्रबन्धक वर्ग की नीतियों, कार्यक्रमों और रीति-रिवाजों की झलक मिलनी चाहिए।

मिलेट ने संचार की सात कारक बताऐं हैं-

1. संदेश, स्पष्ट, संग्राहक की अपेक्षाओं के अनुरूप, सामयिक, एकरूप, लचीला और स्वीकार्य होना चाहिए। प्रबन्धकों के लिए जरूरी है कि वे सम्प्रेषण से पहले अपने विचार स्पष्ट कर दें। संग्राहकों को सही और सटीक सूचना प्रदान करने के लिए जरूरी है कि उन्हें स्पष्ट रूप से बताया जाए कि निर्णय प्रक्रिया

क्या हैं, किस प्रकार कार्रवाई करनी है और कितना समय है? इससे कारगर संचार सम्पर्क कायम करने में मदद मिलेगी।

2. दूसरा कारक यह है कि प्रेषक को खुद यह सोच लेना चाहिए कि वह संदेश क्यों भेज रहा है और इस संदेश का मुख्य उद्देश्य क्या है?
3. तीसरी बात यह है कि संदेशों से पर्याप्त सूचना मिलनी चाहिए ताकि उसे ग्रहण करने वाले वांछित प्रतिक्रिया दे सकें। पहले से यह अंदाज लगा लेना चाहिए कि इसमें कुल कितने साधन और जनशक्ति शामिल होगी। संदेश ना तो बहुत बड़ा होना चाहिए, ना उन्हें बार-बार दोहराया जाना चाहिए।
4. चौथा कारक यह है कि सभी संदेश समय पर मिलने चाहिएं, ताकि प्राप्त करने वाले के पास उस पर अमल करने के लिए पर्याप्त समय रहे।
5. पांचवा कारक है, एकरूपता। ऐसे मामलों में संदेशों में एकरूपता रहनी चाहिए, जहाँ प्राप्त करने वालों से एक ही प्रकार के व्यवहार या कार्यवाही की अपेक्षा की जाती हो।
6. छठा कारक है लचीलापन, यानी संदेशों में लचीलेपन की गुंजाइश होनी चाहिए। ''उच्च स्तर के प्रबन्धक धीरे-धीरे सीख जाते हैं कि अधीनस्थों को मोटे तौर पर उद्देश्य और सामान्य आशय की जानकारी देना ही बहुत है। उस पर सही निर्णय और अमल का काम व्यक्ति पर छोड़ दिया जाना चाहिए। अतः वे प्रेषक ज्यादा कारगर प्रतीत होते हैं, जो हर बात का विवरण बहुत अधिक निश्चित करने के बजाय परिस्थिति विशेष के अनुसार फेरबदल की छूट देते हैं।''
7. अन्त में संदेशों से स्वीकार्यता को बढ़ावा मिलना चाहिए। इसके लिए पिछले समझौतों या सहमतियों का हवाला दिया जा सकता है या कार्यवाही के लिए नई परिस्थितियों की तरफ ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

अमेरिकन मैनेजमेंट एसोसिएशन ने अच्छी संचार व्यवस्था के लिए निम्नलिखित दस सूत्र बताए हैं-

1. संप्रेषण से पहले अपने विचारों को स्पष्ट कर लीजिए।
2. खुद यह जांच लीजिए कि आप संदेश क्यों भेज रहे हैं और उसका वास्तविक उद्देश्य क्या है?
3. संदेश को संप्रेषित करने से पहले यह अंदाज लगा लीजिए कि आप जो प्रक्रिया शुरू करना चाहते हैं, उसमें कुल कितनी जन-शक्ति और साधन खर्च होंगे।
4. योजना बनाने से पहले दूसरों से सलाह-मशविरा कर लें, क्योंकि हमारी आत्मपरकता स्वयं-निर्मित संचार व्यवस्था को विपरीत रूप से प्रभावित करती है।
5. इस बात का पूरा ध्यान रखिए कि संदेश में क्या बात कही गई है? क्योंकि उलझी हुई भाषा से संदेश ही निरर्थक हो जाएगा।
6. मूल संदेश के साथ-साथ अन्य बातें भी बताइये। क्योंकि संदेश ग्रहण करने वाला सिर्फ आपके आदेश का ही इंतजार नहीं कर रहा है, बल्कि वह मार्गदर्शन, सहयता और अपने काम के लिए अधिक सराहना पाने को उत्सुक रहता है। यदि संदेश से यह आभास नहीं मिलता कि उसके लिए दूसरे रास्ते भी उपलब्ध हैं तो शायद वह ऐसी निराशा में भटक सकता हैं, जहाँ खास तौर पर आदेश मिलने पर भी वह जाने से इनकार कर सकता है।
7. अपना संदेश भेजने के बाद उस पर आगे की कार्रवाई भी कीजिए। संचार एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जो पत्र या संदेश के प्रसारण तक ही समाप्त नहीं हो जाती। उसे हर मोड़ पर निरन्तर मजबूत करना और निगरानी रखना आवश्यक है। इससे संदेश की प्रभावशीलता बनी रहती है और लक्ष्य प्राप्ति तक वह चलता रहता है।

8. आपका संदेश आज के साथ-साथ कल के लिए भी उपयोगी होना चाहिए। अर्थात् सम्प्रेषक को अपनी ऐसी छवि बनानी चाहिए कि वह एक जानकार, समझदार और विवेकशील व्यक्ति है। इससे वह भविष्य में बढ़िया सम्प्रेषक बन सकता है। जो लोग आज उसकी बात को गम्भीरता से नहीं लेते वे भी धीरे-धीरे उसका लोहा मानने लगेंगे।
9. संचार का अर्थ सिर्फ पत्र लिखने तक ही सीमित नहीं है। उसके साथ कार्यवाही भी जरूरी है। संदेश प्राप्त करने वाले को भेजने वाले के व्यवहार का भी अंदाजा रहना चाहिए।
10. अपनी बात दूसरों को समझाने से पहले उन्हें समझिए। आम तौर पर परिस्थितियों को सही ढ़ग से समझने के लिए, असहाय अधीनस्थों पर अपने विचार थोपने, से ज्यादा अकलमंदी की जरूरत होती है। यदि कोई उदासीन है, तो दूसरों को समझना आसान नहीं है। इससे साझे उद्देश्य की साझी समझ विकसित करने में मदद मिलती है। इन आवश्यक सूत्रों का पालन न होने पर संचार की प्रक्रिया छिन्न-भिन्न हो सकती है।

चेस्टर बर्नार्ड उन प्रमुख विद्वानों में से एक थे, जिन्होंने सबसे पहले यह माना कि संगठनों पर अधिकार और नियंत्रण रखने के लिए संचार बहुत महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार किसी भी संगठन में अधिकार और नियंत्रण रखने के लिए निम्नलिखित सात तत्व महत्वपूर्ण हैं-

1. संचार के माध्यम निश्चित और सबको ज्ञात होने चाहिए;
2. संगठन के प्रत्येक सदस्य से सम्पर्क का एक निश्चित औपचारिक माध्यम होना चाहिए;
3. जहाँ तक हो सके संचार तंत्र सीधा और छोटा होना चाहिए;
4. सामान्यतः संचार के लिए पूर्ण औपचारिक तंत्र का उपयोग किया जाना चाहिए;
5. संचार केन्द्रों के रूप में कार्यरत व्यक्तियों का योग्य होना आवश्यक है;
6. संगठन जब कार्यरत हो तो संचार तंत्र में बाधा नहीं चाहिए; और
7. प्रत्येक संदेश प्रामाणिक होना चाहिए।

17.6 संचार के प्रकार

संचार मानव की स्वरूप व उसकी प्रवृति में विद्यमान है। यह एक सामाजिक प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति है, जो समस्त जीवधारियों के व्यवहार में लक्षित होती है। संचार प्रक्रिया में व्यक्ति सम्प्रेषण-दर-सम्प्रेषण अन्य व्यक्तियों व समूहों के साथ जुड़ता चला जाता है। संचार की यह प्रक्रिया जब एक से अधिक व्यक्तियों समाजों में संचारित होती है, तो संचार का स्वरूप बदल जाता है, तब यह जनसंचार का स्वरूप धारण कर लेता है। जन में संचार-प्रक्रिया में एक प्रवाह होता है, जो श्रोता और स्रोत दो छोरों के मध्य संचालित होती है। इन दो छोरों के अन्तर्सम्बन्धों के निम्न रूपों को विद्वानों ने मान्यता दी है- अन्तःवैयक्तिक संचार, अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह-संचार, जनसंचार और परम्परागत संचार।

संचार के इन रूपों को इस आरेख द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

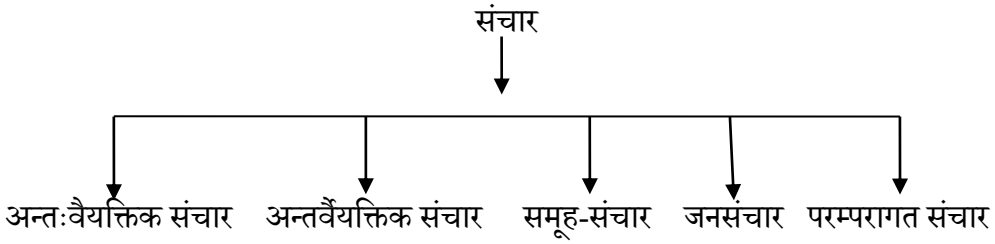

1. **अन्तःवैयक्तिक संचार-** संचार एक गतिशील या निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह ना केवल बाहरी समाज में वरन् मनुष्य के अन्तःमन में भी निरन्तर सक्रिय रहती है। जैसा कि हम जानते है कि प्रत्येक मनुष्य

अपने आप से भी हमेशा संचार करता रहता है। यानि वो स्वयं से भी संवाद करता है और स्वयं की प्रतिक्रिया लेकर निर्णय लेने का काम करता है। मनुष्य का सम्पूर्ण विचार और चिन्तन-प्रक्रिया स्व-संचार पर आधारित होती है। कुछ भी करने और कुछ भी कहने के पहले मन में विचार संवादों का रूप लेते है। आत्म-विवचन, आत्म-विश्लेषण, तर्क-वितर्क, अन्तर्द्वन्द आदि इसी श्रेणी के संचार हैं। वस्तुतः यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति के मन के दायरे में ही सम्पन्न होती है। अपने निजी अनुभवों, विचारों, स्मृतियों के आधार पर वह मन-ही-मन व्यक्तियों, घटनाओं, प्रभावों और परिणामों का आकलन करता चलता है। स्वयं से चिन्तन मनन या ईश्वर की अराधना अन्तःवैयक्तिक संचार का सर्वोत्तम उदाहरण है।

2. **अन्त वैंयक्तिक-** संचार का ऐसा रूप जो दो या दो से अधिक व्यक्तियों के छोटे से समूह के भीतर घटित होता है। इसमें प्रतिपुष्टि त्वरित होती है, अन्तर्वैंयक्तिक संचार कहलाता है। संचार की इस प्रक्रिया में संदेशों का प्रेषण मौखिक भी हो सकता है अथवा स्पर्श या चेहरे के हाव-भाव या शरीर की मुद्राओं से सम्भव हो सकता है। दूरभाष द्वारा संचार भी अन्तर्वैंयक्तिक संचार का ही एक अगं माना जाता है, जबकि दोनों इस प्रक्रिया में व्यक्ति आमने-सामने भी उपस्थित नहीं होते।

अन्तर्वैंयक्तिक संचार, संचार का अतिप्रभावी रूप है। सन्देश का प्रेषण और ग्रहण अतिसुगम होने से इस संचार में प्रतिपुष्टि द्वारा संदेश के प्रति उत्पन्न शंकाओं और प्रश्नों के उत्तर भी दिए जा सकते है। संदेश, प्रेषक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट भी कर सकता है। संदेश प्राप्तकर्ता के हाव-भाव से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह संदेश को किस रूप में और कितनी मात्रा में ग्रहण कर रहा है? ऐसी स्थिति में संदेश-प्रेषक अपनी बात को मनवाने के लिए श्रोता को प्रेरित और प्रोत्साहित भी कर सकता है। संदेश-प्रेषक और संदेश-ग्राहक की निकटता संचार के इस प्रकार की सबसे बड़ी विशेषता है। इसीलिए प्राचीन धर्मोपदेशक संचार के उपयोग से अपनी बात स्पष्ट करते थे और उनका यह माध्यम प्रचार-प्रसार का प्रभावशाली अस्त्र भी सिद्ध हुआ है।

भारतीय उपनिषदों में संवाद-परम्परा से दर्शन के गम्भीरता सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण की परम्परा रही है। गुरू और शिष्य का सामीप्य जिज्ञासाओं के समाधान के साथ दर्शन के गूढ़तम सूत्रों को भी सरलीकृत करता है। प्रश्नोत्तर की यह परम्परा यूनानी दर्शन में भी अपनाई गई। अन्तर्वैंयक्तिक संचार के चार सम्भावित परिणाम हो सकते हैं। पहला- श्रोता संदेश से पूर्ण सहमत हो। दूसरा- श्रोता संदेश के आंशिक रूप से सहमत हो। तीसरा- श्रोता संदेश से पूरी तरह असहमत हो। चौथा- श्रोता संदेश को समझ ना पा रहे हो।

इनकी सहमति, अधूरी सहमति, असहमति या समझ सकने की अक्षमता सन्देश प्रेषक को उनके हाव-भाव व मुख-मुद्रा स्तर के उतार-चढ़ाव से ज्ञात हो जाती है। स्रोत के श्रोता और श्रोता के स्रोत को सीधे प्रभावित कर सकने की विशेषता वाले अन्तर्वैंयक्तिक संचार के पाँच मुख्य घटक हैं- 1. स्रोत, 2. संदेश, 3. श्रोता, 4. प्रभाव, 5. प्रतिपुष्टि।

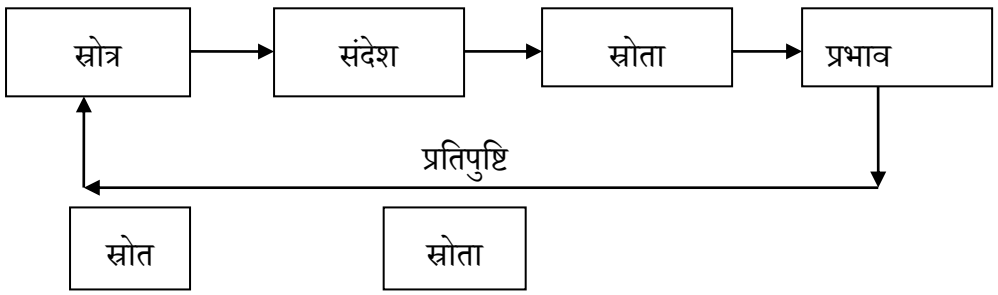

छोटे समूहों में अन्तर्वैयक्तिक संचार तभी सम्भव है, जब प्रतिपुष्टि तुरन्त हो सके। समूह के व्यक्यिों में परस्पर संचार भी इस संचार के अन्तर्गत आता है। परिचर्चाएँ, गोष्ठियाँ, छोटी दावतें और प्रीतिभोज भी इसके उदाहरण हैं, पर श्रोताओं की संख्या का सीमित (10 से अधिक नहीं) होना जरूरी है।

3. **समूह-संचार-** अन्तर्वैयक्तिक संचार का विस्तृत रूप समूह-संचार है। समूह में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं, किन्तु जब व्यक्तियों की संख्या 10 से अधिक हो तो प्रतिपुष्टि तुरन्त सम्भव नहीं होती। कुछ समय पश्चात उपलब्ध होती है। समूह 'भीड़' से भिन्न है। संचार के अर्थों में समूह-संचार उन व्यक्तियों के बीच सम्भव है, जो किसी विशेष उद्देश्य से वार्ता में संलग्न होते है। किसानों का समूह, छात्रों का समूह, खिलाड़ियों का समूह जब बात करता है तो उनकी रूचियाँ और लक्ष्य समान होते हैं। इस प्रकार समूह-संचार की प्रक्रिया स्थान, क्षेत्र, जाति और भाषा आदि के दायरों में सीमित होती है। प्राचीन काल में रामकथा, रामलीला, कथा-वाचकों द्वारा पुराणों का वाचन समूह-संचार का रूप होता था। आधुनिक काल में फिल्म, फोरम, सामूहिक वाद-विवाद, नाट्यशालायों में सामूहिक अवलोकन समूह-संचार के रूप हैं।

समूह संचार की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं-

1. समूह-संचार जनसंचार की भाँति बिखरे श्रोताओं पर आधारित नहीं होता। वह अन्तर्वैयक्तिक संचार की तरह एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को भी लक्ष्य नहीं बनाता। उसके श्रोता सीमित नहीं होते। ये स्थानीय, क्षेत्रीय, जातीय और भाषायी समूह होते हैं। अन्तर्वैयक्तिक संचार में सम्मिलित व्यक्ति अपनी भूमिका एवं गतिविधि के प्रति सतर्क श्रोता है। समूह-संचार में सामान्य उद्देश्य के प्रति सतर्कता पायी जाती है। प्रत्यक्ष संचार समूह-संचार की विशेषता है, इसीलिए वह संगठनात्मक संचार से भिन्न है।
2. समूह के मध्य-विचारों का आदान-प्रदान सम्भव होता है।
3. परस्पर विचार-विमर्श के बीच समूह में समस्याओं का निदान भी खोजा जाता है।
4. समूह-संचार की प्रक्रिया सरल होती है। इस संचार प्रक्रिया के द्वारा ही समस्याओं का निर्धारण, विश्लेषण , स्पष्टीकरण और समाधान सम्भव होता है। यह प्रक्रिया स्थान, देश, जाति, भाषा इत्यादि के दायरों में सीमित होती है।
5. समूह-संचार का उद्देश्य भी समान ही होता है।
6. सूचना प्रेषक समूह और श्रोता समूह के हित भी एकरूप होते हैं। उनके बीच 'प्रतिपुष्टि' भी उसी के अनुरूप होती है। यह प्रतिपुष्टि ना तो अन्तर्वैयक्तिक संचार की भाँति सरल एवं सीधी होती है और ना ही जनसंचार की भाँति कठिन एवं टेढ़ी।
7. समूह-संचार की प्रक्रिया सरल होते हुए भी अन्तर्वैयक्तिक संचार की भाँति अतिसरल नहीं कही जा सकती, फिर भी यह जनसंचार की प्रक्रिया की भाँति जटिल भी नहीं होती।
8. प्रतिपुष्टि के लिए समूह-संचार में कभी-कभी परोक्ष तरीका भी अपनाना पड़ता है, जैसे विचार गोष्ठियों आदि में पर्ची(slip) से सहमति जानने का तरीका। ये पार्टियाँ प्रतिपुष्टि का परोक्ष रूप हैं।
9. समूह-संचार में श्रोता और सम्प्रेषक के मध्य स्थानीय निकटता आवश्यक है। पूर्व निश्चय या पूर्व सूचना के आधार पर यह समूह एकत्र होता है।
10. समूह-संचार का हर सदस्य सम्प्रेषक से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित होता है।

समूह-संचार के प्रमुख घटक हैं- 1. स्रोत 2. संदेश 3. समूह श्रोता 4. प्रभाव

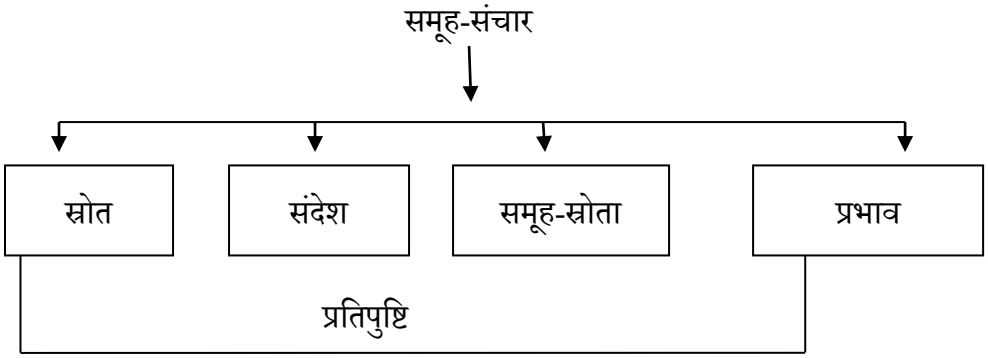

इस प्रकार समूह-संचार में श्रोता एक व्यक्ति ना होकर एकत्रित व्यक्ति समूह होता है। स्रोत द्वारा प्रेषित सूचना या संदेश इसी समूह श्रोता के लिए सूचना या संदेश प्रेषित किया जाता है, जिसका हित या उद्देश्य समान होता है और जो संदेश-प्राप्ति के लिए ही एक स्थान पर एकत्रित होता है। सभा, गोष्ठी, सम्मेलन, नाटक, वाद-विवाद, संगीत-नृत्य समूह-संचार के रूप हैं।

4. **जनसंचार-** जन का अर्थ वह वृहत जन-समुदाय है, जिसे संदेश प्रेषित किया जाता है। यह जन समुदाय समूह के रूप में कहीं एकत्र ना होकर बिखरा होता है। सन् 1939 में हर्बर्ट ब्लूमर ने 'जन' शब्द को भीड़, समूह और जनता से भिन्न मानते हुए परिभाषित किया था कि 'जन' इन सबसे भिन्न अर्थ रखता है। ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार जन (Mass) का अभिप्राय पूर्ण रूप से व्यक्तिवादिता का अन्त है। 'जनसंचार' को परिभाषित करते हुए जोसेफ डिविटो ने कहा था ''जनसंचार बहुत-से व्यक्तियों में एक मशीन के माध्यम से सूचनाओं, विचारों और दृष्टिकोणों को रूपान्तरित करने की प्रक्रिया है।''
5. **परम्परागत जनसंचार-** लोकगीतों, लोकनाट्यों और लोकनृत्यों की परम्परागत विधाएँ सदियों से जनसंचार का सशक्त माध्यम रही हैं। ये सुगम, सस्ती और जनसामान्य के अधिक निकट रही हैं। दूसरी ओर सामुदायिक भागीदारी के लिए सुलभ होने के कारण इलैक्ट्रॉनिक और प्रिन्ट मीडिया से कहीं बेहतर तरीके से ये संदेश का सम्प्रेषण कर पाती है।

संचार के पारम्परिक माध्यम आम लोगों के माध्यम होते हैं। समाज के धार्मिक और सांस्कृतिक पक्ष से सम्बद्ध पारम्परिक संचार-माध्यमों की विषय-वस्तु अति समृद्ध होती है। उनकी अभिव्यंजना पद्धति भी लोगों के लिए सहज ग्राह्य होती है, साथ ही उनमें लोगों को प्रभावित करने की क्षमता भी अधिक होती है। सहजता, सुगमता और सुलभता के चलते पारम्परिक संचार-माध्यम सामाजिक जागरूकता के सही संवाहक भी हो सकते हैं। इसकी सार्थकता आजादी के आन्दोलन के समय सिद्ध हुई जब गाँवों और सड़कों पर निकलने वाली प्रभात फेरियों, नौटंकियों और स्वागों ने आन्दोलन की लौ लगातार प्रज्वलित रखी। सामाजिक समस्याओं जैसे- बाल-विवाह, जनसंख्या विस्फोट, निरक्षता, नशा, मदिरापान, साम्प्रदायिक विद्वेष, कुपोषण, अस्वच्छता, जाति-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि के विरोध की बात जितने सशक्त स्वर में पारम्परिक संचार-माध्यम व्यक्त कर सकते हैं, वैसा अन्य माध्यम नहीं कर पाते। यूनेस्को की रिपोर्ट में भी परम्परागत संचार-माध्यमों को समकालीन मुद्दों के प्रति जागरूक बनाने में सक्षम पाया गया। पारम्परिक संचार की प्रमुख विशेषताएँ उनकी स्रोत से निकटता, स्थानीयता और विश्वसनीयता है। बोलचाल की भाषा में रोजमर्रा की जिन्दगी के माहौल में कही गयी बात के कारण संदेश निश्चित रूप से प्रभावी होता है। स्वास्थ्य विभाग, शिक्षा विभाग, समाज कल्याण विभाग ने अपनी कई योजनाओं को पारम्परिक माध्यमों से प्रसारित किया और सकारात्मक परिणाम भी उन्हें मिले। परम्परागत संचार-माध्यमों में उपभोक्तावाद का कपट नहीं होने से सहज भाषा में दिया गया संदेश इतना शक्तिशाली होता हैं कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में

महाराष्ट्र में 'तमाशा' प्रतिबन्धित किया गया था। आज के रेडियो और दूरदर्शन से जनसंचार-माध्यम पारम्परिक संचार के ही विकसित रूप है।

अभ्यास प्रश्न-

1. किसने कहा?''संचार प्रशासनिक संगठन की जान है।''
2. कौन संचार को प्रबन्धन का मूल आधार मानता है?
3. संचार के कोई दो तत्व बतलाईये।
4. मिटेल ने संचार के कितने कारक बताए हैं?

17.7 सारांश

इस इकाई के द्वारा हमने विस्तृत रूप से यह जानने का प्रयास किया कि संचार क्या है, यह कैसे किया जाता है? साथ ही हमने यह भी जाना कि किसी भी संगठन या संस्था में संचार किस प्रकार से अपना कार्य करता है। इस इकाई में हमने सचार की संचार की प्रक्रिया को भी समझने का प्रयास किया। साथ ही यह भी जाना कि संचार संगठन का एक मुख्य सिद्धान्त है। वास्तव में यह प्रशासनिक संगठन की जान है। इसका अर्थ है- साझे उद्देश्य की साझी समझ। सम्प्रेक्षक, सम्प्रेषण प्रक्रिया, रूप, संग्राहक और वांछित प्रतिक्रिया इसके मुख्य तत्व हैं। संचार के माध्यम हैं- श्रव्य, दृष्य और श्रव्य दृष्य। सम्मेलनों का तरीका बहुत उपयोगी साबित हुआ है, लेकिन इसकी कुछ सीमाएं भी हैं। संचार संदेशों से प्रबन्धकों की नीतियों, कार्यक्रमों और नियमों की झलक मिलनी चाहिए। संचार के अनौपचारिक साधनों से भी कुछ हद तक लाभकारी परिणाम होते हैं। किन्तु संचार के अनौपचारिक साधनों के संचालन के लिए बहुत कुशलता की जरूरत होती है। यदि संचार तंत्र में शामिल लोगों का रवैया अड़ियल हो, विचार एक ही लीक पर चलते हों और व्यक्तियों तथा घटनाओं के बारे में उनका दृष्टिकोण अतिवादी हो तो संचार की प्रक्रिया निष्प्रभावी हो जाती है। लोगों में आपसी विश्वास और भरोसे से संचार सम्पर्क प्रभावकारी है।

17.8 शब्दावली

सम्प्रेषण- सूचना देना, संसूचना- संदेश, प्रतिपुष्टि- संदेश प्राप्त होने के बाद आने वाली प्रतिक्रिया, जनसंचार- ऐसा संदेश जो एक जन समूह के बीच किसी माध्यम द्वारा दिया जाता है।, अन्तर्वैयक्तिक- जब व्यक्ति स्वयं से वार्ता करता है।, स्तुत्य- प्रशंसनीय।

17.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मिटेल, **2.** पिफरन, **3.** माध्यम और प्रतिक्रिया, **4.** सात

17.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. द ऑर्ट आफ एडमिनिस्ट्रेशन - ओडवे टीड, टाटा मेग्रोहिल पब्लिकेशन।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया,साहित्य भवन पब्लिकेशन, जयपुर।
3. लोक प्रशासन - डॉ0 बी0 एल0 साह, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी।
4. जनसंचार और हिन्दी पत्रकारिता- डॉ0 अर्जुन सिंह, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

17.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेशन, जयपुर।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 साह, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी।

17.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संचार के मुख्य तत्व को बताते हुए संचार के महत्व को समझाइये।
2. संचार प्रशासनिक तंत्र की रक्त धारा है, इसकी व्याख्या कीजिये।
3. संचार कितने प्रकार का होता है इसके किन्हीं दो प्रकारों का वर्णन करें।

इकाई-18 पर्यवेक्षण

इकाई की संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 पर्यवेक्षण का अर्थ एवं परिभाषा
18.3 पर्यवेक्षण का महत्व
18.4 पर्यवेक्षण के प्रकार
18.5 पर्यवेक्षण की तकनीकी
18.6 पर्यवेक्षण के कर्तव्य एवं दायित्व
    18.6.1 पर्यवेक्षक के सम्बन्ध में कर्तव्य एवं दायित्व
    18.6.2 कमर्चारियों के सम्बन्ध में कर्तव्य एवं दायित्व
    18.6.3 उच्च अधिकारियों के सम्बन्ध में कर्तव्य एवं दायित्व
    18.6.4 सहयोगियों के प्रति कर्तव्य एवं दायित्व
18.7 पर्यवेक्षक के गुण
18.8 सारांश
18.9 शब्दावली
18.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
18.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
18.12 निबन्धात्मक प्रश्न

18.0 प्रस्तावना

पर्यवेक्षण से अभिप्राय देख-रेख से है। पर्यवेक्षण 'दूसरों के कार्य को सत्ता के साथ निदेशन' है। पर्यवेक्षण से अभिप्राय निदेशन तो है ही परन्तु निदेशन मात्र उपदेश की भाँति नहीं बल्कि अधिकार के साथ, शक्ति के साथ और सत्ता के साथ। निर्देशन में जब ऊपर से बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग हो तब वह 'पर्यवेक्षण'(Suprvision) कहलाता है। किसी भी व्यवस्था में पर्यवेक्षण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। पर्यवेक्षण के माध्यम से किसी भी व्यवस्था और कार्य को व्यवस्थित और नियंत्रित किया जाता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में पर्यवेक्षण का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

18.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- पर्यवेक्षण किसे कहते हैं, पर्यवेक्षण का महत्व प्रशासनिक संरचना में क्या है, इसको जान पायेंगे।
- पर्यवेक्षण की प्रक्रिया क्या है, इसको समझ पायेंगे।
- यह भी जान पायेंगे कि पर्यवेक्षण प्रशासन की जटिल प्रक्रिया में क्या भूमिका निभाता है साथ ही इसका प्रयोग कैसे किया जाता है।
- पर्यवेक्षण की तकनीकी को भी समझ पायेंगे।

- पर्यवेक्षण के कर्तव्य व दायित्व क्या हैं, इसको भी जान पायेंगे।

18.2 पर्यवेक्षण की का अर्थ एवं परिभाषा

पर्यवेक्षण या निरीक्षण का शाब्दिक अर्थ है अवलोकन करना, जिसका अर्थ उपर से देखना से लगाया जा सकता है। सीधे शब्दों में इसका अर्थ है- दूसरों के काम का निरीक्षण करने का उच्च अधिकार।

'पर्यवेक्षण' शब्द अंग्रेजी के 'सुपरवीजन' शब्द का अनुवाद है। 'सुपरवीजन'(Suprvision) शब्द Super+Vision से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'उच्च + दृष्टि'। इसका भावार्थ है 'सत्ता सहित काम की देख-रेख।' मार्गरिट विलियमसन के अनुसार, ''पर्यवेक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत कर्मचारियों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार सीखने में, उनके ज्ञान व कौशल का सर्वोत्तम प्रयोग करने में तथा उनकी योग्यताओं का सुधार करने में किसी पदाधिकारी की सहायता मिलती है, ताकि वे अपने कार्य अधिक प्रभावशाली ढंग से करें और उन्हें स्वयं को तथा संगठन को अधिकाधिक सन्तोष मिलता रहे।''

पर्यवेक्षण मात्र निरीक्षण नहीं है। निरीक्षण (Inspection) की स्वरूप नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों प्रकार की होती है। पुराने जमाने में प्रशासन में निरीक्षण का मुख्य उद्देश्य छिद्रान्वेषण होता था। इसका कारण है कि तत्कालीन निरीक्षण एवं निरीक्षक भय की दृष्टि से देखे जाते थे। परन्तु आधुनिक निरीक्षण का प्रयोजन दूसरा ही है। अब निरीक्षण में यह देखा जाता है कि कार्य करने की सभी सुविधाएं पर्याप्त हैं या नहीं; कार्यों के सम्पादन में कोई कठिनाई तो नहीं है और कार्यों में नई विधियों या साधनों से अधिक सरल बनाया जा सकता है या नहीं। यह भी देखा जाता है कि कार्य पूरा हो रहा है या नहीं। परन्तु सुधार या सहायता की भावना सदैव पर्यवेक्षण में अन्तर्निहित रहती है। आज एक पर्यवेक्षक वरिष्ठ सहयोगी होता है, वह सुझाव देता है और सहानुभूति से काम लेता है।

पर्यवेक्षण या निरीक्षण का अर्थ है 'दूसरों के कार्यों का अधिक्षण करना।' 'दूसरे से कार्यों का सत्ता के सहयोग से निर्देशन' करना 'पर्यवेक्षण' है। पर्यवेक्षण का अर्थ परिणामों का अवलोकन है। निरीक्षण किसी भी संस्था या संगठन के प्रबन्धकीय संरचना का महत्वपूर्ण गुण होता है। प्रशासनिक संगठन में जहाँ बहुसंख्यक कार्यकर्ता अनेक श्रेणियों तथा वर्गों में विभक्त होते हैं, वहाँ निरीक्षण की अत्यन्त आवश्यकता होती है। पर्यवेक्षक संगठन में समन्वय की स्थापना के लिए अधीक्षण, सम्प्रेषण, नियन्त्रण व नेतृत्व आदि को अपनाया है। प्रशासनिक संगठन पदसोपान में उच्च अधिकारी निम्न अधिकारी व अधीनस्थों पर पर्यवेक्षण के माध्यम से नियन्त्रण रखता है। जब प्रशासनिक संगठनों में निर्णय निम्न अधिकारियों तक संचारित कर दिये जाये तो पद सोपान में उच्चाधिकारी को अगला कार्य पद सोपान में यह देखना होता है कि निर्गत किये गये निर्णयों को प्रभावी रूप से क्रिर्यान्वित किया जाये। उनका यह दायित्व है कि उनके इस निर्णय के उपरान्त संगठन सुचारू रूप से कार्य करता रहे तथा निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास निरन्तर किये जाते रहें। प्रशासनिक संगठन की इसी आवश्यकता को ही प्रर्यवेक्षण कहा जाता है।

इस प्रकार किसी संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले सामूहिक प्रयास का पर्यवेक्षण करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे शब्दों में पर्यवेक्षण से अभिप्राय होता है, कार्यरत कर्मचारियों पर निगरानी रखना। यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के कार्य का निर्देशन और निरीक्षण करता है। इसका मुख्य प्रयोजन यह सुनिश्चित करना है कि कर्मचारियों को जो कार्य सौंपे जाते हैं, वे उन्हें भली-भाँति और कुशलता पूर्वक करते हैं।

कार्यालय प्रभावी या उसके ऊपर के अधिकारियों से मिले सामान्य आदेशों और निर्देशों को कार्यालय के पर्यवेक्षण स्तर पर कार्यान्वित किया जाता है। रिपोर्टों का तैयार होना, उनको टाइप किया जाना, पत्रों का फाइल होना, बैठकों की व्यवस्था, आगंतुकों का सत्कार, विभिन्न विवरणियों को तैयार किया जाना तथा इसी स्वरूप के अन्य कार्यों

को किया जाना और इन कार्यों के होने वाले परिणाम बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करते हैं कि कार्यालय पर्यवेक्षण किस प्रकार का है।

पर्यवेक्षण के दोषपूर्ण या उसमें कमी होने से नीतियों और कार्यक्रमों के सूचारू रूप से कार्यान्वयन में अनेक बाधाएं और आ सकती हैं, यदि पर्यवेक्षण ना किया जाए तो प्रत्येक कर्मचारी कार्यालय के उद्देश्यों को ध्यान में रखे बिना ही अपनी सुविधा के अनुसार मनमनाने ढंग से काम करेगा। कार्यालय के कार्यों में बढती जटिलता के कारण अब पर्यवेक्षण के महत्व को अधिक स्वीकारा जाने लगा है। केवल किताबी ज्ञान प्राप्त व्यक्ति यदि कार्यालय में काम करने आता है तो व, वहाँ हो रहे काम को देखकर ही उन्हें नहीं सीख सकता। इसके लिए तो आवश्यक होता है कि उसे सतत् मार्गदर्शन और निर्देशन प्राप्त होता रहे तथा कार्य को सीखने और कुशलता पूर्वक उसे करने की उसे प्रेरणा मिले। कार्यालय पर्यवेक्षण के फलस्वरुप नए तथा पुराने सभी प्रकार के कर्मचारी कार्य को अच्छी तरह से कर पाते हैं।

पिफनर के अनुसार, एक लिहाज से निरीक्षण सोपानक्रम को अपने उच्च स्तर तक पहुँचा देता है। यह विभागीय, प्रभागीय अध्यक्षों का भी निरीक्षण करता है। अनुभाग के प्रधान, कार्यालय के आम कर्मचारियों का निरीक्षण करते हैं। इसलिये हर संगठन में निरीक्षण की व्यवस्था हर स्तर पर होती है और चोटी से निचले स्तर तक यह सम्बन्ध संगठन को सुसंगठित करता है। यह वरिष्ठों द्वारा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की गतिविधियों के निरीक्षण और उनकों दिशा-निर्देश देने का कार्य है।

टेरी और फ्रेंकलिन के शब्दों में, पर्यवेक्षण या निरीक्षण का अर्थ बताये गये कार्य को पूरा करने के लिये कर्मचारियों तथा अन्य साधनों के प्रयासों को दिशा और निर्देश देना होता है। निरीक्षण की मानवीय स्वरूप पर जोर देत हुए एम0 विलियमसन ने निरीक्षण को ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है कि जिसमें कार्यालय का एक निर्धारित सदस्य कर्मचारी को उसकी जरूरतों के मुताबिक सीखने, उसके ज्ञान व कौशल का अच्छे सा अच्छा उपयोग करने और उसकी योग्यता को बढ़ाने में मदद करता है।

हेल्से के अनुसार, हर काम के लिये सही व्यक्ति का चयन, प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के प्रति रूचि पैदा करना और यह सीखाना कि वह कैसे कर सकता है? सीखाना पूरी तरह से कारगर हुआ कि नहीं इस बारे आश्वस्त होने के लिये उसके कामकाज और उसके स्तर को मापना। यदि आवश्यक हो तो प्रशासन की गड़बड़ियों को ठीक करना और उपयुक्त काम को ठीक करना, काम को स्थानान्तरित करना, अक्षम व्यक्ति को काम से हटाना, प्रशंसा करना, लाभ देना आदि सब निरीक्षण के अन्तर्गत ही आते हैं।

जोजेफ टिफिन तथा अर्नेस्ट जेमेक कॉर्मेक के शब्दों में ''स्वस्थ्य मानवीय सम्बन्धों के विकास में 'पर्यवेक्षक' को सामान्यतः आधारशिला के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। अपने अधीनस्तों में वह प्रबन्ध व प्रशासन का प्रतिनिधित्व करता है। उसका व्यक्तित्व व व्यवहार सभी कर्मचारियों पर प्रभाव डालता है।'' इस कथन से पर्यवेक्षण को महत्व स्पष्ट प्रकट होता है। प्रत्येक प्रशासनिक संस्थान में नियोक्ता-कर्मचारी के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना हेतु, संगठन के लक्ष्यों को मितव्ययितापूर्वक प्राप्त करने के लिए तथा समस्त उपलब्ध प्रसाधनों का अधिकतम सद्-उपयोग करने के लिए पर्यवेक्षण एक अनिवार्यता है।

18.3 पर्यवेक्षण का महत्व

पर्यवेक्षण के महत्व के विषय में जो कुछ भी कहा जाए, कम ही होगा। यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि जब प्रत्येक कर्मचारी अपने कर्तव्य का निष्पादन निष्ठा के साथ करता है, तो पर्यवेक्षण की क्या आवश्यकता है? वास्तव में पर्यवेक्षण एक प्रकार के नियन्त्रण का कार्य करता है। वे दिन चले गए जब पर्यवेक्षण को 'चालक' या 'जंगली सांड' कहा जाता था। प्राचीनकाल में उच्च प्रबन्ध द्वारा उसकी अपेक्षा की जाती थी, परन्तु आज पर्यवेक्षक प्रत्येक

प्रशासनिक संस्थान में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वह प्रबन्ध पदाधिकारियों की अन्तिम कड़ी का काम करता है तथा कार्मिकों से उसी का निकटतम सम्पर्क होता है। पर्यवेक्षक कार्मिकों का मित्र, दार्शनिक व मार्ग-दर्शक सब कुछ होता है। इस प्रकार कर्मचारियों को अभिप्रेरित करना उसका मुख्य कार्य होता है। वह कार्मिकों को आदेश देता तथा उसके काम की देखभाल करता है। यही नहीं, वह उनकी समस्याओं को सुलझाने का भी प्रयास करता है। विभागाध्यक्ष तथा अन्य अधिकारियों से प्राप्त आदेशों को कार्मिकों तक पहुँचाने का कार्य पर्यवेक्षक के माध्यम से ही किया जाता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि पर्यवेक्षक की कार्यकुशलता व योग्यता का संस्था की उत्पादकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि पर्यवेक्षक कार्यक्षम व कर्मठ व्यक्ति है तो वह अपने कर्मचारियों को भी सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहने के लिए जागरूक रख सकता है। इसके विपरीत, अकुशल तथा उदासीन पर्यवेक्षकों से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे अपने अधीनस्थ श्रमिकों से अच्छा व अधिक काम ले सकेंगे।

18.4 पर्यवेक्षण के प्रकार

पर्यवेक्षण दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार के पर्यवेक्षण का ध्येय होता है कि संगठन के आधारभूत उद्देश्यों की प्राप्ति हो रही है या नहीं, इसकी देख-रेख करने का होता है। दूसरे प्रकार के पर्यवेक्षण का उद्देश्य इतना व्यापक नहीं होता। यह पर्यवेक्षण एक कार्यविधि या प्रक्रिया की देख-रेख को ही अपना ध्येय मानता है। उदाहरणार्थ- एक कपड़े की मिल में मुख्य कार्यकारी जो पर्यवेक्षण करता है वह व्यापक होता है। मिल के सभी विभागों की देख-रेख उसका उद्देश्य होता है। परन्तु क्रय प्रबन्धक या रंगाई विभाग का प्रबन्धक उस विभाग की प्रक्रिया पर ही गौर रखता है, जिससे वह सम्बन्धित है।

18.5 पर्यवेक्षण की तकनीकी

पर्यवेक्षण की तकनीकों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

1. **परामर्शात्मक तकनीक-** पर्यवेक्षण के अधीगण की वह तकनीक जनतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका आशय यह है कि सभी महत्वपूर्ण बातों पर कार्मिकों का परामर्श लेना चाहिए। उन्हें स्वयं भी परामर्श देने के लिए प्रोत्साहन करना चाहिए। ऐसा करने से श्रमिकों में मौलिक शक्तियां जाग्रत होती हैं तथा वे अधिक उत्साह और साहस के साथ-साथ काम करते हैं, किन्तु इसका आशय यह नहीं कि कार्मिकों द्वारा दिए जाने वाले सुझाव यथावत स्वीकार कर लिए जाऐंगे। इसका मूलभूत उद्देश्य तो इन्हें सुझाव देने के लिए प्रेरित करना है और यदि कोई सुझाव वास्तव में उपयोगी हैं, तो उसे अवश्य कार्यान्वित करना चाहिए तथा उसकी सफलता का श्रेय भी उसी को देना चाहिए, जिससे वह अपने महत्व को समझें तथा यह अनुभव करें कि अधीक्षक उनके विकास, साख-वृद्धि व प्रगति में सहायक है, बाधक नहीं।
2. **निरंकुशता की तकनीक-** वर्तमान जनतन्त्रात्मक युग में 'निरंकुशता'(autocracy) को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु कभी-कभी परिस्थितियां ऐसी हो जाती हैं कि बिना निरंकुश शासन के नियन्त्रण में नहीं आ सकती। इसी प्रकार जब श्रमिक अविश्वसनीय तथा अनुशासनहीन होते हैं, तो पर्यवेक्षक को निरंकुशता की तकनीक का उपयोग करना चाहिए। ऐसी दशा में श्रमिकों की समस्त क्रियाओं पर अधीक्षक का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इस तकनीक के अन्तर्गत समस्त अधिकार अधीक्षक के पास केन्द्रित रहते हैं तथा उसके आदेशों व अनुज्ञाओं का कठोरता के साथ पालन किया जाता है।
3. **खुली छूट की तकनीक-** जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, इस तकनीक के अन्तर्गत पर्यवेक्षक अपने अधीनस्त कार्मिक को खुली छूट दे देता है। यह ऐसी दशा में सम्भव है जबकि कार्मिक ईमानदार,

कर्तव्यपरायण तथा अनुशासित हो। खुली छूट देने से उसमें उत्तर दायित्व की भावना पैदा होती हैं एवं उसमें छुपी हुई प्रतिभाओं का भी विकास होता है। ऐसी दशा में अधीक्षकों का कार्य केवल सूचनाओं का समन्वय करना तथा कार्मिकों को निर्देश देना रहता है। नीतियों, विधियों एवं कार्यक्रमों की सीमाएं स्पष्ट करने के बाद वे कर्मचारियों को कार्य के सम्पादन के लिए खुली छूट देकर केवल सामान्य मार्गदर्शन का ही कार्य करते हैं।

4. **मिलेट ने पर्यवेक्षण की छः तकनीकों की चर्चा की है, जो इस प्रकार है-**

- **योजनाओं का पूर्व में अनुमोदन करना-** जिसका पर्यवेक्षण का दायित्व होता है, वह पूर्वानुमोदन के अधिकार को अपने हाथ में सुरक्षित रख लेता है। अपने अधीन होने वाले विभिन्न कार्यों की परियोजनाओं को स्वयं ही अनुमोदित करता है। पूर्वानुमान का प्रभाव यह होता है कि जो भी कार्य होता है, उसकी जानकारी में और उसके निर्देशानुसार होता है। भारत में वित्त मन्त्रालय विभिन्न विभागों और मन्त्रालयों से उनकी परियोजनाओं को अपने पास मंगवाता है। जब इन परियोजनाओं का अनुमोदन वित्त मन्त्रालय कर देता है तब ही यह परियोजनाएं प्रारम्भ की जा सकती हैं।
- **सेवा का एक निश्चित स्तर तय करना-** पर्यवेक्षण का एक उद्देश्य यह होता है कि संगठन में लगे हुए कर्मचारी जो कार्य करें वह एक निश्चित स्तर का हो। पर्यवेक्षक इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पहले से ही एक स्तर निर्धारित करके उसकी प्राप्ति को अनिवार्य घोषित कर सकता है कि प्रत्येक दिन टाइपिस्ट को 40 पृष्ठ टाइप करने होंगे।
- आय**-व्यय पर नियन्त्रण-** यदि एक प्रबन्धक चाहता है कि कार्य उसकी इच्छा के ही अनुकूल हो तो उसका सबसे अच्छा तरीका यह है कि वह आय-व्यय पर नियन्त्रण रखे। यदि विभाग आय करने वाला है तो अधिकारी यह निर्धारित कर सकता है कि एक माह में न्यूनतम आय इतनी होनी चाहिए। जिन विभागों को जनता की सेवा करनी है और मुख्य रूप से धन व्यय करना है उनमें पर्यवेक्षक यह निर्धारित कर सकता है कि कम से कम इतना धन उपयोग में आना चाहिए।
- **अधीनस्थ कर्मचारियों में से मुख्यों की नियुक्ति-** जिसका पर्यवेक्षण का उत्तर दायित्व है उसको यह अधिकार होना चाहिए कि उसके अधीन जो कार्मिक नियुक्त हों, उसकी अनुमति से नियुक्त हों।
- **कार्य की प्रगति के सम्बन्ध में प्रतिवेदन मांगना-** पर्यवेक्षक को संगठन में कार्य के प्रगति के सम्बन्ध में प्रतिवेदन मांगते रहना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों से नियमित रूप से कार्य की प्रगति का प्रतिवेदन स्पष्ट रूप से यह बता सकेगा कि उद्देश्य की प्राप्ति किस सीमा तक हो रही है और संगठन किस हद तक निर्धारित मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। प्रतिवेदन भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं।
- **निरीक्षण करना-** निरीक्षण से तात्पर्य यह देखना है कि काम किस प्रकार हो रहा है। निरीक्षण का उद्देश्य सूचना प्राप्त करना है। यह प्रबन्ध के प्रयोजनों तथा अभिप्रायों को स्पष्ट करने में सहायता देता है। एक संगठन में अनेक वर्ग और श्रेणी के कर्मचारी होते हैं। साथ ही, यह भी अपरिहार्य है कि सम्पूर्ण संगठन एकता के सूत्र में बंधा रहे और सभी के बीच एकता हो। इन दोनों ही दृष्टियों से

यह उचित प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति या वर्ग के ऊपर एक ही शक्ति का पर्यवेक्षण हो। परन्तु ऐसी व्यवस्था की एक कठिनाई है। एक ही पर्यवेक्षक संगठन के सभी अंगों को नहीं समझ सकता। अतः एक का ही पर्यवेक्षण पर्याप्त नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि एक अधिकारी की अधीनता में बहुत से लोग कार्य करते हैं। उनके कार्य अलग-अलग होते हैं। इससे भी एक अधिकारी का पर्यवेक्षण पर्याप्त नहीं हो सकता।

18.6 पर्यवेक्षक के कर्तव्य एवं दायित्व

पर्यवेक्षकों के कर्तव्य एवं दायित्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता हैः

18.6.1 कार्य के सम्बन्ध में कर्तव्य

1. अपने विभाग से सम्बन्धित कार्य की सम्पूर्ण योजना तैयार करना।
2. कार्य तथा उसकी आवश्यकताओं को स्वयं भली प्रकार समझना।
3. यह देखना कि कार्य से सम्बन्धित समस्त आवश्यक सामग्री, उपकरण, आदि उपयुक्त दशा में, पर्याप्त मात्रा में तथा सही स्थान पर उपलब्ध हैं।
4. कर्मचारियों की शारीरिक व मानसिक योग्यता के अनुसार उन्हें कार्य का आवंटन करना।
5. उच्च-प्रबन्ध पदाधिकारियों के निर्देशों को भली प्रकार समझना तथा उनका अक्षर: पालन करवाना।
6. विभाग के विभिन्न कार्यों में आवश्यक तालमेल बनाए रखना।
7. समय-समय पर श्रमिकों के कार्य का अवलोकन करना व निरीक्षण करना एवं आवश्यक सुझाव देना।
8. भावी नियोजन को भी ध्यान में रखना।
9. योजनाओं के सफल क्रियान्वयन हेतु उनका मूल्यांकन करना।
10. कार्य की किस्म, मात्रा निष्पादन तथा समयानुकूलता की जांच करना।
11. नवीन सुझाव व विचारों का स्वागत करना तथा आवश्यकतानुसार उनको क्रियान्वित करना।
12. शोध व अनुसन्धान को प्रोत्साहित करना।
13. कार्यकुशलता की वृद्धि हेतु मानव-शक्ति का सुचारू संगठन बनाना।
14. सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करना।

18.6.2 कर्मचारियों के प्रति कर्तव्य

1. कर्मचारियों में समूह के प्रति निष्ठा व अपनत्व की भावना पैदा करना।
2. अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की आवश्यकताओं तथा उनकी रूचियों का ध्यान रखना।
3. अधीनस्थों के विचारों, सुझावों एवं शिकायतों को ध्यानपर्वक सुनना तथा शंका समाधान करना।
4. कर्मचारियों की वैयक्तिक विभिन्नताओं का अध्ययन करना तथा उनके व्यक्तित्व का आदर करते हुए मानवोचित व्यवहार करना।
5. कर्मचारियों के कर्तव्यों एवं दायित्वों की समय-समय पर समीक्षा करना एवं उनके विकास हेतु आवश्यक सुझाव देना।
6. अधीनस्थों के कार्यों की प्रशंसा करना तथा उनके मनोबल को ऊँचा बनाए रखना।
7. अधीनस्थों की व्यक्तिगत समस्याओं को भी हल करने का प्रयास करना।
8. अपने अधीनस्थों का विश्वास प्राप्त करना तथा उनमें हीन-भावना का विकास ना होने देना।

9. समय की पाबंदी तथा अनुशासन पर बल देना।
10. कर्मचारियों से सम्बन्धित संस्था की नीतियों की व्याख्या करना।
11. कर्मचारियों को ऐसी समस्त सूचनाएं प्रदान करना, जिससे उनके कार्य के प्रति रूचि व निष्ठा का विकास हो सके।
12. कर्मचारियों के कार्य को सुधारने के लिए सुझाव देना तथा सुझाव आमन्त्रित भी करना।
13. कर्मचारियों के साथ निष्पक्ष व्यवहार करना तथा उनसे ऐसे समस्त मामलों में परामर्श करना जो कि उनके निष्पादन, कार्य, मनोबल एवं भविष्य को प्रभावित करते हों।

18.6.3 उच्च अधिकरियों के प्रति कर्तव्य

1. उच्च प्रबन्ध अधिकारियों से निर्देश प्राप्त करना।
2. अपने अधिकारी या बॉस को कार्य की प्रगति का सम्पूर्ण विवरण देना।
3. उन मामलों के प्रति प्रबन्ध अधिकारियों का ध्यान तत्काल आकर्षित करना, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हों।
4. अपने विभाग का सम्पूर्ण उत्तर दायित्व स्वीकार करना।
5. अपने अधिकारियों के स्वभाव तथा उनकी आदतों का अवलोकन करना एवं यह जानने का प्रयास करना कि वे क्या चाहते हैं?
6. अधीनस्थों की कार्य-प्रगति के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।
7. कर्मचारियों से सम्बन्धित प्रकरणों, जैसे- वेतन वृद्धि, महंगाई-भत्ता, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि को उनके समक्ष प्रस्तुत करना तथा कर्मचारियों के पक्ष को अच्छी तरह समझाने का प्रयास करना।

18.6.4 सहयोगियों के प्रति कर्तव्य

1. अन्य विभागों के कार्यों के साथ समन्वय बनाए रखना।
2. सहयोगी पर्यवेक्षकों के सुझावों तथा आलोचनाओं का स्वागत एवं उनको स्वीकार करके उन पर विचार करना।
3. सहयोगियों की समस्याओं का अध्ययन करना तथा उन्हें हल करने का प्रयास करना।
4. सहयोगी पर्यवेक्षकों को उनसे सम्बन्धित कार्यों के विषय में समय पर सूचना प्रदान करना।
5. सहयोगी पर्यवेक्षकों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली विधियों, तकनीकों का अवलोकन करना।
6. आवश्यकता के अनुसार कर्मचारियों की अदला-बदली को स्वीकार करना।
7. सहयोग एवं सहकारिता की भावना को बढ़ावा देना।

18.7 पर्यवेक्षक के गुण

जे0 ए0 पिफनर ने उत्तम पर्यवेक्षक के आठ गुण बताये हैं- कार्य के स्वरूप का पूरा ज्ञान; व्यक्तिगत योग्यताएं; अध्यापन क्षमता; सामान्य अपेक्षा; आचार और नैतिक विचार; साहस और धैर्य; प्रशासनिक कौशल; तथा और जिज्ञासा तथा बौद्धिक क्षमता।

कार्य के स्वरूप का तात्पर्य यह है कि जिस कार्य का पर्यवेक्षण किया जाये, पर्यवेक्षक उसकी विधि को अच्छी जानता हो। परन्तु कौशल मात्र ही पर्याप्त नहीं है। जब अन्य व्यक्तिगत गुण होते हैं तभी कौशल आता है और यह गुण है सहकारिता की भावना, गम्भीर और शान्त स्वभाव तथा सत्यशीलता। आचार और नैतिक विचारों के होने से पर्यवेक्षक साधारण दोषों से दूर रहता है। नशा, जुआ, झगड़ा, कर्ज, लोलुपता, आदि साधारण दोष हैं, जिनसे

अधिकारी जनता की दृष्टि में गिर जाता है। जिज्ञासा तथा बौद्धिक क्षमता से पर्यवेक्षक सचेष्ट रहता है, नये विचारों को ग्रहण करता है और इस प्रकार प्रगतिशील बना रहता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. पर्यवेक्षण का शब्दिक अर्थ है, अवलोकन करना। सत्य/असत्य
2. पर्यवेक्षण हमेशा सकारात्मक ही होता है। सत्य/असत्य
3. पर्यवेक्षण दो प्रकार का होता है। सत्य/असत्य
4. मिटेल ने पर्यवेक्षण के 6 तकनीकों की चर्चा की है। सत्य/असत्य
5. जे0 एस0 पिफनर ने पर्यवेक्षण के 8 गुण बताए हैं। सत्य/असत्य

18.8 सारांश

इस इकाई में हमने पर्यवेक्षण या निरीक्षण का विस्तृत अध्ययन किया। इस इकाई के द्वारा हम यह जान पाये कि निरीक्षण क्या होता है और इसकी क्या तकनीकी होती है? सारांशतः हम कह सकते हैं कि निरीक्षण किसी भी विभाग, संस्था व संगठन का महत्वपूर्ण अंग है। यह किसी भी संगठन के प्रबन्धकीय प्रक्रिया में सहायक होता है। प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर निरीक्षण की व्यवस्था के बिना कोई संगठन चाहे वो सरकारी हो या गैर-सरकारी काम नहीं कर सकता है। निरीक्षण में निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अधीनस्थ कर्मियों को दिशा-निर्देश देने की व्यवस्था होती है। अततः निरीक्षण लिये एक अच्छे निरीक्षक की आवश्यकता होती है। इसलिये उसे प्रशिक्षित होना चाहिये और अपने काम का कुशल ज्ञाता होना चाहिए।

18.9 शब्दावली

मूल्यांकन- परीक्षण करना या जाँचना, कार्मिक- विभाग या संस्थान में कार्य करने वाला व्यक्ति, पदसोपान- विभागीय ढ़ाँचा जिसमें उच्च अधिकारी से लेकर निम्न कर्मचारी एक व्यवस्था के अन्तर्गत बधे होते हैं, अपेक्षा- किसी व्यक्ति या विभाग से की जाने वाली आशा, जिज्ञासा- किसी वस्तु, विषय या व्यक्ति को जानने की इच्छा

18.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** असत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

18.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक प्रशासन- अवस्थी एवं माहेश्वरी।
2. द ऑर्ट आफ एडमिनिस्ट्रेशन- ओडवे टीड।
3. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।
4. जनसंचार और हिन्दी पत्रकारिता- डॉ0 अर्जुन सिंह, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

18.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन- अवस्थी एवं माहेश्वरी।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया।

18.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. निरीक्षण अथवा पर्यवेक्षण के कितने प्रकार होते हैं? पर्यवेक्षक की तकनीक बताएं।
2. पर्यवेक्षण पर एक निबन्ध लिखते हुए समझाये कि यह किसी संगठन के लिये किस प्रकार महत्वपूर्ण है?
3. पर्यवेक्षणों के कर्तव्य, उत्तर दायित्व व गुण क्या हैं? जानकारी दें।